स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी-कविता में लोक-जीवन

(इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी० फिल्० उपाधि के लिये प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध)

निर्देशक

डॉ० लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय

(प्रोफेसर एवं अध्यक्ष)

हिन्दी-विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय

प्रस्तुतकर्ता

अशोक कुमार शर्मा

हिन्दी विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

१९७६

आमुख

अपनी रुचि के विषय पर शोध कार्य करना एक सुखद अनुभव होता है । प्रस्तुत शोध प्रबन्ध की शोध - प्रक्रिया से गुजरते हुए मुझे सदैव एक आत्म संतोष की अनुभूति होती रही है, क्योंकि कविता लिखने और पढ़ने में मेरी रुचि छात्र-जीवन से ही रही है । तब कविता या तो मनोरंजन के लिए पढ़ता था या यों ही कुछ गुनगुनाने के लिए, कभी - कभी कोई कविता मुझे बहुत झकझोर देती थी और मुझे लगता था कि यह तो मेरे ही जीवन के सत्य की अभिव्यक्ति है । किन्तु गहराई में जाकर कविता के मर्म को पकड़ने की तब न तो समझ थी और न कभी उसके लिए प्रयत्नशील ही रहा । एम० ए० करने के उपरान्त जब शोध का विषय चुनने का प्रश्न उठा तो अनेक सुझाव और निर्देश मुझे मेरे हितैषियों से मिले, पर बात कुछ बनी नहीं । आदरणीय गुरुवर डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने शोध निर्देशक बनने की स्वीकृति देते हुए जब मेरी रुचि के संबंध में जानना चाहा तब मैंने हिन्दी कविता पर शोध करने की इच्छा व्यक्त की । उनके सत्परामर्श से शोध का विषय बना -- " स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कविता में लोक - जीवन " । शीघ्र ही इस विषय की रूपरेखा बनी और यह विषय शोध के लिए पंजीकृत हो गया ।

<u>प्रस्तुत विषय पर अनुसंधान की आवश्यकता</u> --

वर्तमान हिन्दी कविता का अध्ययन विभिन्न दृष्टियों से किया गया है, और किया जा रहा है । जब यह विषय पंजीकृत हुआ था, उस समय तक प्राचीन हिन्दी कविता पर तो इस दृष्टि से अनेक कार्य हो चुके थे । किन्तु लोक - जीवन की दृष्टि से स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कविता का अध्ययन करने

वाला कोई भी शोध कार्य देखने में नहीं था । अतः स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कविता में लोक - जीवन के अध्ययन की आवश्यकता निरन्तर बनी हुई थी ।

किसी भी युग का श्रेष्ठ साहित्य समकालीन लोक - जीवन से अनिवार्यतः सम्बद्ध होता है । इस लोक - जीवन की यथार्थ साहित्यिक अभिव्यक्ति के लिए, सहजगम्य और जन सुलभ होने के कारण कविता विधा श्रेष्ठ मानी जाती रही है । कविता के धरातल पर लोक-जीवन की सृष्टि कवि की प्रतिभा और सामर्थ्य की द्योतक है । स्वतन्त्रता के बाद का साहित्य लोक - जीवन में व्याप्त संक्रान्ति के क्षणों में लिखा गया है । फलतः व्यक्ति चेतना और लोक - चेतना का विघटन और नवनिर्माण स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कविता की वस्तु चेतना के महत्वपूर्ण अंग बने हुए हैं । अतः इस प्रकार का अध्ययन न केवल मौलिक है अपितु सामयिक युगबोध की कसौटी पर कविता की जीवन - संपृक्ति को परखने की दृष्टि से आवश्यक और समीचीन भी है ।

<u>इस दिशा में हुए अन्य कार्य</u> —

स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कविता का अध्ययन करने की दृष्टि से जो समीक्षाग्रन्थ प्रकाशित होते रहे हैं, उनमें से कुछ में परोक्ष रूप से लोक - जीवन की अति संक्षिप्त और सतही चर्चा मिल जाती है । श्री नामवर सिंह की " इतिहास और आलोचना " नामक पुस्तक के कुछ निबन्धों में पहली बार इस दिशा में अध्ययन की आवश्यकता अनुभव की गई है । उनके " आधुनिक छन्दों का विकास ", " छन्द के कुछ नये प्रयोग " तथा " नयी कविता में लोक भाषा का प्रभाव " —— तीनों ही निबन्ध काव्य के कला पक्ष से सम्बन्धित हैं तथा स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कविता में लोक - जीवन से उनका कोई सीधा संबंध नहीं है । " पाँचवे दशक की कविता " शीर्षक से जो निबन्ध इस संग्रह में है, वह अवश्य स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कविता की लोक - जीवन से संपृक्ति का सीधा और स्पष्ट इंगित करता है ।

वस्तुत: निबन्ध की अपनी कुछ सीमाएँ होती हैं। उसके लघु कलेवर में जितना उन्होंने लिखा है उससे अधिक की अपेक्षा भी नहीं की जा सकती। निबन्ध का एक विशिष्ट भाग " व्यक्तित्व के सामाजीकरण की आवश्यकता " को बताने में ही व्यय हो गया है। लगभग मार्क्सवादी भाषा में लिखे गए इस निबन्ध के शेष भाग में विभिन्न कवियों के नाम गिनाकर, उनके काव्य में लोक-जीवन की अभिव्यक्ति के स्तर का संकेत करते हुए श्रेष्ठ और सच्ची कविता का आधार लोक-जीवन को बताया गया है। इस निबन्ध का फलक भी बहुत छोटा है। केवल पाँचवें दशक की कविता के अध्ययन से स्वातन्त्र्योत्तर कविता की संभावनाओं का तो अनुमान किया जा सकता है किन्तु उसके सम्बन्ध में कोई आधिकारिक कथन नहीं किया जा सकता।

इस दिशा में कुछ बड़े फलक को लेकर डा० रामगोपाल सिंह चौहान द्वारा " स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी-काव्य " लिखा गया है। इस पुस्तक में सन् १९४७ से सन् १९६२ तक की कविताओं का विवेचन किया गया है। श्री नामवर सिंह के " पाँचवें दशक की कविता " से निश्चय ही इस पुस्तक की विवेच्य भूमि की सीमा विस्तृत है किन्तु पुस्तक के आकार को देखते हुए मूल विषय का विवेचन केवल आधा है। उसमें भी वर्तमान हिन्दी काव्य का विषय-वस्तुगत विवेचन बहुत संक्षिप्त है। विषय वस्तुगत विवेचन में भी केवल तीन शीर्षकों — " दैनिक जीवन के सहज चित्र ", " प्रकृति-चित्रण ", तथा " प्रेम और सौन्दर्य " के अन्तर्गत लोक-जीवन का स्पष्ट संकेत हुआ है। और केवल इन्हीं के आधार पर इस कविता की " मानव-जीवन से अधिक निकटता " तथा " जन-मानस में नये जीवन-सत्यों के प्रति अधिक बौद्धिक जागरूकता " को स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कविता की " पहली उपलब्धि " मान लिया गया है।

डा० रामदरश मिश्र का " हिन्दी कविता : तीन दशक " भी ऐसा ही ग्रन्थ है जिसमें " लोक-संपृक्ति " को वर्तमान हिन्दी कविता

को एक विशेषता माना गया है। उनकी इस बात से भी सहमत हुआ जा सकता है कि " नयी कविता ने लोक - जीवन की अनुभूति, सौन्दर्य बोध, प्रकृति और उसके प्रसंगों को एक सहज और उदार मानवीय भूमि पर ग्रहण किया है। " किन्तु इस विषय का कोई विस्तृत विवेचन इसमें नहीं हुआ है। वस्तुत: मिश्र जी का यह उद्देश्य भी नहीं था। तीन दशकों की नयी कविता के समग्र रूप का विश्लेषण ही इस ग्रन्थ का प्रतिपाद्य कहा जा सकता है। डा० कान्ति कुमार ने भी अपनी " नयी कविता " नामक पुस्तक में " लोकोन्मुखता " को नई कविता की एक प्रवृत्ति माना है। इसके विशेष विवेचन का इस पुस्तक में भी पूर्णत: अभाव है। इस प्रकार स्पष्ट है कि प्रस्तुत शोध प्रबन्ध का विषय मौलिक है तथा इस दिशा में अब तक किया गया कार्य अपर्याप्त और अपूर्ण है।

<u>प्रस्तुत शोध प्रबन्ध —</u>

प्रस्तुत प्रबन्ध " स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी - कविता में लोक - जीवन " का वस्तुवादी अध्ययन है। इसमें सन् १९४७ से सन् १९७३ तक की कालावधि में प्रकाशित कविताओं का विवेचन हुआ है। इस अवधि में प्रकाशित कविताओं की संख्या कम नहीं है। अत: कविताओं की भीड़ में से कुछ विशिष्ट कृतियों का चयन करके अध्ययन को उन्हीं तक सीमित किया गया है। इस चयन में इस बात का ध्यान रखा गया है कि लोक - जीवन को रेखांकित करने वाली कोई कृति छूट न जाय। जिन कवियों की परिवर्ती कविता - पुस्तकें एकाधिक हैं, प्राय: उनकी किसी एक, और अधिक से अधिक तीन पुस्तकों को लिया गया है। प्रबन्ध काव्यों को इस शोध प्रबन्ध में विवेचन का आधार नहीं बनाया गया। यत्र - तत्र उनकी मात्र चर्चा कर दी गई है। अन्यथा शोध - प्रबन्ध का कलेवर और फलक अपरिमित हो जाता। हाँ,

गीत को कविता से पृथक् न मानते हुए गीतों को विषय के अध्ययन का आधार अवश्य बनाया गया है। इस प्रकार केवल फुटकर कविताएं ही इस शोध की उपजीव्य रही है।

प्रस्तुत शोध - प्रबन्ध में अध्ययन की सुविधा के लिए लोक - जीवन को आन्तरिक और बाह्य दो भागों में विभक्त कर लिया गया है। और फिर विभिन्न शीर्षकों के अन्तर्गत उनका अध्ययन किया गया है। वस्तुतः लोक - जीवन अपने आप में इतना तरल विषय है कि केवल कुछ शीर्षकों के अन्तर्गत सम्यक् रूप से उसका आकलन नहीं किया जा सकता। साथ ही वर्तमान युग में लोक - जीवन में अनेक विसंगतियों ने भी प्रवेश पा लिया है। अतः लोक-जीवन में बहुत कुछ परम्पराहीनता आ गई है। स्थानीय विशेषताओं के कारण भी इसका क्षेत्र बहुत व्यापक हो जाता है। एक ही क्रिया लोक में दो भिन्न स्थानों पर दो भिन्न रूपों में संपादित होती है। फिर भी स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी - कविता में से लोक - जीवन के सही स्वरूप को पकड़ने का मेरा प्रयास रहा है। लोक - जीवन में आई विसंगतियों का चित्रण करने के लिए एक अलग अध्याय भी इसी उद्देश्य से प्रस्तुत प्रबन्ध में रखा गया है।

<u>आभार प्रदर्शन</u> —

इस शोध - प्रबन्ध के लेखन में जिन विद्वानों, शुभचिन्तकों, मित्रों और परिवारी जनों से प्रेरणा और सहायता मिली है, उनके प्रति आभार प्रदर्शन करना मैं अपना पुनीत कर्तव्य समझता हूँ। यह शोध कार्य आदरणीय डा० लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय (अध्यक्ष हिन्दी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय) के कृपापूर्ण निर्देशन में सम्पन्न हुआ है। गुरुवर वार्ष्णेय जी के सत्परामर्शों और निर्देशों से मुझे बहुत कुछ मिला है। उनकी

गुरुवत्सलता और उनके पितृ-तुल्य स्नेह ने भी मुझे बहुत अधिक प्रेरित किया है। समय - समय पर मुझे कुरेदने और प्रेरित करते रहने के लिए तथा उनसे प्राप्त सत्परामर्शों और निर्देशों के लिए मात्र उनका कृतज्ञ या आभारी होना, उनकी कृपा का अवमूल्यन होगा। उनकी इस कृपा पर मैं, पिता की संपत्ति पर पुत्र के समान, अपना एकाधिकार मानता हूँ, उसके लिए कृतज्ञता ज्ञापन करना तो अपने अधिकार की गरिमा को घटाना ही होगा।

अग्रज श्री भोलानाथ "गहमरी" और मित्र कैलाश गौतम, शरद शुक्ला तथा प्रदीप शर्मा के प्रति मैं विशेष आभारी हूँ। इन लोगों ने मेरी शोधेतर समस्याओं को यदि अपने ऊपर न मोल लिया होता तो कदाचित मैं यह शोध कार्य पूर्ण न कर पाता। बन्धुवर डा० श्री राम शर्मा और मित्र देव प्रकाश शर्मा तथा डा० राजेन्द्र गढ़वालिया का भी मैं आभारी हूँ, जिन्होंने मुझे शोधरत रहने के लिए समय - समय पर प्रेरित किया है।

अपने पूज्य पिता पं० वैजनाथ शर्मा तथा पूज्या माताजी श्रीमती कान्तादेवी का तो मैं आजीवन ऋणी हूँ। उन्हीं के शुभाशीषों का फल मेरी अब तक की शिक्षा - दीक्षा है। पत्नी श्रीमती आशा शर्मा का विशेष कृतज्ञ हूँ। शोध के लेखन काल में उन्होंने जिस धैर्य तथा प्रेरणादायक वातावरण को बनाए रखा उसके बिना यह कार्य अत्यन्त दुष्कर था। मैं श्री आर० एन० माथुर का भी आभारी हूँ जिन्होंने प्रायः नींद के समय में से भी समय निकाल कर इस शोध को टंकित किया है। मैं उन सब विद्वानों के प्रति भी हृदय से आभार प्रकट करता हूँ जिनके महत्वपूर्ण ग्रन्थों का मैंने इस शोध में उपयोग किया है।

प्रस्तुत प्रबन्ध मेरे पाँच वर्षों के अध्ययन और अध्यवसाय का परिणाम है। यह कितना मूल्यवान है, इसका निर्णय तो विद्वान करेंगे। मैं अन्त में केवल इतना कह सकता हूँ कि मुझे इसे पूर्ण करके सन्तोष की अनुभूति हुई है।

अशोक कुमार शर्मा

शोधच्छात्र।

विषयानुक्रमणिका

—0—

--- कविता और लोक-जीवन ---

लोक-जीवन : स्वरूप विश्लेषण

१- लोक

२- लोक-मानस

३- लोक-जीवन

४- लोक-जीवन के संचालक

५- लोक-जीवन के विभिन्न पक्ष

प्रथम अध्याय

लोक-जीवन : स्वरूप विश्लेषण

लोक

हिन्दी का लोक शब्द अंग्रेज़ी के "फोक" का पर्याय है। अंग्रेज़ी में लोक संबंधी समस्त अध्ययन को "फ़ोक-लोर" कहा जाता है। प्रारम्भ में इसके लिये यहाँ "पापुलर ऐन्टीक्विटीज़" शब्द का प्रयोग होता था। बाद में सन् १८४६ में विलियम जोन्स थाम्स ने इसके लिये एक नया शब्द दिया — "फ़ोक-लोर"। लोक साहित्य भी इसी के अन्तर्गत आता है। "फोक लोर" शब्द का हिन्दी अर्थ है लोक-वार्ता। किन्तु इस शब्द के प्रचलन से पूर्व "फोक" का अर्थ असंस्कृत, ग्रामीण, असभ्य और पिछड़ा हुआ समझा जाता था, लेकिन धीरे-धीरे इस शब्द का अर्थ-विस्तार हुआ और इसके अन्तर्गत पूरे विश्व मानव का अध्ययन किया जाने लगा। वास्तव में "लोक" किसी वर्ग विशेष का नाम नहीं अपितु मानव जीवन की कुछ विशिष्ट प्रवृत्तियों का सूचक है। और ये विशिष्ट प्रवृत्तियाँ विश्व-मानव में समान रूप से आदिम अवशेषों के रूप में पाई जाती हैं। एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका[1] में

---

1 "In a primitive community the whole body of persons composing it is the 'folk', and in the widest sense of the word it might equally be applied to the whole population of civilised state. In its common application, however, to civilisation of the western type (in such compounds as folk lore, folk Music etc.) it is narrowed down to include only those who are mainly outside the currents of urban culture and systematic education, the unlettered or little-lettered inhabitants of village and countryside."

—Encyclopaedia Britannica, 1768, Vol. IX, p. 444

यहाँ शब्द के दोनों ही अर्थों पर प्रकाश डाला गया है। हिन्दी का लोक शब्द भी कुछ इसी प्रकार की अर्थवत्ता पहले से ही धारण किये हुए था। अस्तु अंग्रेज़ी के "फ़ोक" शब्द के हिन्दी अनुवाद के रूप में "लोक" शब्द का प्रचलन होने लगा।

जिस प्रकार मार्क्सवाद आर्थिक उन्नति के आधार पर समाज को सर्वहारा और पूँजीपति — दो वर्गों में बाँटता है, उसी प्रकार मानसिक उन्नति के आधार पर भी समाज को दो भागों में बाँटा जा सकता है। आधुनिक समाजशास्त्रियों की यह मान्यता है कि मानव की मानसिक स्थिति के क्रमशः विकास के साथ ही "समाज" का निर्माण होता है। अर्थात् समाज — निर्माण के पूर्व मनुष्य की मानसिक स्थिति अपेक्षाकृत अविकसित रहती है।[१] इसी अविकसित मानसिक स्थितिवाले समुदाय में से एक वर्ग अपनी मानसिक स्थिति का विकास कर लेता है और अविकसित मानसिक स्थिति वाले समुदाय को प्रभावित करता है। यह प्रक्रिया ठीक उसी प्रकार होती है जिस प्रकार साम्यवादी समुदाय में से एक वर्ग अपनी पूँजी का विकास करके पूँजीपति बन जाता है और शेष सर्वहारा वर्ग को प्रभावित करता है। मानसिक रूप से अनुन्नत और उन्नत, समाज के इन दोनों वर्गों को भारतीय मनीषा ने क्रमशः "लोक" और "वेद" के नाम से अभिहित किया है —

---

१ "An examination of the folk-ways reveals indistinct but incipient notions of societal welfare."

— Emory S. Bogardus : Development of Social thought, Chapter II, p. 1, Vakils, Feffer and Semons Pvt. Ltd., Hague Building, 9 Sprott Road, Ballard Estate, Bombay-1 IV Edition.

"" अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथित: पुरुषोत्तम : । "" [1]

\+ \+ \+

तथा –

" हानि कुसंग सुसंगति लाहू । लोकहुँ वेद विदित सब काहू ॥ " [2]

\+ \+ \+ \+

" सरजू नाम सुमंगल मूला । लोक वेद मत मंजुल कूला ॥ " [3]

कहा जाता है कि भारत वर्ष में वेदों से भी पूर्व एक संस्कृति थी — तान्त्रिक संस्कृति । वैदिक संस्कृति का विकास बाद में हुआ । [4] वस्तुत: वैदिक संस्कृति वाला समाज तान्त्रिक संस्कृति वाले समाज की अपेक्षा मानसिक रूप से अधिक उन्नत था । इसीलिये उसे " वेद " अर्थात् " ज्ञान " की संस्कृति वाला समाज कह कर सम्मानित किया गया । यहाँ ध्यातव्य है कि वेद ही विश्व में सर्वाधिक प्राचीन ग्रन्थ माने जाते हैं । और वैदिक युग विश्व में सबसे पहला मानसिक रूप से उन्नत युग माना जाता है । कहने का तात्पर्य यह है कि भारतीय समाज के प्रारम्भ से ही दो वर्ग रहे हैं —

---

१ श्रीमद्भगवद्गीता : अध्याय १५, श्लोक १८ ।

२ रामचरितमानस : बालकाण्ड, दोहा ७ ।

३ वही - दोहा ३९ ।

४ पं० नारायण शास्त्री खिस्ते : सम्मेलन पत्रिका, लोक संस्कृति अंक, सं० २०१०, पृ० ३५, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, इलाहाबाद ।

तन्त्र और वेद — "श्रुतिर्द्विविधा, वैदिकी तान्त्रिकी च।"[1] आगे चल कर यह तन्त्र वाला पक्ष ही "लोक" के नाम से जाना गया। और इस प्रकार वर्तमान समाज की नींव वैदिक युग के साथ ही रखी गई। तान्त्रिक संस्कृति वाले मानव को हम आदिम मानव के निकट पाते हैं, और निकट क्या आदिम मानव ही पाते हैं। क्योंकि आदिम मानव जहाँ "विवेक पूर्ण" है वहीं वह "रहस्य शील" भी है। हमारी तान्त्रिक संस्कृति भी रहस्यशील है क्योंकि वह प्रत्येक घटना की व्याख्या "अति प्राकृतिक सम्बन्धों" में प्रस्तुत करती है। और आदिम मानव की यह विशेषता है।[2] जबकि वैदिक संस्कृति विवेक पूर्ण संस्कृति है। अस्तु उसे हम शिष्ट जनों की संस्कृति वाला समुदाय कह सकते हैं। इन दोनों संस्कृतियों का अन्तर बताते हुए पं० नारायण शास्त्री खिस्ते कहते हैं — "..... शुद्ध वैदिक संस्कृति भेदभाव मूलक कर्म प्रधान है। शुद्ध तान्त्रिक संस्कृति अभेद मूलक भाव प्रधान है। जहाँ वैदिक संस्कृति में वेद ध्वनि सुनना भी शूद्रादि के लिये सर्वथा वर्जित है, वहाँ तान्त्रिक संस्कृति सारे विश्व के लिये भेद - भाव छोड़ कर अपने द्वार उन्मुक्त कर देती है।"[3] वास्तव में भारतीय समाज में हमें जो कुछ भी भिन्नता

---

१ पं० नारायण शास्त्री खिस्ते : सम्मेलन पत्रिका, पृ० ३४, लोक संस्कृति अंक, सं० २०१०, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, इलाहाबाद।

२ "Pre-literate people were inquisitive, they thought about the dramatic phases of life, and they sought explanations. Their attention was centered on the tangibles of life. Their sense of observation was often well developed. Their imagination worked out fantastic and super natural explanations."
—Emory S. Bogardus: Development of social thought. Ch.II, p.11.

३ पं० नारायण शास्त्री खिस्ते : सम्मेलन पत्रिका, लोक संस्कृति अंक, सं० २०१०, पृ० ३४-३५, हिन्दी साहित्य सम्मेलन इलाहाबाद।

और अन्तर्विरोध दीख पड़ते हैं, जिन पर कि प्राय: पाश्चात्य विचारक आश्चर्य प्रकट करते हैं। [1] ये समाज के इन्हीं दो आधार स्तम्भों के कारण हैं। भारतीय समाज एक साथ ही सगुण और निर्गुण दोनों ईश्वरों में विश्वास करता है। वह वर्ण व्यवस्था के प्रति इतना कट्टर है कि शूद्र की छाया भी ब्राह्मण पर नहीं देखना चाहता। और दूसरी ओर वह रैदास, कबीर आदि सन्तों की पूजा भी करता है। हमारा हिन्दी साहित्य का भक्तिकाल इस बात का प्रमाण है कि भारतीय समाज में " तन्त्र " और " वेद " की दोनों धाराओं का संगम हुआ है। और जिस प्रकार गंगा - यमुना के संगमस्थल पर दोनों धाराओं का जल मिल जाता है लेकिन अपने रंग को एक दम नहीं छोड़ता, उसी प्रकार भारतीय समाज में तंत्र और वेद की धाराओं के मिल जाने पर भी दोनों की अपनी-अपनी विशेषताएँ अक्षुण्ण हैं।

यहाँ यह ध्यातव्य है कि ये दो धाराएँ वर्तमान समाज में पूँजीपति और सर्वहारा की भाँति स्पष्ट लक्षित क्यों नहीं हैं। अपितु ये पृथक - पृथक दो जीवन धाराएँ हैं जो आपस में मिलकर एक दूसरे को निरन्तर प्रभावित करती रहती हैं। जिस प्रकार संगम पर गंगा - यमुना के अस्पष्ट रूप से पृथक दीखते हुए जल को हम अलग - अलग संग्रह नहीं कर सकते, उसी प्रकार इन दोनों धाराओं को पृथक-पृथक निर्दिष्ट तो किया जा सकता है, किन्तु पृथक् - पृथक् रखा नहीं जा

---

1 "Thus, two life theories under lie all concepts of social thought. The people of India challenge the world of thought with one of these two major theories."

-Emory S. Bogardus : Development of Social thought. Chapter IV, p. 38.

सहकार । ये दोनों ही एक दूसरे को निरन्तर प्रभावित करती रहती हैं । कहीं पर इनकी कोई धारा अधिक दृष्टि गोचर होती है और कहीं पर कोई ।[1] यहाँ यह ध्यातव्य है कि आदिम मानव की प्रवृत्ति साम्यवादी होती है, मेध युक्त विवेक के साथ ही वह व्यक्तिवादी होने लगता है और तभी कौटुम्बिक समाज की वह रचना करता है । यही वह स्थल है जहाँ से मानव की जय यात्रा प्रारम्भ होती है ।

विश्व मानव के इतिहास में किसी स्थल पर चाहे " वेद " नाम के ग्रन्थ न मिलते हों किन्तु प्रत्येक राष्ट्र या जाति के मानव के इतिहास में एक समय ऐसा अवश्य आया है, जहाँ से मानव सभ्यता की ओर बढ़ा है, जहाँ से उसने अपनी जय यात्रा प्रारम्भ की है । और यही वह स्थल है जहाँ से "" उसने सतत परिवर्तन को सार्वजनीन सत्य घोषित किया और रचनात्मक विकासवाद में सतोषण पाने का प्रयास किया । उसने मानव की दृष्टि में सर्वोच्च निरूपित किया और विश्व में सब को अर्ह महत्त्व माना । किसी भी तरह हो, उसने अंतिम सत्य को पाने का प्रयत्न किया है और जहाँ तक हो सके निरपेक्ष दृष्टि से । ""[2]

---

1 "Shell we affirm, or escape from, this life? Both tendencies are evidently in human nature. Some times one predominates and some times the other, depending on the age of the individual and on the ease or harshness of personal circumstances."

— Emory S. Bogardus: Development of Social thought, Ch. IV, p. 38.

2 Ibid., Ch. I, p. 6.

धार्मिकता और दार्शनिकता के सुदूर स्थितियों से सर्वथा विपरीत दिशा में भी मानव ने अपनी सम्यक् लोकपूर्ण दृष्टि को दौड़ाया है। उसने इनको की अन्तर्दृष्टि से देखने का प्रयत्न किया है और अपनी विचारधारा का प्रवाह इनकी व्याख्या के ज्ञान की ओर मोड़ दिया है।[1] यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि "सम्पूर्ण इतिहास में मानव एक धार्मिक जीव रहा है जो आत्माओं, देवताओं या एक ईश्वर द्वारा शासित विश्व की समस्याओं को हल करने का प्रयत्न करता है।[2]"

कहने का तात्पर्य यह है कि वर्तमान समाज के निर्माण में मूलत: दो धाराओं का योग रहा है जिन्हें भारतवर्ष में कभी तन्त्र तथा वेद और कभी लोक तथा वेद का नाम दिया जाता रहा है। कहना न होगा कि "तन्त्र" की अपेक्षा "लोक" शब्द अधिक अर्थवान् है। जीवन की इन दोनों धाराओं को ध्यान में रख कर ही कलाविद् काका कालेलकर ने कहा है कि — "आन्तरिक और स्वाभाविक प्रेरणा से चलने वाला लोक-जीवन और उच्च अभिरुचि और उच्च आदर्श के बन्धनों का स्वीकार करके चलने वाला शिष्ट-जीवन — दोनों मिल कर विराट् सामाजिक जीवन बनता है। लोक जीवन का वीर्य और शिष्ट जीवन की संस्कारिता दोनों जब ओत-प्रोत होते हैं तब राष्ट्र का चरम उत्कर्ष होता है।"[3]

---

१ Emory S. Bogardus : Development of Social thought, Ch. I, p. 7

२ Ibid., p. 5.

३ काका कालेलकर : सम्मेलन पत्रिका, लोक संस्कृति अंक, सं० २०१०, पृ० १२, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, इलाहाबाद।

उपर्युक्त विवेचन में हम देखते हैं कि " तन्त्र " तथा " लोक " दोनों ही शब्द " वेद " से पृथक् एक सामाजिक या सांस्कृतिक जीवन-धारा का निर्देश करते हैं। और " वेद " पूर्व का " तन्त्र " या वही वेद के साथ घुल मिल कर " लोक " का रूप ग्रहण करता है। दूसरी ओर " वेद " भी निरन्तर और अधिक विकसित होता है। इस प्रकार वेद विकसित होकर एक शुद्ध वैदिक धारा या संस्कृति को आगे बढ़ाता है, तथा " तन्त्र " समय-समय पर वेद के सार्वकालीन अनुभवों को अपने में आत्मसात् करके लोक के रूप में विकसित होता है। दूसरे शब्दों में " तन्त्र "[1], आदिम या विवेक पूर्व स्थिति है [2] (क्योंकि दोनों ही स्थितियाँ अभेद मूलक भावना प्रधान हैं) तथा " वेद " पूर्णतः विवेकमूलक या शिष्ट स्थिति है[3] एवं " लोक " इन दोनों के बीच की प्रक्रियात्मक स्थिति है।

वस्तुतः आदिम मानव अतिप्राकृत की भावना से अनुप्राणित था किन्तु बाद में आने वाला ऐतिहासिक मानव धर्म से अनुप्राणित था।

---

१ पं० नारायण शास्त्री खिस्ते : सम्मेलन पत्रिका, लोक संस्कृति अंक, सं० २०१०, पृ० ११, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, इलाहाबाद।

२ "To the early intelligence of our remote ancestor every thing was alive. Life was a constant surprise, and miracles happened every hour, nothing was inconceivable, because every thing was possible".
—Rev. E.S.Oakley and Tara Datt Gairola; Himalayan Folk-lore. Sec. II, Ch. II, p. 174, Allahabad,1935.

३ "" वेद कोई पुस्तक वाचक शब्द नहीं है। बल्कि भिन्न-भिन्न ज्ञानी, ऋषियों - मुनियों के अनुभवसिद्ध आध्यात्मिक नियमों के संग्रह का नाम वेद है। वेद शब्द में विद् धातु है। विद् अर्थात् जानना, ज्ञान प्राप्त करना इत्यादि।

—पं० शिव शंकर मिश्र : भारत का धार्मिक इतिहास, आर० डी० बाक्सी एण्ड कं० नं० ५, चौरबागान, कलकत्ता, प्रथम संस्करण, सं० १९८०, पृ० ३२।

इसके पश्चात् और भी परवर्ती मानव,धर्म के साथ - साथ समाज की भावना से भी अनुप्राणित हुआ और इसी प्रकार इसके भी बाद के मनुष्य ने राज्य का निर्माण किया । हॉब्स, लॉक तथा रूसो आदि का राज्य की उत्पत्ति के विषय में " सामाजिक समझौते का सिद्धान्त " इसका प्रमाण है । वास्तव में जैसे - जैसे मनुष्य अपनी जय - यात्रा पर आगे बढ़ता गया, उसने नये - नये क्षितिजों का उद्घाटन किया तथा वह आदिम मानव जो केवल अतिप्राकृत भावनाओं से अनुप्राणित था अब समाज और राज्य की भावना से भी युक्त हुआ । धीरे - धीरे मनुष्य की इस जय - यात्रा में समय - समय पर पड़ने वाले स्थल भी उसकी यात्रा के प्रारम्भिक स्थल के निकट होते गए और इस प्रकार वर्तमान लोक का निर्माण हुआ । अतः हम कह सकते हैं कि " लोक " केवल आदिम मानव का अवशेष ही नहीं है अपितु ऐतिहासिक, यहाँ तक कि समसामयिक सन्दर्भों " से भी जुड़ा हुआ है । उसके अन्तर्गत केवल आदिम मानव ही नहीं अपितु गतानुगतिकता से प्राप्त वर्तमान मानव भी आता है । किन्तु जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं यहाँ इस बात का ध्यान रखा जाना अपेक्षित है कि " विवेक पूर्व " मानव में जो कुछ भी गतानुगतिकता से जुड़ा है, वह विवेक युक्त मानव के ही प्रभाव से जुड़ा है । अस्तु लोक में हम केवल विगत का ही अध्ययन नहीं करते अपितु समसामयिक का भी अध्ययन करते हैं । क्योंकि विभिन्न सन्दर्भों में प्राप्त ऐतिहासिक ज्ञान ही पुनरावृत्त होकर मनुष्य की धारणाओं तथा आस्थाओं और सम्पूर्ण मानसिकता का भी निर्माण करता है, जिससे एक नये मनुष्य का अभ्युदय होता है। प्रत्येक युग का यह नया मनुष्य ही लोक है ।

यहाँ ध्यातव्य है कि " लोक " में आदिम अवशेष तथा शिष्ट मानव के प्रभाव — दोनों ही, उसके मानसिक स्तर पर घटित होते हैं ।

अतः इन दोनों को समझने के लिये "लोक - मानस" का अध्ययन करना आवश्यक है। लोक - जीवन को समझने के लिये भी लोक - मानस का अध्ययन आवश्यक है। क्योंकि सम्पूर्ण लोक - जीवन लोकमानस की ही अभिव्यक्ति है।

लोक - मानस

मानव मस्तिष्क के दो भाग हैं — चेतन और अर्ध - चेतन जिन्हें [illegible] मनोविद[1] सब्जेक्टिव तथा ऑब्जेक्टिव मस्तिष्क कहते हैं। ऊपर लोक के अध्ययन में अभी - अभी हम जिसे "आदिम अवशेष" और "शिष्ट मानव के प्रभाव" कह आए हैं, वे क्रमशः यही अर्ध चेतन और चेतन मस्तिष्क हैं। इन्हीं को कुछ विद्वान "चेतन जीवन" और "अर्ध चेतन जीवन" के नाम से भी अभिहित करते हैं। इन दोनों — चेतन और अर्ध चेतन जीवन अथवा मस्तिष्कों के बीच निरन्तर एक सम्बन्ध बना रहता है, जिससे ये एक दूसरे से जुड़े रहते हैं। ये दोनों ही एक दूसरे को प्रभावित भी करते हैं और इस प्रकार मानव - मस्तिष्क का विकास होता है।[2] यहाँ यह ध्यातव्य है कि इस योग में चेतन जीवन,

---

1 "He boldly announced that we have two minds, the 'subjective' and the 'objective'. The 'objective' is the 'conscious'...... the 'subjective' is the sub-conscious....."
— Joseph Jastrow : Freud: His dream and Sex theories, Ch. VI, p. 152, (?).

2 "During the recovery stage, the normally epicritic skin reverts to a protopathic condition, in which there is no exact localization."
— Ibid. pp. 154-155 (?).

अर्थ चेतन जीवन पर या शिष्ट मानव के प्रभाव आदिम अवशेषों पर छाये रहते हैं।[1]

इन "आदिम अवशेषों" और "शिष्ट मानव के प्रभावों" के परस्पर सम्बन्ध को स्पष्ट करने के लिये मनोवैज्ञानिकों ने "दमनत्व" और "समागम" के सिद्धान्त की अवधारणा की है। इस दमनत्व और समागम की प्रक्रिया को "रिवर्स" महोदय "एक मुक्त निग्रहत्व" या "ग्रहण" (इसे अचेतन भी कह सकते हैं) के द्वारा समझाते हैं। उनके अनुसार यह "ग्रहण" या "एक मुक्त निग्रहत्व" जहाँ दोनों के समागम में सहायक है, वहीं दमनत्व में भी उसका हाथ रहता है।[2] आधुनिक मनोविश्लेषण शास्त्रियों में "फ्रायड" ने सबसे पहली बार इस प्रक्रिया को अचेतन कहकर स्पष्ट किया है। यहाँ यह ध्यान रखना आवश्यक है कि "फ्रायड" का अचेतन कोई मस्तिष्क नहीं है जैसा कि प्रो० सत्येन्द्र ने अपनी "लोक-साहित्य विज्ञान" नामक पुस्तक में समझा है।[3] वास्तव में "फ्रायड" का "अचेतन" एक प्रक्रिया मात्र है।[4] किन्तु इस प्रक्रिया में "फ्रायड" "दमनत्व" पर

---

1. "...... in the fusion the epicritic sensations dominate and the protopathic recede,......"
   — Joseph Jostrow : Freud : His dream and sex theories, Ch. VI, p. 152 (?)

2 "Utilisation by means of the process of fusion is the fate of the greater part of the complex processes which make up protopathic sensability. It is only the smaller part which under goes to other fate of suppression."
   — Ibid., p. 155.

3 डा० सत्येन्द्र : लोक साहित्य विज्ञान, पृ० ४३, शिवलाल एण्ड कं०, आगरा, १९६२।

4 Joseph Jostrow, Freud: His Dream and Sex Theories, Ch. VI, p. 153.

ही अधिक बल देता है। अब शायद यह कहा जाता है कि " अर्धचेतन " में केवल व्यक्तिगत अनुभवों की धारा ही नहीं प्रवाहित होती अपितु उसमें एक धारा " आदिम " या जातीय भी मिली रहती है जो " युंग " के शब्दों में " निर्वैयक्तिक " धारा है। वास्तव में यह व्यक्तिगत अनुभवों की धारा ही " शिष्ट मानव के प्रभाव हैं "। तथा " आदिम अचेतन " ही " निर्वैयक्तिक " धारा है। (यहाँ आदिम अचेतन से हमारा तात्पर्य पूर्णतः आदिम से नहीं है। इस आदिम अचेतन में " शिष्ट मानव के प्रभाव " भी घुले रहते हैं। इस बात को स्पष्ट करने के लिये ही " रिवर्स " मनोवैज्ञ ने " [illegible] " या " एक मूल पिण्डत्व " के सिद्धान्त की अवधारणा की है। जिसके कारण समागम तथा समत्व की प्रक्रियाएँ पूर्ण होती हैं।) इस प्रकार " लोक " के सन्दर्भ में जिसे हम " आदिम अचेतन " और मनोविज्ञान में अचेतन कहते हैं, उसमें " वैयक्तिक " (शिष्ट मानव के प्रभाव या चेतन मस्तिष्क से प्राप्त अनुभव) धारा के साथ निर्वैयक्तिक (आदिम अचेतन या अचेतन के अनुभव जो परम्परा से प्राप्त हैं) धारा भी प्रवाहित होती है। चूँकि मस्तिष्क का निरन्तर विकास होता रहता है इसलिये तात्कालिक चेतन मस्तिष्क के अनुभव (शिष्ट मानव के प्रभाव) निरन्तर " अचेतन " (आदिम अचेतनों) को प्रभावित करते रहते हैं और निरन्तर नई मानसिकता को जन्म देते हैं और यही गतिशील मानसिकता लोक मानस है। किन्तु व्यवहार में यह भी देखा जाता है कि लोगों का " चेतन ", " अचेतन " पर हावी रहता है अर्थात् " व्यक्तिगत अनुभव ", " निर्वैयक्तिक " अनुभवों को दबाए रहते हैं। अतः जब व्यक्ति अपने व्यक्तिगत अनुभवों से परिचालित होता है तो उसे हम " लोक "

नहीं कह सकते किन्तु जब उसके क्रिया-कलाप " अर्ध चेतन " से संचालित होते हैं (अचेतन " प्राय: चेतन की परिधि तोड़ कर प्रकट हो जाता है) तो हम उसे " लोक " की संज्ञा देते हैं। //

जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं इन दोनों मस्तिष्कों के बीच दमनत्व तथा समागम के द्वारा ग्रहण की प्रक्रिया चलती रहती है जिसके परिणाम स्वरूप " चेतन " या अचेतन " का व्यक्ति के कार्यों पर प्रभाव पड़ता है। सामान्यत: व्यवहार में " अर्ध चेतन " और " चेतन " आदिम वर्गीय और शिष्ट मानव के प्रभाव या निर्वैयक्तिक और वैयक्तिक धारा के बीच एक समागम की प्रक्रिया चलती है। इसमें व्यक्ति का चेतन मस्तिष्क उसी प्रकार के अनुभवों को ग्रहण करता है जिस प्रकार के अनुभव उसके " अचेतन " में पहले से होते हैं। किन्तु यदि व्यक्ति के " चेतन " मस्तिष्क द्वारा गृहीत अनुभव उसके " अचेतन " के विरोध में पड़ते हैं तो दोनों में एक संघर्ष होता है। इस संघर्ष में " चेतन " " अचेतन " पर हावी हो जाता है। किन्तु इससे " अचेतन " समाप्त नहीं हो जाता। अपितु वह कभी - कभी अनायास ही " चेतन " अनुभवों को अस्वीकार करके अपने निर्वैयक्तिक या ऐतिहासिक अनुभवों को प्रकट कर देता है। " फ्रायड " मनोवैद्य इसे दमनत्व कहते हैं। ऐसा व्यक्ति सामान्य या " लोक " की परिधि में नहीं आता। फ्रायड मनोवैद्य की यह मान्यता कि व्यक्ति इस दमनत्व की प्रक्रिया के कारण ही जीवन में सब कुछ करता है — सामान्य-जन या " लोक " पर लागू नहीं होती। वास्तव में वे एक डाक्टर थे उनके पास केवल असामान्य " केस " ही आते थे अत: उन्होंने अपने मरीजों के आधार पर इसे सार्वकालीन सत्य मान लिया —— ऐसा लगता है।

यहाँ हमारा उद्देश्य " फ्रायड " के सिद्धान्त की विवेचना करना नहीं है । अपितु मात्र इतना स्पष्ट करना है कि लोक - मानस के निर्माण में मनोविज्ञान का अचेतन अपनी क्या भूमिका निभाता है ।

इस सम्पूर्ण प्रक्रिया को निम्नलिखित ढंग से भली भाँति समझा जा सकता है ——
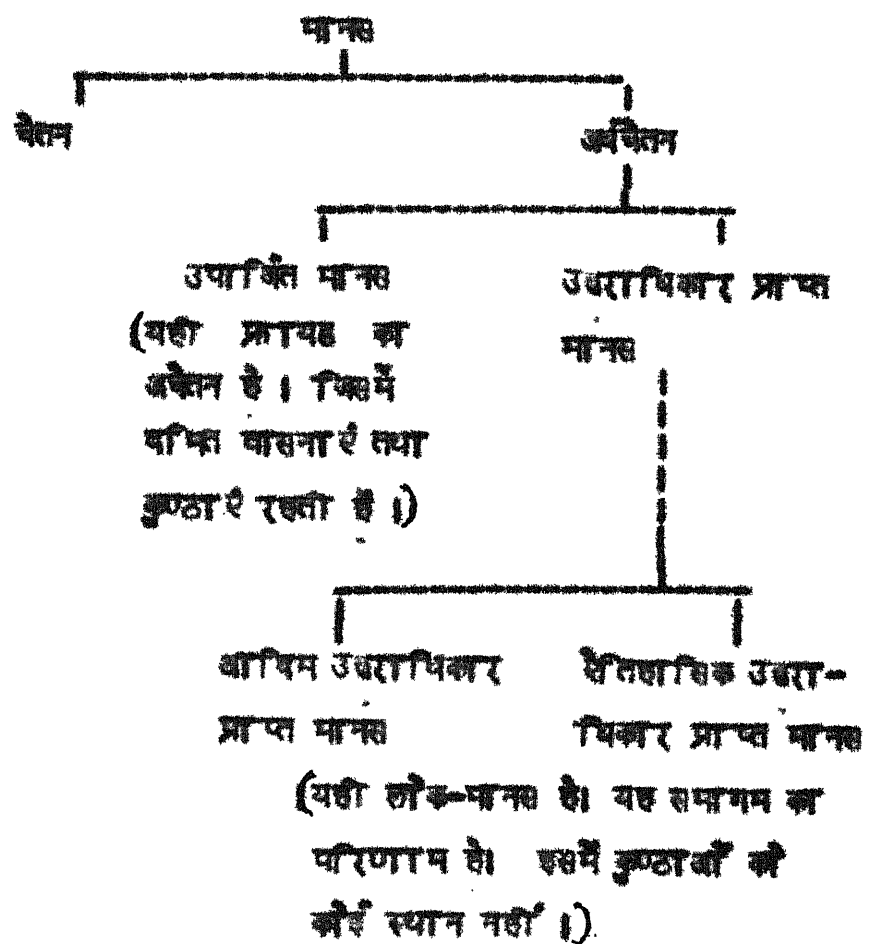
सामान्यतः मनुष्य के मस्तिष्क में निरन्तर दो प्रकार की प्रक्रिया चलती रहती है जिसमें दमन और समागम दोनों ही होते रहते हैं । किन्तु

लोक सामान्य व्यक्ति में " दमन " कम [1] तथा समागम अधिक होता है। जबकि असामान्य या लोकोत्तर व्यक्ति में इसके विपरीत होता है। इनमें उत्तराधिकार प्राप्त मानस ही निर्वैयक्तिक धारा है तथा उपार्जित मानस ही वैयक्तिक धारा है। और मानव मस्तिष्क में ये दोनों धाराएँ विद्यमान रहती हैं। समागम की प्रक्रिया में चेतन मानस के सभी अनुभवों में से कुछ वे जो उत्तराधिकार प्राप्त मानस के अनुकूल पड़ते हैं, उत्तराधिकार प्राप्त मानस के आदिम उत्तराधिकरण में ऐतिहासिक वृद्धि करते हैं। कविता में आलोचक गण जब " हृदय की मुक्तावस्था " या मानव - मानव के बीच एक " भावात्मक ऐक्य " की बात करते हैं तो अनायास ही वे कविता को " लोक - मानस " की अभिव्यक्ति मान लेते हैं। वास्तव में कविता में भी मानव मस्तिष्क की ही भाँति व्यक्ति (कवि) और लोक के बीच समागम की प्रक्रिया चलती है। यह ठीक है कि द्वितीय विश्व युद्ध के उपरान्त अनेक कवियों ने अपनी कविता में उस भावात्मक ऐक्य की उपेक्षा की है, किन्तु जैसे - जैसे स्वतन्त्रता प्राप्त हुई और उसमें दृढ़ता आती गई वैसे ही वैसे कविता में पुनः " भावात्मक ऐक्य " आता गया। वास्तव में उस भावात्मक ऐक्य से पृथक जो कविता लिखी गई वह कवि के उत्तराधिकार प्राप्त मानस के साथ उसके चेतन के अनुभवों के विरोध के परिणाम स्वरूप उपार्जित मानस की ही अभिव्यक्ति थी। उस कविता में निराशा, कुण्ठा का ही स्वर मुख्य था। इसमें लोक - जीवन के साथ तादात्म्य का अभाव रहा। ऐसी कविता कभी लोक - प्रिय और स्थायी नहीं हो सकती। यह कविता कवि तक ही सीमित होकर रह जाती है। किन्तु स्वतन्त्रता के उपरान्त जैसे - जैसे

---

1 Joseph Jostrow : Freud : His dream and Sex Theories, Ch. VI, p. I62.

देश में स्वतन्त्रता की भावना आती गई, व्यक्ति और समाज के विरोध कम होते गए (अत: मानव मस्तिष्क में समागम की प्रक्रिया पुन: तीव्र हुई), वैसे ही वैसे कविता में पुन: वे तत्व आने लगे जो उसे लोक-प्रिय तथा रमणीय बनाने के साथ-साथ स्थायित्व भी प्रदान करने लगे। यह बात हमारे आगे के अध्यायों में और अधिक स्पष्ट हो जायगी। यहाँ हमारा उद्देश्य लोक-मानस और उसके माध्यम से "लोक" तथा "लोक-जीवन" की अवधारणा को और अधिक स्पष्ट करना है।

उपर्युक्त विवेचन से हम निम्नलिखित परिणाम पर पहुँचते हैं :-

प्रत्येक मनुष्य के मस्तिष्क में आदिम अचेतन उत्तराधिकार-प्राप्त होने के कारण निर्वैयक्तिक, अत: सामान्य होते हैं। यही कारण है कि पूरे विश्व के मानव में अनेक भिन्नताओं के बावजूद बहुत सी समानताएँ भी पाई जाती हैं।[1] फ्रायड का अचेतन, अर्जित और वैयक्तिक होने के कारण एक दूसरे से भिन्न होता है। क्योंकि वैयक्तिक अनुभवों में भिन्नता पाया जाना स्वाभाविक ही है। यहाँ ध्यातव्य है कि जो वैयक्तिक अनुभव (जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं) सार्वजनिक होने की

---

1 "A more real solution to the puzzle is found in the reflection that all races began at the same mental level, and human nature from the begining a constant quantity, the same ideas, in all most the same forms, were evolved in various countries, representing the attempt of early man to formulate some theory of the natural appearances around him."

—Rev. E.S. Oakley & Tara Dutt Gairola : Himaliyan Folk-lore, Sec. II, Ch. II, p. 174, Allahabad, 1935.

क्षमता रखते हैं वे हुम्नागमित हो जाते हैं। व्यक्ति - मानस की ये विशेषताएँ मानव मात्र पर लागू होती हैं। यह बात दूसरी है कि किसी व्यक्ति का आदिम मानस अधिक विकसित होता है तथा चेतन का वेधन करके मनुष्य के व्यवहार को अधिक प्रभावित करता है। और किसी व्यक्ति का अर्जित मानस अधिक विकसित होता है अतः वह आदिम मानस पर छाया रहता है। परिणामतः मनुष्य अपने जीवन में इसी से परिचालित होता है। इनमें पहले प्रकार के व्यक्ति को हम सामान्य तथा दूसरे प्रकार के व्यक्ति को असामान्य कहेंगे। मनोविज्ञान के कुछ विद्वान इन व्यक्तियों को " एबनॉर्मल " तथा " न्यूरोटिक " की संज्ञा देना अधिक पसंद करते हैं। इससे स्पष्ट है कि सम्पूर्ण मानव - समाज में दो प्रकार के व्यक्ति पाये जाते हैं —— १- सामान्य तथा २- असामान्य। लगता है सिगमण्ड फ्रायड महोदय के पास दूसरे प्रकार के व्यक्ति ही इलाज के लिये आते रहे होंगे, अन्यथा वे अपने विचार में संशोधन अवश्य कर लेते जैसा कि " युंग " महोदय ने किया था।

यदि हम व्यक्ति की ही भाँति समाज को भी एक इकाई स्वीकार करें तो उसके मस्तिष्क की रचना में भी यही दो सत्य पाए जायेंगे, जिन्हें कि हम ऊपर " सामान्य " तथा "असामान्य " कह आये हैं। लोकवार्ता विज्ञान की भाषा में इन्हीं को हम क्रमशः लोक-मानस तथा शिष्ट या बुद्धिमानस की संज्ञा देते हैं। अतः जब हम लोक मानस की बात करते हैं तो हमारा तात्पर्य उस मानसिकता से होता है जो पूरे विश्व के मानव में समान रूप से पायी जाती है। यहाँ ध्यातव्य है कि यह समानता केवल आदिम अवशेष के ही कारण नहीं होती जैसा कि " जौन्स " महाशय

समझते हैं।[1] अपितु वह सार्वजनीन होने वाले वैयक्तिक अनुभवों या "चेतन" और अचेतन के बीच होने वाली समागम की प्रक्रिया से भी उत्पन्न होता है। इसीलिये "युंग" महोदय ने इस मस्तिष्क को वैयक्तिक अनुभवों का समवायी कहा है। हमको इस समवायी शब्द से चौंकना नहीं चाहिये जैसा कि कुछ विद्वान चौंकते हैं। यहाँ ध्यातव्य है कि लोक-मानस केवल स्थिर ही नहीं होता, वह गतिशील भी है, उसका भी विकास होता है। यह बात दूसरी है कि उसके तत्व अपेक्षाकृत स्थिर होते हैं।

इस प्रकार लोक अपनी मानसिकता में सामान्य है। तथा इससे पृथक शिष्ट जन असामान्य की श्रेणी में आते हैं। साथ ही लोक की सत्ता बहुत विस्तृत है तथा शिष्ट (प्राय: इस प्रकार का कोई वर्ग है ही नहीं क्योंकि सम्वेदना प्रत्येक व्यक्ति में होती है।) की सत्ता अपेक्षाकृत अत्यन्त संकुचित है। वास्तव में कोई व्यक्ति अपनी उत्तराधिकार प्राप्त मानसिकता से पूर्णत: कट ही नहीं सकता। हाँ, यह अवश्य संभव है कि व्यक्ति के उत्तराधिकार प्राप्त मानस पर चेतन मानस या उपार्जित मानस छाया रहे। मानसिकता के इस अन्तर के कारण शिष्ट-जन और लोक में पर्याप्त अन्तर देखा जा सकता है। इस अन्तर को समझने की प्रक्रिया में यह स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है कि व्यक्तिगत अनुभवों की प्रधानता के कारण शिष्ट मानस वाले व्यक्ति में अधिक विविधताएँ पायी जाती हैं। उसकी यह विविधता, केवल वैचारिक धरातल पर ही नहीं, उसके जीवन में भी देखी

---

1 Rev. E.S. Oakley & Tara Dutt Gairola : Himaliyan Folk - lore, Sec. II, Ch. II, p. 174, Allahabad, 1935.

जा सकती है। यही कारण है कि शिष्ट कहे जाने वाले व्यक्ति के जीवन-दर्शन कभी एक नहीं होते। उसमें व्यक्तिवाद, समाजवाद, उपयोगितावाद, आदर्शवाद जैसे अनेक विचार होते हैं और उसका जीवन भी इन वैचारिक भिन्नताओं के कारण विविध प्रकार का होता है। इसी वैविध्य और व्यक्तिगत अनुभवों के कारण उसके जीवन में परिवर्तनों की गति तीव्र है, जब कि लोक में इसके सर्वथा विपरीत स्थिति पाई जाती है। यहाँ न तो किसी प्रकार की विविधता है और नहीं परिवर्तनों की तीव्रता। किन्तु देश और काल के स्तर पर सार्वभौम सिद्ध हो जाने वाले कुछ से शिष्ट जनों के अनुभव उन्हें प्रभावित अवश्य करते रहते हैं। समाज में जो वर्ग इन अनुभवों से प्रभावित होकर इन्हें ग्रहण कर लेता है वही हमारा लोक है। इन अनुभवों को ग्रहण न कर पाने वाले वर्ग को हम "आदिम" कहेंगे। इस प्रकार समाज में व्यक्तियों की एक धारा और कही जा सकती है। हमारे मत से तो इन तीनों धाराओं को क्रमशः शिष्ट, लोक और आदिम कहा जाना चाहिये। समाज में यह आदिम मानसिक रूप से सबसे निचला (परम्परा में सबसे प्राचीन), लोक उससे ऊपर का (परम्परा में प्राचीन के साथ-साथ अर्वाचीन के निकट) एवं शिष्ट मानसिक दृष्टि से सबसे ऊपर का (लगभग परम्परा हीन और पूर्णतः अर्वाचीन) वर्ग कहा जायगा। जिस प्रकार आर्थिक समाज में उच्च और निम्न वर्ग के साथ एक मध्यम वर्ग, जिसे साम्यवादियों की भाषा में बुर्जुआ कहा जाता है, भी होता है। उसी प्रकार मानसिक दृष्टि से समाज में लोक होता है। इस लोक की विशेषताएँ जहाँ आदिम मानव में पायी जाती हैं वहाँ शिष्ट जन में भी इसके तत्त्व मिलते हैं। अतः जन सामान्य

[सम + अन्य = अन्यों (शिष्ट और आदिम) के समान] है ।[1]
इसलिये यह लोक काल जयी है । आदिम मानव जहाँ धीरे - धीरे आदिम
नहीं रहता , वह निरन्तर शिष्ट होकर लोक में लीन हो जाता है । वहाँ
शिष्ट मानव भी अपने अनुभवों के बदल जाने पर पुन: लोक के निकट आ जाता
है और अपनी सत्ता को खो देता है । लोक के अतिरिक्त समाज के ये दोनों
वर्ग मरते भी हैं और पुन: जन्म भी लेते हैं । आज एक ओर जिन्हें हम
आदिम जातियाँ कहते हैं, वह वर्तमान वैज्ञानिक युग की कृपा से अब बहुत कुछ
लोक में परिवर्तित हो रही हैं । जिन्होंने ट्रेन नहीं देखी थी वे अब ट्रेन से
परिचित हो रहे हैं । लालटेन के युग में जीने वाले अब बिजली की रोशनी
में जी रहे हैं । और इस प्रकार सभ्यता के विकास के साथ - साथ लगभग
पूरे विश्व में ही इन आदिम कही जाने वाली जातियों की संख्या घट रही
है । रामायण और महाभारत काल की अनेक आदिम जातियाँ आज देखने
को नहीं मिलतीं । आखिर वे कहाँ गईं ? निश्चय ही वे मर - खप
नहीं गई हैं, अपितु वे इसी लोक की अजस्र धारा में मिल कर तद्रूप हो गई
हैं । दूसरी ओर मानव जाति का इतिहास हमें बताता है कि विश्व में
अनेक सभ्यताएँ काल के गाल में समा चुकी हैं । यूनान की सभ्यता, रोम
की सभ्यता, मिस्र की सभ्यता, सिन्धुघाटी की सभ्यता आदि पूर्णत:
समाप्त हो गई हैं । किन्तु लोक में से ही एक वर्ग पुन: अपने व्यक्तिगत
अनुभवों के बल पर फिर से एक नई सभ्यता को जन्म देता है और एक वर्ग
फिर वहीं का वहीं (पिछड़ा) रह जाता है । इस प्रकार लोक की
सरिता बार - बार अपने इन शिष्ट और आदिम किनारों को तोड़ती और

---

१ दूसरा अर्थ लोक का होता है जन सामान्य — इसी का हिन्दी रूप
लोग है । इसी अर्थ का वाचक लोक शब्द साहित्य का विशेषण है।
— डा० सत्येन्द्र : हिन्दी साहित्य कोश, भाग-१, पृ० ७४७,
ज्ञान मण्डल लि० वाराणसी, द्वितीय संस्करण, सं० २०२० ।

बनाती रहती है। इसलिये जो लोग इस भय से घुल रहे हैं कि " हाय ! लोक समाप्त हो रहा है ", 'यह वैज्ञानिक युग की यांत्रिक सभ्यता मनुष्य को मनुष्य नहीं रहने देगी'। उन्हें हम अभय देते हैं। हमारा कहना है कि उन्हें चिन्तित नहीं होना चाहिये। यह लोक अक्षयी है, इसकी धारा अजस्र है, इसका जीवन अमर है।

जहाँ तक भारतवर्ष में लोक का प्रश्न है, अंग्रेजों के आगमन से पूर्व तक भारत का सम्पूर्ण समाज ही लोक रहा है। पीछे हम भारतीय लोक के सन्दर्भ में जिस तन्त्र या तान्त्रिक संस्कृति की चर्चा कर आए हैं, वह हमारे अनुमान से तो आदिम ही था। बाद में जैसा कि लोक मानस के अन्तर्गत स्पष्ट किया गया है, इस आदिम में अन्य वैदिक या शिष्ट जनों के प्रभाव से और भी बहुत कुछ जुड़ा होगा। जिसके परिणाम स्वरूप यह आदिम अब आदिम न रह कर परम्परा से युक्त हो गया। अतः लोक के जन सामान्य होने के सम्बन्ध में यह शंका कि — " ..... इतने से लोक का वह अभिप्राय प्रकट नहीं हो पाता, जो साहित्य के विशेषण के रूप में वह प्रदान करता है।—"[1] हमें निर्मूल जान पड़ती है। कोश में ही आगे लोक की जो परिभाषा दी गई है उससे भी इस कथन की पुष्टि नहीं होती है। वह साहित्य के विशेषण के रूप में क्या अर्थ देता है, कोश में यह आगे भी प्रकट नहीं किया गया है। उसकी परिभाषा[2] में जिसे लोक कहा गया है वह " आभिजात्य संस्कार, शास्त्रीयता और

---

१ डा० सत्येन्द्र : हिन्दी साहित्य कोश, भाग - १, पृ० ७५७, ज्ञान मण्डल लि०, वाराणसी, द्वितीय संस्करण, सं० २०२० ।

२ " हम अपनी दृष्टि से यह कह सकते हैं " लोक " मनुष्य समाज का वह वर्ग है जो आभिजात्य संस्कार, शास्त्रीयता और पाण्डित्य की चेतना और पाण्डित्य के अहंकार से शून्य है और जो एक परम्परा के प्रवाह में जीवित रहता है।
— वही — पृ० ७५७ ।

पाण्डित्य की चेतना और पाण्डित्य के अहंकार से शून्य "*," मनुष्य समाज का "** वर्ग **", यदि जन सामान्य नहीं तो क्या है ?// साहित्य के विशेषण "लोक" का अर्थ "जन सामान्य" से कुछ अधिक मानना हमारी दृष्टि में उचित नहीं। वास्तव में "लोक" में कोशकार ने जिन बातों का अभाव कहा है उनसे युक्त, समाज का कोई वर्ग शिष्ट या वैद या मुनि अथवा अंग्रेजी में असामान्य या न्यूरोटिक की संज्ञा के अन्तर्गत ही आता है, चाहे उसमें लोक के तत्त्व क्यों न दबे पड़े हों। क्यों कि वह परम्परा के निर्वाह में जीवित नहीं रहता। परम्पराओं के बन्धन उसके जीवन पर बहुत कम ही देखने को मिलते हैं। प्राय: वह वर्ग अपनी अलग परम्पराओं का निर्माण कर लेता है, जिनका कि स्तर वैयक्तिक होता है। यह बात दूसरी है कि इस वर्ग में भी कभी - कभी लोक - मानस, जो प्राय: मुनि मानस के नीचे दबा रहता है के दर्शन हो जाते हैं।// वास्तव में, जैसा कि हम मस्तिष्क रचना बताते समय कह चुके हैं, शिष्ट और लोक के बीच भी कोई स्पष्ट विभाजन रेखा नहीं खींची जा सकती। यह कहना बहुत कठिन है कि लोक किस विशेष स्थिति से आदिम या शिष्ट हो जाता है। अत: लोक का अर्थ जन सामान्य लेना ही हमें अधिक तर्क संगत लगता है। और इसीलिये इसके अन्तर्गत हम केवल अशिक्षित, निरक्षर ग्रामीण जनों का ही नहीं, साक्षर, अशिक्षित नागरिकों का भी अध्ययन करेंगे। हाँ, वर्तमान सभ्यता से अपरिचित आदिवासी जातियाँ तथा पूर्णत: अशिक्षित वन जातियाँ और सभ्य जनों -- वैज्ञानिक, प्रोफेसर, डाक्टर आदि को इस लोक के अन्तर्गत नहीं लिया जा सकता।

लोक - जीवन

लोक शब्द को स्पष्ट करने के उपरान्त लोक-जीवन के सम्बन्ध में अब यह निश्चित रूप से कहा जा सकता

है कि इसी जन - सामान्य का जीवन ही लोक - जीवन है। यदि किसी आदिम या शिष्ट जन के जीवन में भी वे बातें दीख पड़ती हैं जो जन - सामान्य के जीवन में हैं तो उनका भी अध्ययन लोक - जीवन के ही अन्तर्गत किया जायगा। इसके अन्तर्गत हम आदिम जीवन के साथ - साथ, पौराणिक जीवन तथा ऐतिहासिक तथा बाद के ।मध्यकालीन और वैज्ञानिक युग के भी सामान्य जीवन का अध्ययन करेंगे। दूसरे शब्दों में लोक - जीवन के अन्तर्गत जीवन के आदिम तत्वों के साथ - साथ ऐतिहासिक परम्परा से प्राप्त तत्वों का अध्ययन भी आता है। यहाँ तक कि अति आधुनिक आस्थाओं, विश्वासों तथा धारणाओं का अध्ययन भी। और इस प्रकार लोक के धार्मिक जीवन में जहाँ भूत - प्रेत, टोना - टोटका तथा आदिम अनुष्ठानों का अध्ययन होता है वहीं पौराणिक देवी - देवताओं, वैदिक रीति - रिवाजों ---- ।जैसे विवाह में पंडित का आना और मन्त्र पाठ करना आदि का भी अध्ययन होता है। क्योंकि इनमें लोक की आस्था, श्रद्धा और विश्वास है और इनका रूप भी अब प्रायः लोक - अनुष्ठानों जैसा ही गया है। इसके अन्तर्गत अब जन सामान्य में प्रचलित वर्तमान सन्तोषी माता, और चमत्कारिक रौंटा आदि का भी अध्ययन होना चाहिये। क्योंकि भारतीय लोक में पुराण निरन्तर वर्तमान है। योरोप के विद्वान चाहे यहाँ पुराणों का पृथक युग मानते रहें किन्तु भारत में पुराण कभी बन्द नहीं हुये। गौतम बुद्ध का भगवान बनना, राधा का देवी बनना आदि बातें भारतीय समाज में इस पौराणिक विकास का ही परिणाम हैं।[1]

---

१ डा० विजयदेव नारायण साही, आलोचना : मार्च १९५३, पृ० १४५, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली।

इसी परम्परा में वे वर्तमान "चमत्कारिक रोटी" तथा "सन्तोषी माता", और विभिन्न जीवित अवतार आते हैं। इसी प्रकार लोक के दैनिक जीवन में यात्रा सम्बन्धी उपकरणों के लिये रथ, बैल गाड़ी और रथों के साथ - साथ बस और ट्रेन को भी अध्ययन का विषय बनाना चाहिये और ऐसा ही लोक - जीवन के अन्य पक्षों में भी समझना चाहिये।

भारत में वैदिक जीवन के उपकरण और अनुष्ठान, वैदिक युग में चाहे शिष्ट जनों तक ही सीमित क्यों न रहे हों, बाद में वे लोक - जीवन के विषय बन गए थे। और ऐसा लोक की ऐतिहासिक परम्परा के कारण हुआ है। वास्तव में आदिम जीवन के ऊपर ऐतिहासिक परम्परा वाले जीवन की पर्तें सभ्यता के विकास के साथ - साथ चढ़ती रहती हैं। जिनके कारण लोक - जीवन की स्थिति जटिल होती जाती है तथा आदिम जीवन उन पर्तों के नीचे कहीं बहुत गहरा दब जाता है। और शिष्ट जीवन से यह कहाँ पर पृथक होता है इसका निश्चित निर्णय कर पाना असंभव हो जाता है। आचार्य राम चन्द्र शुक्ल ने कविता के सम्बन्ध में इस बात को भली प्रकार समझाने की चेष्टा की है।[1] इसीलिये कहा जाता है कि 'मनुष्य को जरा सा खुरचिये तो उसके नीचे पशु झांकता दिखाई देगा।' यह पशु कुछ और नहीं आदिम मानव है जो वर्तमान सभ्य जनों की दृष्टि में पशु हो गया है। यहाँ यह बात और अधिक स्पष्ट हो जाती है कि लोक - मानस केवल विवेक पूर्ण ही नहीं होता अपितु वह विवेक मुक्त भी

---

१ "सभ्यता की वृद्धि के साथ - साथ ज्यों - ज्यों मनुष्य के व्यापार बहुरूपी और जटिल होते गए त्यों - त्यों उसके मूल रूप बहुत कुछ कुछ आच्छन्न होते गए।" —— आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : चिन्तामणि, पहला भाग, पृ० ११४, इण्डियन प्रेस पब्लिकेशंस प्रा० लि०, प्रयाग, १९७१।

होता है। उसमें जहाँ अति प्राचीन अवशेष हैं, वहाँ उसमें कल के "विवेलुज" या "ऐतिहासिक" अवशेष भी हैं। चूँकि लोक-जीवन लोक-मानस की ही क्रियात्मक अभिव्यक्ति है अतः लोक-जीवन में भी सभ्य या शिष्ट जीवन के चिह्न मिलना अनिवार्य है। यह बात दूसरी है कि ये शिष्ट जीवन के प्रभाव - शिष्टों की भाँति तर्काश्रित नहीं होते अपितु वह उन्हें भावात्मक स्तर पर ग्रहण करता है। अतः निष्कर्ष निकला कि कल का शिष्ट जीवन आज के "लोक - जीवन" का निर्माण करता है और आज का लोक - जीवन कल के आने वाले आदिम जीवन का। क्योंकि जो आज लोक है कल की बढ़ी हुई सभ्यता में वही आदिम पुकारा जायगा। जिस प्रकार कि कल की बढ़ी हुई सभ्यता में आज का शिष्ट "लोक" की संज्ञा ग्रहण कर लेगा। ऐसे कहा जा सकता है कि आज जो हमें आदिम जातियाँ दिखाई दे रही हैं उनमें किसी सभ्यता के अवशेष नहीं होंगे और वे शुद्ध रूप से आदिम ही होंगी। यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि हम पहले तो कह आए हैं कि लोक से शिष्ट का और आदिम से लोक का निर्माण होता है तो फिर यहाँ इस प्रकार का उल्टा निष्कर्ष कैसे निकाल दिया। इस सम्बन्ध में हमारा स्पष्टीकरण यह है कि दोनों ही प्रक्रियाएँ सही हैं। प्रारम्भ तो नीचे से ही ऊपर चढ़ने से होता है बाद में कोई ऊपर से नीचे आ सकता है। और फिर यह प्रक्रिया बहुत बार तक दुहराई जा सकती है या दुहरती रह सकती है। अतः प्रारम्भ तो आदिम से ही हुआ किन्तु फिर शरीर में रक्त की भाँति समाज में संस्कारिता की यह प्रक्रिया निरन्तर शिष्ट से आदिम और आदिम से शिष्ट की ओर चलती रहती है जिसमें "लोक" की भूमिका हृदय के समान होती है, जहाँ पर कि समाज की संस्कारिता का रक्त छनता रहता है। यदि

इस बात को हम अध्यात्मक भाषा में कहें तो कहा जा सकता है कि " लोक " आत्मा है, समाज शरीर है जिसमें शिष्ट और आदिम क्रमशः उसके बुद्धि और हृदय हैं ।

भारतवर्ष अनेक जातियों का शरणस्थल है । इसे हम जातियों का अजायबघर कहें तो अत्युक्ति नहीं होगी । यहाँ आर्यों से लेकर शक, हूण, आभीर, तुर्क, मुसलमान, अफगान, पुर्तगीज़ और अंग्रेज़ जैसी जातियाँ आकर रही हैं । और इन से भी पूर्व भील आदि जातियों के अवशेष भी यहाँ मिलते हैं । निश्चय ही ये जातियाँ अपना जीवन किसी लोक-कथा के राक्षस या पिशाच की भाँति कहीं पेड़ की कोटर या तोते आदि में रख कर नहीं आई होंगी । ये यहाँ आई होंगी तो अपने जीवन के, अपनी सभ्यता के भी कुछ प्रभाव यहाँ छोड़ गयी होंगी " । यहाँ ध्यातव्य है कि इनमें से बहुत सी तो यहीं की होकर रह गई थीं । ये अवशेष भी शिष्टों के माध्यम से यहाँ के लोक में प्रवेश कर गए होंगे । और इस प्रकार भारतीय " लोक " अपने आदिम रूप से बहुत दूर निकल आया । यह प्रसन्नता का विषय है कि इतने पर भी भारतीय लोक-जीवन में बहुत कम ही परिवर्तन आया है, अन्यथा इतने पर तो भारतीय " लोक " का रूप ही कुछ और होता । किन्तु यह भारत की संस्कृति की विशेषता (समन्वय) की कृपा है कि उनमें से अधिकांश यहीं के रंग में रंग गईं " । और भारतीय लोक-जीवन में कोई विशेष परिवर्तन न ला सकीं । किन्तु इतिहास गवाह है कि भारतवर्ष में सबसे अन्त में आने वाली दो जातियाँ मुसलमान और अंग्रेज़ और इनमें भी विशेष कर अन्तिम, भारतीय-जीवन को बहुत कुछ प्रभावित कर गयीं । लेकिन उसका भी प्रभाव अधिकतर शिष्ट जनों पर ही है । लोक-जीवन पर उसका वैसा प्रभाव नहीं

पहुँचे पाया । किन्तु इसमें भी सन्देह नहीं कि उसके प्रभाव ने भारतीय लोक - जीवन को भकझोर डाला और उसमें एक प्रकार की अस्त - व्यस्तता उत्पन्न कर दी । अस्तु यदि हम सांस्कृतिक इतिहास की दृष्टि से देखें तो वर्तमान लोक - जीवन को संक्रान्ति कालीन लोक - जीवन कह सकते हैं । प्रस्तुत शोध - प्रबन्ध की यह सब से बड़ी समस्या है कि लोक - जीवन वैसे ही इतना तरल है, कि उसे शिष्ट और आदिम से पृथक् करना तक कठिन है उस पर भी यह संक्रान्ति कालीन अस्त - व्यस्त लोक - जीवन तो और भी पकड़ के बाहर है । इसे परिभाषाओं में बाँधना तथा इसके एक - एक तत्व का स्पष्ट निर्देशन या निरीक्षण करना बहुत ही कठिन हो गया है । फिर भी इस शोध प्रबन्ध में मेरा प्रयास उसे अधिक से अधिक स्पष्ट रूप में देख सकने का रहा है । " लोक " और " लोक - मानस " पर इतनी बड़ी विवेचनात्मक टिप्पणी प्रस्तुत करने का भी मेरा यही उद्देश्य रहा है कि मैं लोक - जीवन के स्वरूप को भली भाँति समझ सकूँ और उसे स्पष्ट कर सकूँ । ताकि मैं भी लोक - जीवन सम्बन्धी कार्य करने वाले अन्य गुणी जनों की भाँति लोक - जीवन के नाम पर एक पक्ष जड़ और अति प्राचीन परम्पराओं का ही अध्ययन करने मात्र में अपने कार्य की इतिश्री न समझ लूँ । मैंने अनेक ग्रन्थों में देखा है कि सैद्धान्तिक रूप से तो विद्वान लोक - जीवन को गतिमान मानते हैं किन्तु व्यवहार में वे उसके स्थिर और जड़ भाग का ही अध्ययन कर पाते हैं । इसका कारण शायद " लोक " की धारणा का पूर्णत: स्पष्ट न होना रहा है । प्राय : विद्वान लोक को खींच कर आदिम के निकट ले जाते हैं और शिष्ट से उसका भेद करने में उसे शिष्ट से बिल्कुल काट - सा देते हैं ।

वे भूल जाते हैं कि वर्तमान लोक – जीवन अब केवल धार्मिक ही नहीं, उसमें अर्थ का भी बहुत महत्वपूर्ण स्थान है। उसमें अब राजनीतिक चेतना भी जागृत होने लगी है। और इस प्रकार भारतीय लोक का वर्तमान जीवन बहुत कुछ वैविध्यपूर्ण रूप में सामने आया है।

लोक – जीवन के संचालक — (ज्ञान और मनोविकार)

किसी वस्तु की जीवन्तता का प्रत्यक्ष प्रमाण उसकी क्रियाशीलता ही होती है। जब हम कहते हैं कि अमुक वस्तु में जीवन है तो इसका तात्पर्य यह होता है कि वह वस्तु क्रियाशील है। अब प्रश्न यह उठता है कि इस " जीवन " या क्रियाशीलता का कारण क्या है? प्रायः अनेक पाश्चात्य विचारक और उन्हीं के ढर्रे पर सोचने वाले बहुत से भारतीय भी इसके मूल में मनुष्य का ज्ञान और उसकी इच्छाओं का होना मानते हैं। बात सही है किन्तु इसकी सत्यता भी उतनी ही है जितनी कि फ्रायड की अचेतन के सम्बन्ध में घोषणा की सत्यता। जिस तरह फ्रायड का अचेतन, जैसा कि हम पीछे कह चुके हैं जीवन के सभी व्यापारों का प्रेरक नहीं है उसी तरह ज्ञान भी जीवन के सभी व्यापारों का प्रेरक नहीं हो सकता। यह तो जीवन रूपी मशीन को चलाने वाली बिजली का मात्र एक तार है। दूसरा तार उसका अभी बाकी है। और यह दूसरा तार ही शुक्ल जी की भाषा में " भाव " या " मनोविकार " है। वे कहते हैं — "" समस्त मानव – जीवन के प्रवर्तक भाव या मनोविकार ही होते हैं। मनुष्य की प्रवृत्तियों की तह में अनेक प्रकार के भाव ही प्रेरक के रूप में पाये जाते हैं। शील या

चरित्र का मूल भी भावों के विशेष प्रकार के संगठन में ही समझना चाहिये। लोक-रक्षा और लोक-रंजन की सारी व्यवस्था का ढाँचा इन्हीं पर ठहराया गया है।"[1] यहाँ ध्यातव्य है कि शुक्ल जी ने यह "भाव" या "मनोविकार" शब्द बड़े व्यापक अर्थ में प्रयुक्त किया है। इनकी अभिव्यक्ति में उच्चमानसिक शक्तियों के प्रभाव को भी देखा जा सकता है किन्तु यह प्रभाव कभी स्पष्ट नहीं होता। क्योंकि मनुष्य इन उच्च मानसिक शक्तियों के उतने ही भाग से प्रभावित होता है जिसमें सार्वजनीन बनने की क्षमता होती है। और सार्वजनीन होने पर ये लोक में पूरी तरह घुल-मिल जाती हैं।

अतः निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि पीछे हम जिसे न्यूरोटिक कह आए हैं वह शिष्ट समुदाय अपने जीवन में प्रधान रूप से ज्ञान द्वारा प्रेरित होता है (भाव भी उसे प्रेरित करते हैं किन्तु गौण रूप से)। तथा हमारा "लोक", जिसे हम पीछे इमोशनल कह आए हैं, भाव या मनोविकारों से प्रेरित होकर कर्म में प्रवृत्त होता है। यह बात दूसरी है कि उसमें ज्ञान उच्चमानसिक शक्तियों के भी प्रमाण रहते हैं। और जहाँ भाव अपेक्षाकृत शुद्ध रूप में (उच्च मानसिक शक्तियों के प्रभाव से मुक्त) है, वह समुदाय आदिम या आदिवासी जाति कहा जायगा। अतः जब हम लोक-जीवन का अध्ययन करते हैं तो हमें यह अवश्य ध्यान में रखना चाहिए कि लोक-जीवन के प्रेरक-शक्ति

---

१ आ० रामचन्द्र शुक्ल : चिन्तामणि : पृ० ३, इण्डियन प्रेस (पब्लिकेशन्स) प्रा० लि० प्रयाग, १९७१।

ये " भाव " या " मनोविकार " ही हैं । क्योंकि इन्हीं भाव या मनोविकारों के " और - और " लक्ष्यों की स्थापना " होने पर तथा इनकी अभिव्यक्ति के लिये " बुद्धि द्वारा निश्चित व्यापारों का विधान " [1] होने से ही लोक - जीवन में जटिलता और विविधता उत्पन्न होती है । और लोक - जीवन में नए - नए कार्य-क्षेत्रों का उद्घाटन होने लगता है ।

इन भाव या मनोविकारों के सम्बन्ध में शुक्ल जी लिखते हैं कि - " नाना विषयों के बोध का विधान होने पर ही उनसे सम्बन्ध रखने वाली इच्छा की अनेकरूपता के अनुसार अनुभूति के ये भिन्न - भिन्न योग संघटित होते हैं जो भाव या मनोविकार कहलाते हैं। " [2] यहाँ भाव या मनोविकारों के निर्माण में शुक्ल जी ने तीन तत्त्वों की ओर इंगित किया है — १- नाना विषयों के बोध का विधान, २- सुख - दुःखात्मक अनुभूति, तथा ३- इच्छा की अनेकरूपता । इनमें से सुख - दुःखात्मक अनुभूति मनुष्य जन्म से ही लेकर आता है — " अनुभूति के द्वन्द्व से ही प्राणी के जीवन का प्रारम्भ होता है । " [3] ये दोनों

---

१ " ..... भावों के आदिम और सीधे लक्ष्यों के अतिरिक्त और - और लक्ष्यों की स्थापना होती गई, वासनाजन्य मूल व्यापारों के सिवा बुद्धि द्वारा निश्चित व्यापारों का विधान बढ़ता गया । इस प्रकार बहुत से ऐसे व्यापारों से मनुष्य घिरता गया जिनके साथ उसके भावों का सीधा लगाव नहीं — ।

" भावों के विषयों और उनके द्वारा प्रेरित व्यापारों में जटिलता आने पर भी उनका सम्बन्ध मूल विषयों और व्यापारों से भीतर - भीतर बना है और बराबर बना रहेगा । "

— आ० रामचन्द्र शुक्ल : चिन्तामणि, पृ० ११४-११५, इण्डियन प्रेस पब्लिकेशन्स प्रा० लि० प्रयाग, १९७१ ।

२ - वही - पृ० १ ।

३ - वही - पृ० १ ।

की अनुभूतियाँ मनुष्य की प्रकृति प्रदत्त हैं। जहाँ तक "नाना विषयों के बोध के विधान" का प्रश्न है - यह मनुष्य के इस संसार में आने पर प्रत्यक्ष ज्ञान के द्वारा होता है।[1] वह विभिन्न वस्तुओं को देखता और सुनता है। इन वस्तुओं में से कुछ तो उसकी प्रारम्भिक अवस्था की होती हैं, जैसे — नदी, नाले, पर्वत, मैदान आदि और कुछ ऐतिहासिक परम्परा से प्राप्त जैसे — रेल, मोटर, हवाई जहाज आदि। यहाँ हम शुक्ल जी की इस मान्यता से सहमत नहीं हैं कि "" कल - कारखाने, गोदाम, स्टेशन, इंजन, हवाई जहाज जैसी वस्तुओं तथा अनाथालय के लिये चैक काटना, सर्वस्वहरण के लिये जाली दस्तावेज बनाना, मोटर की चर्खी घुमाना या इंजन में कोयला झोंकना आदि व्यापारों "" के द्वारा वैसा रस परिपाक नहीं हो सकता जैसा कि आदिम वस्तुओं और व्यापारों से।[2] वास्तव में मनुष्य में जहाँ आदिम विषयों के बोध का विधान होता है वहीं मानव कृत विषयों के भी बोध का विधान होता है। और इस प्रकार "अनादिम" या "ऐतिहासिक" वस्तुओं और व्यापारों से भी उसका भावात्मक संबंध स्थापित होता है। वर्तमान "लोक" इन वस्तु और व्यापारों से भी अपना रागात्मक संबंध स्थापित

---

१ "" इस प्रत्यक्ष ज्ञान के सम्बन्ध में शुक्ल जी का कथन है — "मनुष्य के प्रत्यक्ष ज्ञान में देश और काल की परिमिति अत्यन्त संकुचित होती है। मनुष्य जिस वस्तु को जिस समय और जिस स्थान पर देखता है उसको उसी समय और उसी स्थान की अवस्था का अनुभव उसे होता है।" ""

— आ० रामचन्द्र शुक्ल : चिन्तामणि, पृ० ४१, इण्डियन प्रेस (पब्लिकेशन्स) प्रा० लि० प्रयाग, १९७१।

२ - वही - पृ० ११५।

कर रहा है और इनमें से वस्तुओं से ही उसका रागात्मक संबंध स्थापित हो भी चुका है। कहने का तात्पर्य यह है कि मनुष्य के " बोध " के विषयों का और साथ ही बोध का निरन्तर विस्तार होता रहता है। स्वयं शुक्ल जी ने इस बात को आगे स्वीकार किया है।[१] वास्तव में शुक्ल जी की इस भ्रान्ति का कारण वर्तमान लोक - जीवन में उत्पन्न संक्रान्ति की स्थिति हो सकती है। जो भी हो, इन नाना विषयों के बोध के विधान के साथ जब उसकी प्रवृत्ति - प्रसूत अनुभूतियों का सम्बन्ध होता है तभी उसमें इच्छा की अनेकरूपता जागृत होती है। और यह इच्छा की अनेकरूपता ही इन दोनों के साथ अपना सम्बन्ध करके मनोविकारों को जन्म देती है। यथा सुई चुभने पर बच्चा सुई के साथ अपनी दुखद अनुभूति के योग के परिणाम स्वरूप यह जानता है कि इससे दुख होता है, दुख से बचने की प्रवृत्ति उसमें उस सुई से बचने की इच्छा को जन्म देती है। और यह इच्छा पुनः उसके तद्विषयक ज्ञान के साथ समागमित होकर भय नामक मनोविकार को जन्म देती है।

इस उदाहरण में सुई और दुख के बीच कार्य - कारण संबंध की स्थापना ही उसका " ज्ञान " है। सुई से बचने की प्रवृत्ति ही इच्छा है तथा इस इच्छा के उपरान्त पुनः उस सुई तथा दुख के कार्य - कारण का ध्यान आने पर भविष्य में भी वह उससे बचता है यही उसका " भय " है। किन्तु इस प्रक्रिया से उत्पन्न ये मनोविकार तात्कालिक या क्षणिक होते हैं। इनमें स्थायित्व मनुष्य के आस्था और विश्वासों से प्राप्त

---

१ आ० राम चन्द्र शुक्ल : चिन्तामणि, पृ० ११४ - ११५, इण्डियन प्रेस (पब्लिकेशन्स) प्रा० लि०, प्रयाग, १९७१।

होता है। उदाहरण के लिये हम पुनः सुई की घटना को ही लेते हैं। यदि यह सुई की घटना उसके जीवन में अनेक बार घटती रहे तो उसको विश्वास हो जायगा कि सुई दुखद है और वह सदैव उससे भय खाने लगेगा। यदि यह घटना बार - बार नहीं घटित होती तो वह सुई से मात्र सावधान रहने का प्रयास करेगा। डर कर भागेगा नहीं। घटनाओं के बार - बार आवृत्त होने पर ही मनुष्य के मनोविकारों के उपरान्त आस्था, विश्वास या मान्यताएं बनती हैं। और मनोविकारों का स्थायित्व और उनकी तत्परता इन्हीं आस्था, विश्वास और मान्यताओं पर निर्भर करती है। इस प्रकार मनुष्य के जीवन संचालन में मनोविकारों के साथ - साथ मनुष्य की आस्था, विश्वास और मान्यताएं भी अपना योगदान देते हैं।

ये आस्था और विश्वास जिन वस्तु और व्यापारों के प्रति होते हैं, उन वस्तु और व्यापारों में कार्य - कारण सम्बन्ध का होना अनिवार्य नहीं। क्योंकि आदिम मानव के ज्ञान का आधार प्रत्यक्ष अनुभव ही होता है। अतः इन वस्तु और व्यापारों में "समकालीय सम्बन्ध भी हो सकता है। किन्तु फिर भी ये आस्था और विश्वास आदि, मनुष्य की बुद्धि द्वारा निश्चित व्यापारों के साथ मिल कर रूढ़ियों तथा परम्पराओं का निर्माण करते हैं। यहाँ हम सुई वाले उदाहरण को फिर से लें तो बात स्पष्ट हो जायगी। सुई से बचने की इच्छा उत्पन्न होने पर मनुष्य सुई से बचने या उसे अपने से दूर हटाने के लिये प्रयत्न करता है। ये प्रयत्न अनेक प्रकार से हो सकते हैं जैसे वह स्वयं सुई से दूर भागे या उसे हाथ से रोके या किसी अन्य उपकरण से उसे रोके आदि - आदि। उसके विभिन्न प्रयत्न से सुई सरलता पूर्वक

छूट जाती है वह उसी प्रयत्न को दुःख हटाने के लिये उपयुक्त मान लेता है । इस प्रकार उसकी मान्यताओं का जन्म होता है । इस मान्यता के साथ ही अपने जीवन में जब तक कोई और सरल विधि उसको पता नहीं लग जाती तब तक दुःख को हटाने के लिये हरबार वही प्रयत्न करता है । और यही परम्परा है । क्योंकि एक विशेष स्थिति में अपने विशेष प्रयत्न को दुहराना ही परम्परा होती है। लोक - जीवन में मनुष्य के आस्था, विश्वास, मान्यता तथा परम्परा आदि का इसी प्रकार जन्म होता है । और इन्हीं सब के द्वारा लोक - जीवन का संचालन होता है ।

मनुष्य की ये आस्था, रूढ़ियाँ, मान्यताएँ, परंपराएँ आदि कोई अवस्तु नहीं हैं अपितु ये भी एक प्रकार का ज्ञान है जो प्रत्यक्ष ज्ञान से पृथक् होते हुए भी तर्कशून्य ज्ञान है । इसमें हम तर्क खोज सकते हैं किन्तु जो इसका उपयोग करते हैं वे इसके तर्क को नहीं जानते । जिस प्रकार मनुष्य की द्वन्द्वात्मक अनुभूति तथा " नानाविधयों के बीच का विधान " के आपस में मिलने पर इच्छा जगत् की सृष्टि होती है उसी प्रकार मनुष्य के मनोविकारों के साथ इस तर्कशून्य ज्ञान के संयोग से क्रिया जगत की सृष्टि होती है । यहाँ यह ध्यातव्य है कि यह " ज्ञान " उस शास्त्रीय ज्ञान से पृथक् है जिसे हम पीछे उच्च मानसिक भूमि कह आये हैं । साथ ही इस ज्ञान से भी यह पृथक् है जो " प्रत्यक्ष ज्ञान " कहा जाता है और आदिम मानव में होता है । यह तर्क शून्य ज्ञान, शास्त्रीय ज्ञान की भाँति मनुष्य को पुस्तकों की परम्परा से नहीं मिलता अपितु इसकी परम्परा मौखिक होती है और दूसरी ओर " प्रत्यक्ष ज्ञान " की अपनी कोई परम्परा नहीं होती । यह " तर्कशून्य ज्ञान " ही लोक - जीवन

को परिचालित करता है। किन्तु इस ज्ञान में प्रत्यक्ष ज्ञान और शास्त्रीय ज्ञान का भी कुछ कुछ दाय होता है।

"लोक" के इस तर्क-शून्य ज्ञान में जितनी विविधता होती है, लोक का जीवन भी उतना ही वैविध्यपूर्ण होता है। जिन-जिन वस्तुओं और व्यापारों के प्रति मनुष्य के इस ज्ञान का विकास हुआ होगा, उसके जीवन में उन-उन वस्तुओं और व्यापारों का उतना ही अधिक महत्त्व होगा।

लोक-जीवन के विविध पक्ष

लोक जीवन के अन्तर्गत इस क्रिया जगत, या कार्य व्यापारों से स्वयं प्रकाश ज्ञान (आस्था, रूढ़ि, विश्वास) आदि को पृथक करना असम्भव है। वास्तव में नाना विषयों के बोध के विकास से लेकर कार्य-व्यापारों तक की यह प्रक्रिया इतनी संश्लिष्ट है कि इसमें से किसी एक वस्तु का पृथक से अध्ययन नहीं किया जा सकता। इसका एक कारण यह भी है कि यह कार्य व्यापार जो स्वयं प्रकाश ज्ञान के परिणाम हैं धीरे-धीरे स्वयं प्रकाश ज्ञान के कारण भी बन जाते हैं और इस प्रकार स्वयं प्रकाशज्ञान से कार्य-व्यापार और कार्य-व्यापारों से स्वयं प्रकाश ज्ञान की या कार्य से कारण और कारण से कार्य की निरन्तर वृद्धि होती रहती है। व्यावहारिक जीवन में हम इसे यों देख सकते हैं कि जब एक व्यक्ति जागृत अवस्था में कर्म में प्रवृत्त रहता है तब भी वह जीवित कहा जाता है और जब वह रात को सो जाता है तब भी उसको जीवित ही कहा जाता है। इसी प्रकार

बेहोशी की अवस्था में भी वह जीवित ही होता है। वास्तव में जब वह सो रहा होता है या बेहोश होता है तो भी उसकी चेतना निरन्तर क्रियाशील रहती है और जागृत अवस्था में भी उसकी चेतना क्रियाशील रहती है। अन्तर केवल इतना है कि जागृत अवस्था में उसकी चेतना की क्रियाशीलता की उसके व्यवहार में अभिव्यक्ति होती है और अचेतावस्था में उसकी अभिव्यक्ति नहीं होती। इसलिये हम कह सकते हैं कि मनुष्य अपने जीवन को दो स्तरों पर जीता है — १- आन्तरिक जगत में, २- व्यावहारिक जगत् में। अतः जीवन के दो भेद या दो पक्ष यहाँ हमें स्वीकार करने होंगे —— (१) आन्तरिक जीवन (२) व्यावहारिक जीवन। लोक - जीवन के अध्ययन में हम लोक के इन दोनों ही जीवन के पक्षों का अध्ययन करेंगे और तभी हमारा अध्ययन पूर्ण भी होगा।

(१) लोक का आन्तरिक जीवन

लोक - जीवन का यह अंतरंग पक्ष है। इसमें मुख्य रूप से लोक - विश्वास तथा लोक - मान्यताओं एवं लोक रुचि का अध्ययन होता है। रूढ़ियों, परम्पराओं तथा अन्य धार्मिक विश्वासों में इन्हीं की अभिव्यक्ति हमें देखने को मिलती है। लोक - नीति (लोक-विधान) के निर्माण में भी इन्हीं लोक-विश्वासों और मान्यताओं तथा रूढ़ियों का प्रधान रूप से हाथ रहता है। लोक की चित्रकला में भी इन्हीं की अभिव्यक्ति होती है और लोक के अनुष्ठानों के, जिनका कि वह समय - समय पर आयोजन करता है, प्रेरणास्रोत भी यही रहते हैं। यहाँ, लोक गीतों की धुनों के पीछे लोक - रुचि अपना कार्य करता है।

लोक अपने ऊपर किसी प्रकार का बन्धन स्वीकार नहीं करता । उसकी गति स्वच्छन्द और निर्बन्ध है । यही कारण है कि शिष्ट जनों के काव्य में छन्दों का जो नियमबद्ध रूप मिलता है, लोक गीतों में उसका सर्वथा अभाव रहता है । उसके छन्द, तुक और वर्ण या मात्राओं के बन्धन से मुक्त रहते हैं । इसीलिये हम उनको लोक - छन्द न कह कर लोक - धुन कहते हैं । साथ ही लोक के अनेक विश्वास, आस्थाएँ, परम्पराएँ आदि लोक - साहित्य में अभिव्यक्त होते हैं अत: लोक - जीवन के अन्तर्गत हम लोक - साहित्य का भी अध्ययन करेंगे । लोक - भाषा में भी लोक - जीवन की अभिव्यक्ति होती है । अत: मुहावरे, लोकोक्तियाँ तथा लोक - भाषा का भी अध्ययन इसके अन्तर्गत करना अनिवार्य हो जाता है ।

इस प्रकार लोक के आन्तरिक जीवन के अन्तर्गत हम निम्नलिखित तत्वों का अध्ययन करेंगे ——

।१। <u>लोक - विश्वास</u> - इसमें भूत, प्रेत, शकुन, अपशकुन, सौभाग्य, भाग्य आदि के प्रति लोक का विश्वास आता है।

।२। <u>लोक - परम्पराएँ</u> - इसके अन्तर्गत पर्व, पावन और इसी प्रकार के अन्य उत्सव, अनुष्ठानों के अतिरिक्त व्यवहार में आने वाले बहुत से रीति - रिवाज आदि आते हैं ।

।३। <u>लोक - मान्यताएँ</u> - इनमें लोक की वे धारणाएँ आती हैं जिनमें किन्हीं वस्तुओं का कार्य - कारण सम्बन्ध अलौकिक या भावात्मक स्तर पर प्रदर्शित होता है । जैसे - ज्योतिष

पर विश्वास, जादू तथा किसी वस्तु की उत्पत्ति या समाप्ति के सम्बन्ध में विश्वास ।

(4) <u>लोक रूढ़ियाँ</u> - वे परम्परायें जिनकी ऐतिहासिकता के संबंध में कुछ भी कहना कठिन है तथा जिनके पीछे लोक के अपने विश्वास भिन्न - भिन्न रूपों में कार्य करते हैं, इसके अन्तर्गत आते हैं ।

(5) <u>लोक - आस्था</u> - मुख्य रूप से लोक की ईश्वर सम्बन्धी वे आस्थायें जिनका संबंध पुराण से है । तथा जिनके लिये एक धार्मिक विश्वास की आवश्यकता पड़ती है लोक - आस्था के अन्तर्गत रखे जायेंगे ।

(6) <u>लोक - रुचि</u> - लोक की अपनी इच्छा - आकांक्षायें तथा उसकी विषय संबंधी भावनायें आदि इसके अन्तर्गत आती हैं ।

(7) <u>लोक - अनुष्ठान</u> - वे क्रियायें जिनका लोक, किसी विशेष धार्मिक आस्था, तथा धार्मिक मान्यता के कारण किसी विशेष फल की प्राप्ति के लिये समय - समय पर आयोजन करता है लोक-अनुष्ठान के अन्तर्गत आती हैं ।

(8) <u>लोक - कला</u> - इसके अन्तर्गत, विशेष कर लोक की चित्र कला, जिसके मूल में प्रायः उसके धार्मिक विश्वास ही होते हैं, तथा लोक की संगीत कला जिसमें विशेष अवसरों पर गाये जाने वाली गीतों की धुनें तथा उनके लिये वाद्य यन्त्र आते हैं । लोक की वास्तु कला का भी अध्ययन इसी के अन्तर्गत आता है।

।४। <u>लोक - साहित्य</u> - इसके अन्तर्गत हम लोक - भाषा, मुहावरे, लोकोक्तियों के साथ - साथ, लोक की अभिप्राय-रूढ़ियों तथा लोक गीत और लोक - कथा एवं लोक गाथाओं के नायकों का अध्ययन इसलिये करते है कि उनमें भी लोक - जीवन की अभिव्यक्ति होती है। बिम्ब, उपमान तथा कल्पना का अध्ययन भी इसी के अन्तर्गत किया जायगा।

अस्तु, स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी काव्य में लोक के आन्तरिक जीवन की अभिव्यक्ति का अध्ययन करने के लिये उसमें उपर्युक्त सभी तत्वों का अध्ययन करना हमारा कर्तव्य हो जाता है।

।२। लोक का व्यावहारिक जीवन :

लोक के वास्तव जीवन में सभ्यता के विकास के साथ - साथ अनेक विषमताएं उभरी हैं जैसा कि हम पीछे स्पष्ट कर चुके हैं। यों तो जो नए वैयक्तिक बोध आज लोक के स्पष्ट हो रहे हैं, तात्विक रूप से वे बहुत पहले से ही लोक में विद्यमान थे, किन्तु वर्तमान लोक में उनका विकास हुआ है, साथ ही कुछ परिवर्तन भी। अतः लोक के वास्तव जीवन को, अध्ययन करने की दृष्टि से हम अपनी सुविधा के लिये छः भागों में विभक्त करते हैं --- १- लोक का सामान्य जीवन, २- जातीय जीवन, ३- पारिवारिक जीवन, ४- धार्मिक - सांस्कृतिक जीवन, ५- आर्थिक जीवन तथा ६- राजनीतिक जीवन। वैसे तो ये जीवन के सभी अभिन्न अंग हैं। इनमें से किसी का भी पृथक अध्ययन करना असम्भव सा है, फिर भी अध्ययन की सुविधा के लिये तथा अपने अध्ययन

को वैज्ञानिक बनाने के लिये ये भेद किये जा सकते हैं। वास्तव में ये लोक - जीवन के भेद नहीं हैं। लोक - जीवन तो एक अखण्ड पदार्थ है जो भेद हीन है। ये उपर्युक्त नाम जो हमने जीवन को दिये हैं हमारी दृष्टियों के ही नाम हैं। जिस प्रकार दृश्य, दृष्टि से भिन्न नहीं है उसी प्रकार लोक-जीवन भी दृष्टि से पृथक नहीं है। और इस प्रकार ये दृष्टियों के भेद लोक - जीवन के ही हो जाते हैं। यहाँ संक्षेप में इन लौकिक क्षेत्रों के अन्तर्गत हम जिन विषय, वस्तुओं तथा व्यापारों का अध्ययन करेंगे वे इस प्रकार हैं —

१— <u>लोक का सामान्य जीवन</u>

इसके अन्तर्गत हम भोज्य पदार्थ, पात्रादि उपकरण, वाहन तथा मनोरंजन के साधन, वस्त्राभूषण, सामान्यतः दैनिक जीवन, अपराध तथा दण्ड, प्रकृति से उसके जीवन के सम्बन्ध और जीवन पर उसके प्रभावों एवं लोक की यात्रा आदि का अध्ययन करेंगे। वस्तुतः सामान्य जीवन द्वारा हम लोक - जीवन पर एक समग्र या विहंगम दृष्टि डालते हैं।

२— <u>जातीय जीवन</u>

समाज में नारी की स्थिति, जातीय शोक तथा विपत्तियाँ, समाज की वर्ण-व्यवस्था, वर्ण और जातिभेद, विवाह, मेला, लोक - प्रथाएं, लोगों के आपसी संबंध, कृषक - जीवन तथा ग्रामीण जीवन आदि का अध्ययन करेंगे।

३— पारिवारिक जीवन

पारिवारिक संबंध, रिश्ते – नाते, नारी की परिवार में स्थिति, पारिवारिक उत्सव जैसे – जन्मोत्सव, विवाहोत्सव आदि, दाम्पत्य जीवन, पशुओं से संबंध तथा परिवार का दैनिक जीवन आदि का अध्ययन इसके अन्तर्गत आता है।

४— धार्मिक-सांस्कृतिक जीवन

व्रत, पर्व, उत्सव, त्योहार, पूजा – पाठ, प्रार्थनाएँ, सम्प्रदाय, संस्कार तथा धार्मिक स्थल — तीर्थ, मन्दिर, मस्जिद आदि का अध्ययन इसके अन्तर्गत आता है।

५— आर्थिक जीवन

इसके अन्तर्गत सम्पत्ति, व्यवसाय — कृषि, व्यापार, नौकरी आदि, आर्थिक स्थिति, ऋण तथा धन की व्यवस्था, धन संचय के साधन, विनिमय व्यवस्था तथा आय – व्यय आदि आते हैं।

६— राजनीतिक जीवन

राजतन्त्र — शासन व्यवस्था, विधान – दण्डविधान, स्थानीय राजनीति, राष्ट्रीय जीवन, युद्ध और शान्ति तथा राजनीतिक विरोध और सहयोग आदि इसके अन्तर्गत आते हैं।

इस प्रकार उपर्युक्त दृष्टियों से लोक के बाह्य जीवन का अध्ययन करने पर तथा उसके आन्तरिक जीवन का अध्ययन करने पर हमें आशा है कि

स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कविता में अभिव्यक्त लोक – जीवन की सच्ची और सम्यक तस्वीर आँकने में सफलता आ जायेगी ।

हाँ, लोक के इन आन्तरिक और बाह्य जीवनों में जहाँ एक सफलता है वहीं लोक – जीवन में कहीं असफलता ने भी प्रवेश कर लिया है । जैसा कि हम पीछे संकेत कर चुके हैं, वर्तमान काल लोक – जीवन का संक्रान्ति काल है तथा संक्रान्ति कालीन स्थिति स्थायी नहीं होती । लोक के अपने विश्वास, आस्थाओं आदि पर योरोपीय सभ्यता तथा वैज्ञानिक उन्नति तथा विश्व स्तर पर अर्थ के बढ़ते हुए महत्व ने बहुत बड़ा प्रभाव डाला है और इस प्रकार लोक – जीवन को एक बार झकझोर दिया है । कहा नहीं जा सकता कि लोक की अनेक आस्थाएँ, विश्वास, मान्यताएँ, परम्पराएँ, रूढ़ियाँ आदि इस झटके में अपने को स्थिर रख सकेंगी या नहीं । वर्तमान कविता ने लोक की इस संक्रान्तिकालीन स्थिति को भी चित्रित किया है । अस्तु, स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कविता में लोक – जीवन के अपने इस अध्ययन को पूर्ण बनाने के लिये हमें संक्रान्ति-कालीन लोक – जीवन का अध्ययन करना होगा ।

३– लोक – जीवन में संक्रान्ति की स्थिति –

वर्तमान कविता में सर्वाधिक इसी स्थिति का चित्रण हुआ है । वास्तव में यह स्थिति भारतीय लोक – जीवन में मुख्यतः तीन कारणों से उत्पन्न हुई है —— १– विदेशी सभ्यताओं के प्रभाव से, २– वैज्ञानिक युग के निरन्तर विकास के कारण, तथा ३– विश्व स्तर पर बढ़ती हुई अर्थ की महत्ता के कारण ।

लोक - जीवन के अध्ययन में हम लोक - जीवन की इस स्थिति को भुला नहीं सकते। भारतीय लोक - जीवन में उत्पन्न होने वाली इस विषम परिस्थिति को लगभग सभी विद्वानों ने स्वीकार किया है।

कविता की लोकोन्मुखी धारा

द्वितीय अध्याय

कविता की लोकोन्मुखी धारा

विश्व-साहित्य के इतिहास में कविता की प्राचीनता स्वयं सिद्ध है। यदि हम कहें कि कविता उतनी ही पुरानी है जितनी कि मनुष्य की रागात्मिका वृत्ति, तो कोई अत्युक्ति न होगी। आदि कवि की वाणी में इस रागात्मिका वृत्ति की ही परोक्ष अभिव्यक्ति हुई है।[1] इसीलिये ध्वनिकार काव्य का जन्म शोक से मानने को बाध्य हुए[2] और पन्त जी को कहना पड़ा —

> "वियोगी होगा पहला कवि आह से उपजा होगा गान।
> उमड़ कर आँसों से चुपचाप बही होगी कविता अनजान॥"[3]

वास्तव में मनुष्य की रागात्मिका वृत्ति और अनुभूति आपस में इतनी संपृक्त हैं कि उन्हें एक दूसरे से पृथक् नहीं किया जा सकता। क्योंकि इसीलिये अनेक विद्वान अनुभूति को ही कला मानते हैं। काव्य को कला मानने वाले पाश्चात्य विचारक और काव्य में रस तथा ध्वनि के प्रतिपादक भारतीय आचार्य सभी किसी न किसी रूप में कविता का संबंध अनुभूति से ही जोड़ते हैं। काव्य की आत्मा — रस, बताने वाले आचार्य भी अनुभूति पर ही बल देते हैं और ध्वनि को काम्य का प्राण मानने वाले मनीषी भी

---

१ "मा निषाद प्रतिष्ठां त्वं गमः शाश्वती समः।
यत्क्रौंच मिथुनादेक मवधी काम मोहितम् ॥"
— वाल्मीकि — वाल्मीकि रामायण, बालकाण्ड २।१५

२ ध्वन्यालोक १।५

३ सुमित्रानन्दन "पन्त" : पल्लविनी, पृ० १३६, भारती-भण्डार, इलाहाबाद, द्वितीय संस्करण, २००१ वि०।

अनुभूति की अभिव्यंजना को काव्य का आधार कहते हैं। पाश्चात्य विद्वान क्रोचे तो शुद्ध अनुभूति को ही कला मानते हैं। उनकी दृष्टि में कोई भी व्यक्ति प्रेरणा के क्षणों में ही, जबकि वह विषय के साथ तदाकार हो जाता है, कलाकार होता है, अन्य क्षणों में नहीं। वह सहजानुभूति को अभिव्यंजना मानता है तथा उसकी दृष्टि में यह अभिव्यंजना आन्तरिक होती है, बाह्य नहीं, मन के भीतर होती है, बाहर — पत्थर, चित्र-फलक, कागज आदि पर उसका होना आवश्यक नहीं।[1] पत्थर, चित्र-फलक, कागज आदि को वह कला की स्मृति में सहायक तथा इन पर कलाकृति को अंकित होने को पुनर्सर्जन मानता है। उसके अनुसार कविता का संबंध स्वयं प्रकाश-ज्ञान से है, जो सभी के पास होता है। इसी के कारण कवि कविता करता है और भावक उसका आनन्द लेता है। कवि के पास केवल अभिव्यक्त करने की शक्ति भावक की अपेक्षा अधिक होती है। भारत में भी "भावयित्री" और "कारयित्री" प्रतिभा कह कर आचार्यों ने कवि और भावक की समानता के साथ भिन्नता स्थापित की है। वास्तव में यह अनुभूति ही है जो विश्वमानव में ऐक्य स्थापित करती है। एक व्यक्ति की निजी अनुभूति सार्वकालीन भी होती है और व्यक्तिगत भी। कविता में शब्द, संगीत में स्वर, चित्र में फलक आदि के द्वारा उस व्यक्तिगत अनुभूति को कलाकार सबके पास तक पहुँचा देता है जिससे मानव-मानव के बीच एक भावात्मक ऐक्य स्थापित होता है।[2] इस प्रकार वह सार्वकालीन अनुभूति व्यक्तिगत से पुनः सार्वकालीन हो जाती है। कहने का तात्पर्य यह है कि

---

१ शान्ति स्वरूप गुप्त : पाश्चात्य काव्य शास्त्र, पृ० २५०, अशोक प्रकाशन, दिल्ली, तृतीय संस्करण, १९७० ।

कविता के माध्यम से (अनुभूति के कारण) व्यक्ति सम्पूर्ण मानवता के साथ एकात्मबंधन में बंधता है जो कि व्यक्ति और मानवता दोनों के लिये मांगलिक होता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जिसे "हृदय की मुक्तावस्था" कहते हैं, वह व्यक्ति हृदय का विश्व - हृदय में लीन हो जाना ही है। इस स्थिति को पहुँचे हुए मनुष्य में "जगत् की नाना गतियों के मार्मिक स्वरूप का साक्षात्कार और शुद्ध अनुभूतियों का संचार होता है, इस भूमि पर पहुँचे हुए मनुष्य को कुछ काल के लिये अपना पता नहीं रहता। वह अपनी सत्ता को लोक सत्ता में लीन किये रहता है।"[1]

इससे स्पष्ट है कि कविता का सीधा संबंध लोक से है। इतना ही नहीं, कविता की धारा सदैव लोकोन्मुखी होती है। आदि कवि वाल्मीकि से लेकर अद्यतन कवियों तक की काव्य - यात्रा का प्रवाह कविता की लोकोन्मुखी धारा के साथ ही रहा है। यह बात दूसरी है कि किसी युग में यह प्रवाह तीव्र और किसी युग में मन्द पड़ता रहा है। महाकवि कालिदास जब कण्व के आश्रम से विदा होती हुई शकुन्तला के लिये कण्व का तथा अन्य आश्रमवासी जनों का वियोगपूर्ण वर्णन करते हैं तो वह वियोग अकेले कण्व का नहीं रह जाता, अपितु प्रत्येक भारतवासी का हो जाता है। क्योंकि लोक-जीवन में आये दिन इस प्रकार के करुणाजनक दृश्य उपस्थित होते रहते हैं। इसीलिये "अभिज्ञान शाकुन्तलम्" के इस अंश[2] को पढ़ कर

---

१ रामचन्द्र शुक्ल : चिन्तामणि, पृ० ११३, इण्डियन प्रेस (पब्लिकेशंस) प्रा० लि०, प्रयाग, १९७१।

२ यास्यत्यद्य शकुन्तलेति हृदयं संस्पृष्टमुत्कण्ठया
कण्ठः स्तम्भितबाष्पवृत्तिकलुषश्चिन्ताजडं दर्शनम्।
वैक्लव्यं मम तावदीदृशमिदं स्नेहादरण्यौकसः
पीड्यन्ते गृहिणः कथं न तनयाविश्लेषदुःखैर्नवैः॥

—— अभिज्ञान शाकुन्तलम् ४।५

कोई भी भारतवासी प्रभावित हो उठता है। वास्तव में लोक - जीवन का चित्रण ही काव्य को प्रेषणीय और सहज संवेद्य बनाता है। और यही लोक-जीवन का अवगाहन महाकवियों की कीर्ति-पताका का कारण होता है। जो कवि लोक - जीवन के जितने अधिक निकट जायगा, वह कवि लोक में उतना ही समादृत और सम्मानित होगा।

हिन्दी साहित्य के इतिहास में "आरम्भिक नाराशंसी चरितकाव्यों तथा प्रेम-गीतों पर राजस्थानी लोक-वार्ताओं का गहरा प्रभाव है।..... ऐसा प्रतीत होता है कि ये काव्य मौखिक परंपरा से कुछ दिनों तक सामान्य जन के बीच गाये जाते रहे हैं, फिर भी कालान्तर में उन्हें लिपिबद्ध कर दिया अथवा किसी प्रतिभा संपन्न सुशिक्षित कवि ने उनको अपना कर परिष्कृत रूप दे दिया।"[१] यद्यपि रासोकाव्यों के कथानकों में प्रायः पूर्व परम्परागत संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश युग की प्रसंग रूढ़ियों का निर्वाह है, फिर भी उनमें प्रयुक्त अनेक लोक-प्रचलित किंवदन्तियाँ ऐसी हैं, जो पौराणिक परम्पराओं से भिन्न हैं। चन्दबरदायी कृत 'पृथ्वीराज रासो' हिन्दी का प्रथम महाकाव्य माना जाता है। इसमें आबू के यज्ञकुण्ड से चार क्षत्रिय कुलों की उत्पत्ति का वर्णन हुआ है। यज्ञ कुण्ड से क्षत्रिय कुलों की उत्पत्ति की कथा लोकविश्वास का ही रूप है। इस काव्य में लोक - जीवन के अनेक मार्मिक चित्र भी प्रस्तुत किये गए हैं। युद्धकाल में गाँवों के निकट होकर गुजरती हुई सेनाओं को देखकर कुओं पर पानी भरती हुई स्त्रियों का अपने घड़ों को फेंक-फाँक कर भागने लगना भी एक ऐसा ही बिम्ब है।[२] इसके अतिरिक्त कुलटा स्त्री का नायक के शव को देखकर हँसने लगना, कुलवधुओं

---

१ नामवर सिंह : इतिहास और आलोचना, पृ० १११, सत्साहित्य प्रकाशन, बनारस, प्रथम संस्करण, १९५६।

२ राजनाथ शर्मा : रैवातट समय, पृ० ३०, महालक्ष्मी प्रकाशन, आगरा, १९७५।

का घूंघट निकाल कर चलना, सूर्योदय होने पर नववधू का लज्जित होकर भागना [1] आदि बिम्ब भी लोक - जीवन से ही गृहीत हैं। स्त्रियों के अनेक श्रृंगार-प्रसाधनों, वस्त्रों, आभूषणों तथा पुरुषों के अनेक मनोरंजनों, गालों के साथ - साथ इसमें अनेक रीति - रिवाज तथा रूढ़ियों का भी उल्लेख मिलता है। जगनिक के " आल्हखण्ड " में भी लोक - जीवन में प्रचलित अनेक रूढ़ियों, विश्वासों, रीति - रिवाजों के उल्लेख के साथ - साथ अनेक अनुष्ठानों तथा लोक-जीवन में प्रयुक्त होने वाले उपकरणों का उल्लेख हुआ है। इस युग के अन्य रासो काव्य भी लोक - जीवन से मुक्त नहीं हैं।

हिन्दी साहित्य के आदि काल में प्राप्त होने वाले जैन और नाथ - साहित्य में यद्यपि लोक-जीवन की लगभग उपेक्षा सी की गयी है किन्तु इस युग के प्रेमकाव्यों में लोक - जीवन का बहुत विशद चित्रण हुआ है। " ढोला मारू रा दूहा " ऐसा ही काव्य है। इस युग की कविता में केवल लोक-जीवन का चित्रण ही नहीं, उसकी अभिव्यक्ति भी लोक - शैली में ही हुई है। अतः यह काव्य लोक - काव्य के बहुत निकट है। इस युग में हिन्दी की कविता - धारा लोक-जीवन के इतने निकट है कि उसमें और लोक - गीतों की धारा में कोई अन्तर ही नहीं लगता।

इसके पश्चात् "" आदि युग के इन मौखिक लोक-गाथाओं तथा प्रेमाख्यानों की पृष्ठभूमि पर हिन्दी का सन्त और भक्ति-काव्य उदय हुआ।[2] ""

---

1 राजनाथ शर्मा : रैवातट समय, पृ० ४५, महालक्ष्मी प्रकाशन, आगरा, १९७५।

2 नामवर सिंह : इतिहास और आलोचना, पृ० १११, सरस्वती प्रकाशन, बनारस, प्रथम संस्करण, १९५६।

जायसी, कबीर, सूर और तुलसी आदि ऐसे ही कवि थे, जो लोक-जीवन की गहराई में उतर कर कविता रूपी मोती निकाल कर लाये ।

जायसी का " पद्मावत " जहाँ अपने वर्ण्यवस्तु के सम्बन्ध में लोक-जीवन के निकट है, वहाँ उसकी कथा भी लोक - कथा है । वास्तव में " जायसी सच्चे पृथिवी पुत्र थे । वे भारतीय जन मानस के कितने सन्निकट थे, इसकी पूरी कल्पना करना कठिन है । गाँव में रहने वाली जनता का जो मानसिक धरातल है, उसके ज्ञान की जो उपकरण सामग्री है, उसके परिचय का जो क्षितिज है, उसी सीमा के भीतर हर्षित स्वर से कवि ने अपने गान का स्वर ऊँचा किया है । जनता की उक्तियाँ, भावनाएँ और मान्यताएँ मानो स्वयं छन्द में बंधकर उनके काव्य में गुंथ गई हैं । "[1] जायसी के काव्य में लोक के पारिवारिक जीवन में प्रायः पाया जाने वाला सौतिया डाह,[2] तुलसी के मानस में विमाता का द्वेष[3] और अनेक अपशकुनों का चित्रण तथा उल्लेख हुआ है । भरत जब ननिहाल में थे तभी अयोध्या में " राम - वन - गमन " तथा " दशरथ - मरण " जैसी भयानक घटनाएँ घटित हो जाती हैं । अयोध्या में जब ये घटनाएँ घटित होती हैं तो भरत को अनेक अपशकुन होते हैं ----

" अनरथ अवध अरंभेउ जबतें । कुसगुन होहिं भरत कहुं तबतें ।। "[4]

जब वे नगर में प्रवेश करते हैं, तब ---

---

१ वासुदेव शरण अग्रवाल : पद्मावत (संजीवनी टीका) पृ० १०, साहित्य सदन, चिरगाँव, झाँसी, द्वितीय संस्करण, २०१८ वि० ।

२ रवीन्द्र भ्रमर : हिन्दी भक्ति-साहित्य में लोक-तत्त्व, पृ० ११४, भारती साहित्य मन्दिर, दिल्ली, प्रथम संस्करण १९६५ ।

३ -वही- पृ० ११५ ।

४ गोस्वामी तुलसीदास : रामचरितमानस, दोहा १५७, अयोध्याकाण्ड ।

" सर सिआर बोलहिं प्रतिकूला । सुनि-सुनि होइ भरत मन सूला।। " [१]

इसी प्रकार राम-रावण युद्ध में रावण के मरण के अवसर पर भी तुलसी ने अनेक अपशकुनों का उल्लेख किया है। जायसी के पद्मावत में अनेक शकुनों का भी उल्लेख हुआ है। सूर तो मूलत: लोक-जीवन के ही गायक थे। "" नेत्र विहीन सूर जो जीवनारम्भ से लेकर जीवनावसान तक ब्रज में ही रहे और कबीर के समान देश के सभी छोरों तक न पहुँच सके——लोक-जीवन के अच्छे पारखी थे। अपने सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ " सूर सागर " में उन्होंने ब्रज के सभी संस्कारों का, धार्मिक विश्वासों का, तात्कालिक सभी प्रथाओं का, रहन-सहन का, अनेक व्यवसायों का, परम्परागत रूढ़ियों का, पर्वों का, और उत्सवों का, सम्मोहन, जादू, टोना, तावीज, भाग्य एवं डिठौना आदि का आकलन जिस पटुता से किया है वह सर्वथा स्तुत्य है। समग्र ब्रज - जीवन को इस प्रकार किसी अन्य कवि ने अपने काव्य का विषय नहीं बनाया है, यह सूर की अपनी विशेषता है और यही उनके आप पुरस्कार हैं। "" [२]

हिन्दी साहित्य के पूर्व मध्यकाल में जायसी के " पद्मावत " के अतिरिक्त भी अनेक प्रेमाख्यान काव्य लिखे गये। वास्तव में इन काव्यों का विधान भी " लोक-मेधा ने किया, इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता। प्रेम गाथाओं की कहानियाँ सभी लोक - कहानियाँ हैं, भारत की अपनी

---

१ गोस्वामी तुलसीदास : रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, दो० १५८ ।

२ डा० हरगुलाल : सूर सागर में लोक - जीवन, पृ० १-२ । हिन्दी साहित्य संसार, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९६७ ।

कहानियाँ हैं ।"[1] कबीर की बानियों में लोक - प्रचलित धार्मिक पाखण्डों पर जो प्रहार किये गए हैं, उनके मूल में भी लोक के प्रति उनका संवेदनशील हृदय ही था ।

"हिन्दी साहित्य के उत्तर मध्यकाल में कविता लोक - जीवन से सीधे-सीधे जुड़ने लगी थी । रीतिकालीन कवियों ने तरयोना, नकबेसर,[2] टीका, बिन्दी आदि अनेक आभूषणों, वस्त्रों तथा अन्य जीवनोपयोगी उपकरणों का उल्लेख किया है । इन कवियों ने अपने काव्य में सभी बिम्ब भी लोक - जीवन से ही ग्रहण किये हैं । घर में छींके पर दहेड़ी रखती हुई स्त्री का बिम्ब[3], नदी पर स्नान करती हुई स्त्री का बिम्ब[4] तथा नायक - नायिका की दैनिक छेड़-छाड़ के अनेक बिम्ब, बिहारी के काव्य में लोक - जीवन से ही गृहीत हैं । लोक-जीवन का ऐसा वस्तुवादी अंकन पहले की कविता में नहीं हुआ था । रहीम की लोकप्रियता का रहस्य भी यही लोक - जीवन है ——

"ले कै सुघर खुरपिया पिय के साथ ।
छइबे एक छतरिया बरसत पाथ ।।
टाट टूट घर टपकत खटियो टूट ।
पिय की बाँह सिरहनवाँ सुख कै लूट ।।"[5]

फिर भी इस काव्य में सूर जैसा लोक-जीवन का विशद चित्रण नहीं हुआ है ।

---

१ डा० सत्येन्द्र : मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य का लोक तात्त्विक अध्ययन, पृ० १३६, विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा, प्रथम संस्करण १९६० ।

२ बिहारी रत्नाकर, दोहा - २०, पृ० १४, गंगा पुस्तक माला कार्यालय, लखनऊ, प्रथम संस्करण, १९८३ वि० ।

३ -वही- दोहा ६९९, पृ० २८६ ।

४ -वही- दो० ६४५, पृ० २६५ ।

५ रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० २११, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, १३ वाँ संस्करण, २०१८ वि० ।

आगे चलकर हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल में भारतेन्दु युग की लोकोन्मुखी धारा पुन: विस्तार के साथ, तीव्रगति से प्रवाहित हुई। इस समय भारत वर्ष का लोक-जीवन एक नई चेतना की ओर अग्रसर हो रहा था। इस युग का कवि अपनी समस्त प्राचीन आस्थाओं के रहते हुए भी अपने वर्तमान के प्रति सजग था। रीतिकालीन कवि की भाँति वह नारी के शरीर में संकुचित प्रेम पर केन्द्रित नहीं हो गया था। स्वयं भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र की कविता में लोक के राजनीतिक, आर्थिक जीवन की झाँकी देखने को मिल जाती है ---

" अंगरेज राज सुख साज सजे सब भारी ।
पै धन विदेश चलि जात यहै अति ख्वारी ।। " [1]

वास्तव में लोक-जीवन का यह चित्रण प्रयोजनवादी था। संस्कृत की या हिन्दी की रीतिकालीन कविता में लोक - जीवन का चित्रण केवल काव्य को सम्प्रेषणीय, सहज ग्राह्य तथा हृदयसंवेद्य बनाने के लिये किया गया था। उसमें एक बारगी जन-मानस को झकझोर डालने वाली स्थितियों का सीधा चित्रण नहीं हुआ। रीति कालीन कविताओं को पढ़ कर यह नहीं जाना जा सकता कि उस युग का सामान्य जन किस प्रकार जी रहा था। किन्तु भारतेन्दु युग की कविता में सीधे - सीधे प्रयोजनवादी दृष्टि से लोक के सामने आने वाली उन स्थिति और परिस्थितियों को भी स्थान मिला जो तत्कालीन लोक-जीवन को प्रभावित कर रही थीं। [2] जिस प्रकार

---

१ डा० राम गोपाल सिंह चौहान : स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी-काव्य, पृ० १५, विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा, प्रथम संस्करण, १९६५।

२ -वही- पृ० १५।

भक्तिकाल के सांस्कृतिक आन्दोलनों ने कविता को मानवतावाद और धर्म से जोड़ दिया था। उसी प्रकार इस युग की सामाजिक चेतना ने कविता को समाज से जोड़ दिया। इसी लिये इस युग की कविता में लोक के व्यावहारिक जीवन की झांकी देखने को मिल जाती है। साथ ही इस युग की कविता में परम्परित लोक - जीवन का भी चित्रण हुआ है।

"" इस नई धारा की कविता के भीतर जिन नए - नए विषयों के प्रतिबिंब आए, वे अपनी नवीनता से आकर्षित करने के अतिरिक्त नूतन परिस्थिति के साथ हमारे मनोविकारों का सामन्जस्य भी घटित कर चले। कालचक्र के फेर से जिस नई परिस्थिति के बीच हम पड़ जाते हैं, उसका सामना करने योग्य अपनी बुद्धि को बनाए बिना जैसे काम नहीं चल सकता, वैसे ही उसकी ओर अपनी रागात्मिका वृत्ति को उन्मुख किए बिना हमारा जीवन फीका, नीरस, शिथिल और अशक्त रहता है। ""[१] यही कारण है कि भारतेन्दु युग का कवि लोक-जीवन की तात्कालिक परिस्थितियों की ओर से आंखें मूंदे नहीं रह सका।

भारतेन्दु युग के पश्चात् द्विवेदी युग में राष्ट्रीय आन्दोलनों का जोर बढ़ा जिसका कविता पर भी पर्याप्त प्रभाव पड़ा। इस समय की कविता में बदलते हुए सामाजिक जीवन और विकसित होती हुई राष्ट्रीय चेतना को पूर्ण अभिव्यक्ति मिली है। नारी के प्रति बदला हुआ दृष्टिकोण और राष्ट्र प्रेम मुख्य रूप से इस कविता के विषय रहे। अब कोई व्यक्ति जाति, वर्ण या अन्य परम्परित कारणों से पूज्य नहीं माना जाता था अपितु समाज और राष्ट्र की सेवा करने से वह महानता का अधिकारी होता था। पण्डित और मौलवियों का स्थान समाज सुधारक ले रहे थे तथा

---

१ रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ५६३, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, १३ वां संस्करण, २०१८ वि०।

भारतीय राजाओं के स्थान पर राष्ट्रीय नेताओं का सम्मान होने लगा था। गांधी जी के प्रभाव से तथा राष्ट्रीय एकता की अनिवार्यता के कारण जाति - बन्धन ढीले होने लगे थे। भारतीय लोकजीवन एक नए रंग में रंगने की तैयारी कर रहा था। संस्कारी जीवन की अनेक परंपराएं पीछे छूट गई थीं। "हरिऔध" के "प्रियप्रवास" में कृष्ण अपना परंपरित रूप त्याग कर लोक रक्षक नेता के रूप में प्रस्तुत होते हैं। राधा का भी रूप उस काव्य में बदला है। मैथिली शरण गुप्त के द्वापर, यशोधरा आदि काव्यों में प्राचीन पात्रों (जिनमें लोक की आस्था थी) के माध्यम से नारी के तत्कालीन दुखी जीवन की प्रस्तुती हुई है। राष्ट्रीय भावनाओं से प्रेरित होकर भी गुप्तजी, रामदेवी प्रसाद "पूर्ण", लाला भगवान दीन प्रभृति कवियों ने अनेक राष्ट्रीय कविताओं की रचना की है।

इस युग में लोक-जीवन में से बहुत सी प्रथाएं भी हटने लगी थी। भले ही ऐसा समाज सुधारकों के दबाव के कारण ही हो रहा था। किन्तु लोक - जीवन में प्रचलित बहुत सी ऐसी परम्पराएं और प्रथाएं अभी भी इस युग की कविता में वर्णित हो रहीं थीं, जिनकी जड़ें लोक-जीवन में बहुत गहरे पैठी हुई थी"। होली, दिवाली, दशहरा, रक्षाबन्धन, ईद, आदि त्योहार, जातकर्म, विवाह, अंत्येष्टि आदि प्रमुख संस्कार, जो अभी भी लोक - प्रचलित थे —— इस युग की कविता में चित्रित या वर्णित हुए हैं।

किन्तु हिन्दी की छायावादी कविता का स्वर कुछ पृथक ही रहा। उसमें लोक - जीवन को वह स्थान प्राप्त न हो सका जो कि उसे अब तक प्राप्त होता आया था। वास्तव में छायावादी युग के आने तक पश्चिमी शिक्षा के प्रचार और प्रसार ने भारतीय जनता की आँखें खोल दी थीं। भारत का लोक - जीवन अशिक्षा की जिन अंधेरों में जकड़ा हुआ था, वे

कड़ियाँ अब टूटने लगी थीं। भारतीय जन-मानस को यह ज्ञात होने लगा था कि हमारे क्षितिज से आगे और भी क्षितिज हैं। हमारे सौर मण्डल के अतिरिक्त और भी सौर - मण्डल हैं। परिणामतः हमारे देश का लोक - जीवन एक ऐसे चौराहे पर आकर खड़ा हो गया जहाँ से एक मार्ग नए क्षितिजों की तलाश में जाता था और दूसरा अपने ही क्षितिज तक जाकर रह जाता था। ये दोनों मार्ग लोक - प्रतिनिधि कवियों के सामने भी थे। कवियों के यहाँ से दो दल हो जाते हैं। एक दल उन क्षितिजों की तलाश में जाता है और दूसरा अपने क्षितिज के छोर को छू छू कर लौट आता है। पहले दल की कविता अपने उद्देश्य में असफल रहती है -- उसमें कल्पनाशीलता, वेदना, निराशा आदि के भाव पनपते हैं। यह कविता अन्तर्मुखी हो जाती है, उसका स्वर व्यक्तिवादी[1] हो जाता है। इसी कविता को आलोचकों ने छायावादी कविता के नाम से अभिहित किया है।

किन्तु दूसरे दल की कविता उन क्षितिजों की ओर आकृष्ट ही नहीं होती क्योंकि उसके आगे जो अपना ही क्षितिज है, वह अभेद्य बन जाता है। वह कविता अपनी राह को पहचानती है। अस्तु, वह अपने ही मार्ग पर चल कर अपने क्षितिज को भेदती है। उसे अपनी क्षमता और क्षितिज की दूरी का ज्ञान है। वह यथार्थवादी है, वह भी आगे जाना चाहती है किन्तु समूचे लोक-जीवन को साथ लेकर, अकेली नहीं। उसकी धारा लोकोन्मुखी धारा है, उसका स्वर प्रगतिवादी स्वर है। कविता की ये दो धाराएँ भारतीय जीवन में बहुत पहले से चली आ रही थीं। सन्तों की वाणी में यह दूसरी धारा ही हमको दीख पड़ती है

---

१ नरेन्द्र शर्मा : आलोचना, अक्टूबर १९५२, पृ० १०३, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली।

किन्तु यह धारा अब तक प्रायः भूमिगत ही रही है। यदा - कदा पहली धारा जिसे हम भक्तों और रीतिकवियों की कविता में देखते हैं, के मन्द पड़ने पर अथवा मार्ग के व्यवधानों के कारण पथभ्रष्ट होने पर, उसे सहारा देने के लिये यह दूसरी काव्यधारा प्रकट होती रही है। वास्तव में "पण्डितों की बांधी प्रणाली पर चलने वाली काव्यधारा के साथ-साथ सामान्य अपढ़ जनता के बीच एक स्वच्छन्द और प्राकृतिक भावधारा भी गीतों के रूप में चलती रहती है — ठीक उसी प्रकार जैसे बहुत काल से स्थिर चली आती हुई पण्डितों की साहित्य-भाषा के साथ - साथ लोक-भाषा की स्वाभाविक धारा भी बराबर चलती रहती है। जब पण्डितों की काव्य-भाषा स्थिर होकर उत्तरोत्तर आगे बढ़ती हुई लोक-भाषा से दूर पड़ जाती है और जनता के हृदय पर प्रभाव डालने की उसकी शक्ति क्षीण होने लगती है तब शिष्ट समुदाय लोक - भाषा का सहारा लेकर अपनी काव्य परंपरा में नया जीवन डालता है। प्राकृत के पुराने रूपों से लदी अपभ्रंश जब लड़खड़ाने लगी तब शिष्ट काव्य प्रचलित देशी भाषाओं से शक्ति प्राप्त करके ही आगे बढ़ सका। यही प्राकृतिक नियम काव्य के स्वरूप के सम्बन्ध में भी अटल समझना चाहिये। जब-जब शिष्टों का काव्य पण्डितों द्वारा बँध कर निश्चेष्ट और संकुचित होगा तब तब उसे सजीव और चेतन प्रसार देश की सामान्य जनता के बीच स्वच्छन्द बहती हुई प्राकृतिक भावधारा से जीवन तत्व ग्रहण करने से ही प्राप्त होगा।" [१]

यही कारण था कि सूर और तुलसी की कविता ने जिन अभिजात्य स्थितियों का स्पर्श किया उसके लिये गति या शक्ति कबीर, दादू, रैदास जैसे कवियों की लोकमय कविता ने प्रदान की। यदि हिन्दी साहित्य के

---

१ रामचन्द्र शुक्ल, "हिन्दी साहित्य का इतिहास", पृ० ५७४ - ५७५, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, १३ वां संस्करण, २०१८ वि० ।

इतिहास में कबीर न हुए होते तो तुलसी जैसे कवि कभी नहीं हो सकते थे । कबीर ही तुलसी के लिये मार्ग प्रशस्त करते हैं । अन्यथा साम्प्रदायिक वैमनस्य में तुलसी की कविता की भी हत्या हो सकती थी । भक्तिकाल की इस घटना जैसा ही कुछ आधुनिक युग की प्रथम महायुद्धोत्तर हिन्दी कविता के भी साथ हुआ । अन्तर केवल इतना रहा कि भक्तिकाल का लोक-जीवन धर्माश्रित था और इस युग का लोक-जीवन धीरे-धीरे अर्थ के आश्रित हो रहा है । आज हम स्पष्ट देख सकते हैं कि वर्तमान लोक-जीवन की आस्था धर्म के स्थान पर अर्थ में बढ़ रही है ——

"पइसा नाचै, पइसऊ कूदै पइसई खेल दिखाता है ।
तेरे मेले के टेसू ऐ भाई, घर-घर भीख मँगाता है ।।" [१]

इस प्रकार के लोक गीत लोक-जीवन में अर्थ के महत्व को सिद्ध करते हैं । भारतीय लोक-जीवन में परम्परा से प्रचलित बड़े - बड़े उत्सव, पर्व और त्यौहार इस वर्तमान ईश्वर के अभाव में फीके पड़ गए हैं । परिणामतः कवि, जो युग द्रष्टा के साथ - साथ युग - स्रष्टा भी होता है, "जगपति" का "टेंटुआ घोटने" की बात सोचने लगा । उसकी धारणा यह बनती जा रही थी कि "जगपति" ने ही यह "घृणित विकृति" का रूप दिया है । वास्तव में व्यक्तिवादी (छायावादी) कविता का राकेट धरती के आकर्षण के कारण जब आगे न बढ़ सका तो उसे नयी लोक - शक्ति की आवश्यकता हुई । परिणामतः अनेक छायावादी कवियों के मार्ग बदल गए । कोमल कल्पनाओं वाले पंत "भारत माता ग्रामवासिनी" [२] कहने

---

१ ब्रज प्रदेश में दशहरे के उपरान्त गाये जाने वाले टेसू का एक गीत, जिसे बच्चे घर-घर जाकर टेसू के साथ गाते हैं और बदले में पैसा या अनाज प्राप्त करते हैं ।

२ सुमित्रानंदन पंत : ग्राम्या, पृ० ४८-४९, भारती भण्डार प्रयाग, षष्ठ संस्करण २०२१ वि० ।

लगी, उन्हें अप्सराओं के नृत्य के स्थान पर चमारों [१] और धोबियों का नृत्य [२] सुन्दर लगने लगा । उन्हें " नाव पर पैठ से लौटते हुए व्यापारी ", दुकानों में बही खाता खोले हुए कस्बे के व्यापारी " और " धुआँ छोड़ती हुई टिन की चिमनी " का ध्यान होने लगा । [३] निराला का ध्यान भी राह के " भिखारी ", इलाहाबाद के पथ पर पत्थर तोड़ती हुई नारी, पर गया । भगवती चरण वर्मा " भैंसागाड़ी " की " चूं - चरमरर " सुनने लगे । किन्तु लोक - जीवन का सच्चा प्रतिनिधित्व यह कविता भी नहीं कर पाई । हिन्दी की प्रगतिवादी कविता धीरे - धीरे मार्क्सवाद की साहित्यिक अभिव्यक्ति का रूप ग्रहण करने लगी । " राजनीतिक दल विशेष की नीतियों एवं सिद्धान्तों की तथा जनता की कुछ सीमित स्थितियों की स्थूल अभिव्यक्ति में ही प्रगतिवादी काव्य - धारा की सार्थकता सीमित हो गई । उसमें व्यापक रूप से जन - चेतना के प्रगतिकामी उन्मेषों, संवेगों एवं मानवीय भावों की कलात्मक अभिव्यक्ति का अभाव रहा । " [४]

इस प्रकार इस युग की दोनों ही कविता - धाराएं यद्यपि किंचित लोकोन्मुखी होते हुए भी सीधे लोक से संपृक्त नहीं हो सकी थीं । वस्तुत: दोनों महायुद्धों के बीच का समय जैसा कि हम पीछे स्पष्ट कर चुके हैं भारतीय लोक-जीवन का संक्रान्ति काल कहा जा सकता है । संक्रान्ति की यह स्थिति लोक-जीवन में स्वतन्त्रता के उपरान्त और भी स्पष्ट हुई है ।

---

१ सुमित्रानंदन पंत : ग्राम्या, पृ० ४८, भारती भण्डार, प्रयाग, षष्ठम् संस्करण, २०२१ वि० ।

२ -वही- पृ० ३१ ।

३ -वही- पृ० ६४-६५ ।

४ डा० राम गोपाल सिंह चौहान : स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी काव्य, पृ० ७, विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा, प्रथम संस्करण, १९६५ ।

इसके परिणाम स्वरूप लोक – अर्थात ग्रामीण और नागरिक — दो वर्गों में विभक्त हुआ है। इसे हम श्रमिक और पूँजीपति वर्गों भी कह सकते हैं। क्योंकि इस युग में औद्योगिक विकास के कारण भारत के गाँव नगरों के मुहताज बन गए हैं। वे अन्न का उत्पादन करते हैं किन्तु उसका लाभ लेता है नगर। किसानों की स्थिति अर्थ और श्रम की दृष्टि से नागरिक व्यापारियों के अधिक नीची हो है। स्वतन्त्रता पूर्व के इस युग की कविता में यह विभाजन स्पष्टतः छायावाद और प्रगतिवाद के रूप में देखा जा सकता है। इसके उपरान्त स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कविता में भी प्रारम्भ के दो दशकों तक यह भेद लक्षित होता रहा है। किन्तु अब पुन: लोक - जीवन में स्थिरता आने लगी है।

छायावादी और प्रगतिवादी कविता के उपरान्त सन् १९४३ से कविता का प्रयोगवादी आन्दोलन प्रारम्भ होता है। अज्ञेय के "तारसप्तक" को इसकी स्थापना का श्रेय प्राप्त है। किन्तु यह आन्दोलन प्रयोगवाद के रूप में कोई योजनाबद्ध आन्दोलन नहीं था और यही कारण है कि प्रयोग-वाद की अर्थी हिन्दी कविता के अन्यवादों की अपेक्षा शीघ्र ही उठ गई और उसका स्थान "नई कविता" ने ले लिया। वास्तव में "तार सप्तक" एक ऐसा अवसर है जिसमें हिन्दी के सात कवियों ने अपने आपको एक साथ एक ही रंग मंच पर उतारने का प्रयास किया है। और यह अवसर उन्हें अप्रत्याशित रूप से प्राप्त हो गया था। वे पहले से कविता के किसी वाद की योजना बना कर एकत्रित नहीं हुए थे। "उनके तो एकत्र होने का कारण भी यही है कि वे किसी एक स्कूल के नहीं हैं, किसी मंजिल पर पहुँचे हुए नहीं हैं, अभी राही हैं — राही नहीं, राहों के अन्वेषी।"[१] और इतना ही नहीं इसका नाम भी प्रयोगवाद हुआ

---

१ अज्ञेय : तार सप्तक, भूमिका, पृ० ११, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, तृतीय संस्करण, १९७० ।

"" अतः प्रायः आलोचकों द्वारा दिया गया कुत्सित विशेषण था। "" [१]
स्वयं अज्ञेय इसे किसी वाद के रूप में ग्रहण नहीं करते। उनका कहना है — "" प्रयोग का कोई वाद नहीं है। हम वादी नहीं रहे, नहीं हैं। न प्रयोग अपने आप में इष्ट या साध्य है। ठीक इसी तरह कविता का कोई वाद नहीं, कविता भी अपने आप में इष्ट या साध्य नहीं है। अतः हमें प्रयोगवादी कहना उतना ही सार्थक या निरर्थक है, जितना हमें " कवितावादी " कहना। "" [२]

वास्तव में स्वतन्त्रता पूर्व की छायावादी काव्य धारा और अधिक वैयक्तिक होने लगी थी जिसकी चरम परिणति ही प्रयोगवाद है। किन्तु दूसरी ओर प्रगतिवादी धारा जो सदैव प्रवाह को तीव्र कराने का कार्य कर रही थी, अपने शुद्ध और धूमिल रूप में इस वैयक्तिक धारा से मिलने लगी थी। अतः एक नई काव्य प्रवृत्ति का उदय हुआ जिसे आजकल " नई कविता " के नाम से जाना जाता है। यूँ तो स्वतन्त्रता से पूर्व ही यत्र-तत्र ये दोनों धाराएं सहगामी हुई हैं किन्तु इधर साठोत्तरी कविता में यह संगम अधिक मुखर हुआ है। सन् १९५४ में " नयी कविता " नाम से प्रकाशित मासिक पत्रिका के माध्यम से हिन्दी के कुछ साहित्यकारों ने एक योजनाबद्ध आन्दोलन प्रारम्भ किया और यह आन्दोलन भी " नई कविता " के नाम से अभिहित किया जाता है। क्योंकि यह नाम " नई कविता " पहले से सोचा हुआ था, इसीलिये इसे प्रचार प्रदान करने के उद्देश्य से पत्रिका भी निकाली गई जिसका नाम भी यही रख दिया गया। प्रारम्भ में इस आन्दोलन का स्वर भी व्यक्तिवादी था। किन्तु जब यह

---

१ गोपाल कृष्ण कौल : सामयिकी, अनुपूर्ण, पृ० ६, बिहार ग्रन्थ कुटीर, पटना - ४, प्रथम संस्करण १९६५ ।

२ अज्ञेय : दूसरा सप्तक, भूमिका, पृ० ४, प्रगति प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण १९५१ ।

आन्दोलन अनुभवों के हाथ से निकल कर अधिक व्यापक हुआ तो इसमें प्रगतिवादी स्वर भी मिल गया । और इस प्रकार अब इसका जो रूप उभर कर सामने आया है जो प्रवृत्तियाँ स्थिर हुई हैं उनकी दृष्टि से नई कविता का जन्म पहले ही हो चुका था । स्वतन्त्रता से पूर्व जहाँ भी इन दोनों धाराओं का परस्पर सम्बन्ध दीख पड़ता है वहीं हमें वर्तमान नई कविता के स्वरूप - दर्शन होते हैं । उदाहरण के लिये सुमित्रानंदन पन्त , निराला आदि की कविताएं ली जासकती हैं ।

वास्तव में स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कविता व्यक्तिवादी का प्रगति-वादी स्वर में विलीनीकरण है । और स्पष्ट शब्दों में कहा जाय तो हम कह सकते हैं कि जो कविता छायावाद के उपरान्त अति वैयक्तिक होते - होते मरने लगी थी । वह इस रूप में पुनरुज्जीवित हुई । सच्ची कविता भी यही है प्रयोगवाद जैसे काल्पनिक नामवाली कविता नहीं । इस कविता में व्यक्ति का लोक में तिरोभाव है । अतः यही कविता, कविता की परिभाषा के अधिक निकट है । इसका स्वर सशक्त है । यह शीघ्र मरने वाली कविता नहीं है । यह शाश्वत और जीवन्त कविता है । वस्तुतः नई कविता के रूप में कविता ने ही फिर से जन्म लिया है । योरुप की नकल पर उठने वाले चाहे जितने वादों के आन्दोलन इसका प्रवाह रोकने का प्रयास क्यों न करें, पर वे सफल नहीं हो सकते । अकविता, ठोस कविता, वास्तविक कविता, सहज कविता सारे प्रयास इसके सम्मुख विफल हैं वे अस्थिर हैं । इनमें से लगभग सभी समाप्त भी हो गए । नई कविता की उस सशक्त धारा में इनका बह जाना ही निश्चित था।

जिस प्रकार कोई भी मनुष्य सदैव बच्चा नहीं रहता उसी प्रकार नई कविता भी सदैव नई नहीं रहेगी । वह धीरे - धीरे पूर्णता को प्राप्त करेगी और केवल कविता हो जायगी । इस नई के साथ उसका

वैयक्तिक स्वर लोक स्वर में विलीन हो जायगा। और इस प्रकार अपने सात्विक रूप में कविता फिर उतने ही ऊँचे शिखर पर प्रतिष्ठित होगी जितने ऊँचे शिखर पर (ऊँचे पर नहीं) मध्यकाल की कविता प्रतिष्ठित थी। और यह कविता फिर से हिन्दी साहित्य के इतिहास में एक नए स्वर्णकाल की स्थापना कर सकेगी। कहने का तात्पर्य यह है कि स्वतन्त्रता के साथ जिस कविता का उदय हुआ वह केवल अपने शिल्प में ही नयी नहीं है अपितु अपने कथ्य में भी नई है। उसमें एक नये ही लोक-जीवन की अभिव्यक्ति मिली है। इसके पीछे जहाँ कविता का सनातन नियम, जिसकी ओर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने संकेत किया है,[1] काम कर रहा है, वहीं स्वतन्त्रता के उपरान्त लोकतन्त्रीय शासन प्रणाली, नये जीवन-मूल्य, तथा समाजवादी समाज रचना का आग्रह भी उसको लोक-जीवन के अधिक निकट ले आये हैं। अतः इस कविता के भविष्य की सम्भावनाएँ और अधिक बढ़ जाती हैं।

अब तक कही गई "इस ऐतिहासिक पृष्ठभूमि से यह पता चलता है कि लोक-जीवन ऐसी शक्ति है जो सामाजिक गतिरोध को तोड़ने के साथ ही साहित्यिक गतिरोध को भी समाप्त करती है। कविता में जब कवियों को नया मार्ग नहीं सूझता, नई दिशाएँ मेघाच्छन्न दिखाई पड़ती हैं और पुरानी चहारदीवारी से निकलने का उपाय नहीं मिलता तो लोक-शक्ति ही मशाल लेकर आगे बढ़ती है।"[2] हमारी वर्तमान हिन्दी कविता की धारा भी अब पुनः लोकोन्मुखी होगई है। उसमें बिम्ब, भाषा, छन्द और लय तथा वर्ण्य सभी कुछ लोक-जीवन से प्रभावित है।

—o—

---

१ रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ५७८, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, १३ वां सं० २०१८ वि०।

२ डा० नामवर सिंह : इतिहास और आलोचना, पृ० ६८, सद् साहित्य प्रकाशन, आगरा, प्र० सं० १९५६।

तृतीय अध्याय

स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कविता : लोक-जीवन में संक्रान्ति की स्थिति

१- जीवन-मूल्यों में परिवर्तन

२- पीढ़ियों का संघर्ष

३- लोगों के आपसी सम्बन्ध

४- एक नयी और कृत्रिम जिन्दगी का अनुभव

तृतीय अध्याय

स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कविता : लोक-जीवन में संक्रान्ति की स्थिति

स्वातंत्र्योत्तर भारत में पूँजीवाद और समाजवाद की मिली - जुली किस्म वाली अर्थ - व्यवस्था का विकास हुआ, उसके कारण आम आदमी की आर्थिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक स्वाधीनता पूँजीवादी शिकंजे में और अधिक जकड़ गई । चीन के आक्रमण के समय तक आम आदमी मोह - भंग की स्थिति में आ पहुँचा था, पर पं० जवाहरलाल नेहरू के विशाल व्यक्तित्व के कारण उसका दृष्टिकोण सुधारवादी - विकासवादी संतुलन का बना रहा । किन्तु पं० नेहरू की मृत्यु के उपरान्त यह एक " खोखली दार्शनिक गरिमा " प्रतीत होने लगा, क्योंकि पूँजीवादी और समाजवादी अर्थतन्त्र के द्वन्द्व के कारण, सामान्य जन के सामने खुलकर आने लगे । तब मोह-भंग की स्थिति से ऊपर उठकर आम आदमी उन समस्त प्रजातान्त्रिक संस्थाओं और व्यवस्थाओं के प्रति अनास्थावान हो गया, जिन्हें उसने अपनी सुरक्षा और सुविधा का भार सौंपा था । वह सोचने लगा ——

" सोचते हैं
व्यक्ति और समूह वाले
आत्म - विज्ञापित खजाने
पड़ गए झूठे समन्वय
रह न सका तटस्थ कोई
वे सुरक्षा की नकाबें
मार्ग मध्यम के बहाने " १

---

१ गिरिजा कुमार माथुर : शिलापंख चमकीले, पृ० ८७, साहित्य भवन प्रा० लि०, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, १९६१ ।

आज का हिन्दी साहित्य जिस युग में लिखा जा रहा है वह आक्रोश और अस्वीकार का युग है और ये दोनों बातें आज के नवयुवक में सबसे अधिक दृष्टिगोचर हो रही हैं। आज का नवयुवक आक्रोश और अस्वीकार का साकार प्रतीक बन गया है :-[1]

"" और जोश बड़ी पुरजोर है,
कलेजों में सीसे की आग तोड़ फोड़ है।
कहते हैं पाप है समाज में,
धिक हम पै। जो कभी पढ़ें इस राज में।
अभी पढ़ने का क्या सवाल है ;
अभी तो हमारा धर्म एक हड़ताल है। ""[2]

नगरों और महानगरों की समस्या ने भी भारतीय जन-मानस को क्षुब्ध किया है। "" स्वतन्त्रता की प्राप्ति के बाद भारतवर्ष में न केवल नगरों का प्रभाव गाँवों पर बढ़ता जा रहा है किन्तु औद्योगीकरण और आजीविका की तलाश में लोग गाँव छोड़ कर नगरों में आकर बसने लगे हैं —[3]

"" तुम्हें पता है जो लोग शहर में नहीं थे
शहर में आ गए हैं
उनके आदमियों ने उन्हें चिट्ठी लिखी था -
वह पटरियों पर सो गए हैं ""[4]

---

१ डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय : द्वितीय महायुद्धोत्तर हिन्दी साहित्यका इतिहास, पृ० ५१, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, प्र० सं० १९७३।

२ दिनकर : परशुराम की प्रतीक्षा, पृ० ६३, उदयाचल राजेन्द्रनगर, पटना, तृतीय संस्करण १९६६।

३ डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय : द्वितीय महायुद्धोत्तर हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ५६, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, प्र० सं० १९७३।

४ लीलाधर जगूड़ी : नाटक जारी है, पृ० ५५, अक्षर प्रकाशन प्रा० लि०, दिल्ली, प्र० सं० १९७२।

पटरियों पर सोने के बावजूद वे शहर में आए हुए नए लोग समझते हैं कि — " शहर अधिक सुविधा देते हैं नंगे पाँवों के लिए । " [1] नये आने वाले व्यक्ति को जिन नगरों में कुछ आकर्षण लगता है, उन नगरों में " ऊँचे - ऊँचे आलीशान मकानों में रहने वालों के साथ - साथ झोंपड़ियों में रहकर जीवन व्यतीत करने वालों की संख्या भी ——— कम नहीं है । " [2] इन विसंगतियों के अनेक उदाहरण वर्तमान हिन्दी कविता से हम अन्यत्र दे चुके हैं ।

१- जीवन-मूल्यों में परिवर्तन

इन विसंगतियों, साधन और सुविधाओं के अन्तर के कारण आदमी ——

" अपनों से अपनों को
देखकर तरसता है
अपने को, औरों को,
किस्मत को, कर्मों को
कोसता कलपता है
तुरत मौत के लिए
तुच्छ - क्षुद्र बातों पर
नीयत बिगाड़ता है
ओछे बहाने कर
अपने ईमान का
दिवाला निकालता है । " [3]

---

१ लीलाधर जगूड़ी : नाटक जारी है, पृ० ६२, अक्षर प्रकाशन प्रा० लि०, दिल्ली, प्रथम संस्करण १९७२ ।

२ डा० लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय : द्वितीय महायुद्धोत्तर हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ५६, राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७३ ।

३ गिरिजा कुमार माथुर : शिला पंख चमकीले, पृ० २२, साहित्य भवन प्रा० लि०, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, १९६१ ।

वह भी औरों के समान सुविधा और साधन सम्पन्न होना चाहता है किन्तु असफल रहता है और जीवन की सीधी - पटरी पर दौड़ने वाला होने के कारण चमत्कारपार पौनों पर आने वाली सफलता को प्राप्त नहीं कर पाता । ऐसी स्थिति में वह "अपनी सार्थकता में खिन्न" रहता हुआ सोचता है —

पूरी दुनिया साफ करने के लिए मेहतर चाहिए
"........ जो है उससे बेहतर चाहिए
वह मेहतर मैं हो नहीं पाता ।" [१]

और ऐसी ही स्थिति में "दिन - रात बदली जाती है/विश्वास बदलती जाती है ।" [२] भला इस पल - पल की उथल - पुथल में क्या मानवमूल्यांकन हो सकेगा ? इस स्थिति में तो उसका प्रत्येक सामाजिक विधान और संस्था से विश्वास उठने लगता है । उसे लगता है कि ये सब उसे बर्बाद कर देंगे। [३] वह अपने से प्रश्न पूछता है और निष्कर्ष निकालता है कि "ईमानदारी दुख का कारण है।" अतः उसे "विश्वास हो गया है, बेईमानी के प्रति।" [४] कभी - कभी उसके भीतर का विवेक [illegible] हो जाता है —

" इतिहास के इस चौराहे पर
केवल एक ही विकल्प शेष रह गया है :

---

१ "मुक्तिबोध" : चाँद का मुँह टेढ़ा है, पृ० १०४, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण १९६४ ।

२ उदयशंकर भट्ट : पूर्वापर, पृ० ८६, आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९६३ ।

३ रघुवीर सहाय : सीढ़ियों पर धूप में, पृ० १४४, भारतीय ज्ञानपीठ काशी, प्रथम संस्करण, १९६० ।

४ सुरेन्द्र तिवारी : [illegible], पृ० ५२, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९६१ ।

या तो मनुष्य पिशाच हो जाए
या उसे देवता बन जाना होगा। "[1]

और यहीं व्यक्ति में "संक्रान्ति का अनिश्चय"[2] उत्पन्न होता है जो मनःस्थितियों के होने को काट नहीं पाता। किन्तु आज का कवि यह जान गया है कि —

" यह व्यक्ति और समाज का
उत्तप्त मन्थन काल है
संक्रान्ति की घड़ियाँ बनी हैं शृंखला "[3]

वह अनुभव करता है — "अपने ज़माने में कहीं दृश्यों का क्रम इतना अनिश्चित है कि न दर्शक बना जा सकता है और न अभिनेता।"[4]

इसके कारण आज आम आदमी दुहरा व्यक्तित्व जी रहा है। आदमी के भीतर एक आदमी और पैदा हो गया है जो उससे "छिपकर कहीं जीता है"।[5] इसके लिये केवल नई और पुरानी मान्यताओं का संघर्ष ही दोषी नहीं है अपितु वर्तमान व्यवस्था भी इसके लिये दोषी है। वास्तव में वर्तमान व्यवस्था के ही कारण नई पुरानी मान्यताओं का संघर्ष जन्म लेता है। इस व्यवस्था में नियम व्यक्ति से भी ऊपर उठ जाते हैं।[6]

---

१ वीरेन्द्र कुमार जैन : शून्य पुरुष और वस्तुएँ, पृ० ८८, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्र० सं० १९७२।

२ गिरिजा कुमार माथुर : शिलापंख चमकीले, पृ० ८३, साहित्य भवन प्रा० लि०, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, १९६१।

३ गिरिजा कुमार माथुर : धूप के धान, पृ० ४७, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, द्वितीय संस्करण, १९६६।

४ लीलाधर जगूड़ी : नाटक जारी है, पृ० १०६, अक्षर प्रकाशन प्रा० लि०, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७२।

५ सुरेन्द्र तिवारी, कमरे चुप, पृ० ४३, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७१।

६ —वही— पृ० ५८।

क्योंकि "इस देश की हर सड़क तिजोरी तक जाती है" और लोगों के लिये "पोस्ट कार्ड की कीमत बढ़ जाती है"।[१]

इस संक्रान्ति काल में व्यक्ति की अपनी चिन्तनशक्ति क्षीण हो जाती है और वह "तेजी से जाती हुई कार के पीछे पथ पर गिर पड़े निर्जीव, सूखे पीले पत्तों की तरह कुछ दूर तक दौड़कर" गर्व से कहता है कि "हम में भी गति है, सुनो, हम में भी जीवन है, रुको, रुको, हम भी साथ चलते हैं - हम भी प्रगतिशील हैं।"[२] और इस प्रकार वह अपनी गतिशीलता सिद्ध करने के लिए दूसरों को रोकना चाहता है —

"सामर्थ्य आज स्वयं कर्म करने का नहीं
दूसरों को अकर्मण्य बनाने का नाम है।
यदि तुम हर नाव के पेंदे में छेद कर दो
तो तुम भव सागर पार माने जाओगे।"[३]

भारतीय समाज में इन मान्यताओं के बदलने का परिणाम यह हुआ है कि "........ आदमी ईर्ष्या, अहं, स्वार्थ, घृणा, अविश्वास-लीन संख्यातीत शंख सी दीवारें उठाता है, अपने को दूजे का स्वामी बताता है, औरों को कौन कहे"।[४] इसी का परिणाम है कि हम अपने काल से बेखबर, पुराने संबंधों को तोड़कर, दरवाजे बन्द कर इस नये समाज के सम्बन्ध में सोच रहे हैं, जिसमें कि हम अपने ही घर में बिराने हो गए हैं।[५] ऐसी

---

१ लीलाधर जगूड़ी : नाटक जारी है, पृ० ४८, अक्षर प्रकाशन प्रा० लि०, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७२।

२ सर्वेश्वर दयाल सक्सेना : काठ की घण्टियाँ, पृ० ३५१, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, १९५९।

३ -वही - पृ० ४०८।

४ गिरिजा कुमार माथुर : शिला पंख चमकीले, पृ० ६६, साहित्य भवन प्रा० लि०, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, १९६१।

५ गिरिजा कुमार माथुर : धूप के धान, पृ० ७६, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, तृतीय संस्करण, १९६६।

स्थिति में आना है कवि की यह शंका स्वाभाविक ही है —

"क्या प्रकृति मनुष्य के साथ प्रश्न बन जायेगी
पृथ्वी ऐसे ही टूट फूट कर ही जायेगी
सभ्यता, मनुष्यता, संस्कृति की अभिलाषा — सारा
नभ के धौंकल में उलझ कर रह जायेगा।"[1]

||||||||||||||||||||||||||
२— पीढ़ियों का संघर्ष |
||||||||||||||||||||||||||

इसके अतिरिक्त बदलती हुई मान्यताओं, विश्वासों के साथ-साथ घृणा, द्वेष, अहं आदि के कारण आज "नई-पुरानी पीढ़ी में तीखा तनाव है।"[2] समाज में पीढ़ीगत परिवर्तन बड़ी तीव्रता के साथ हो रहा है —

"बाबा,
जब उस हवेली के सामने से गुजरते थे,
उसको सलाम करते थे।
पिताजी उसकी तारीफ करते न थकते थे।
मुझसे नहीं किया जाता उसका गुणानुवाद।
मेरे लड़के,
जब उस हवेली के सामने से निकलते हैं
कहते हैं पूँजीवाद मुर्दाबाद।"[3]

---

१ गिरिजा कुमार माथुर : शिलापंख चमकीले, पृ० १६, साहित्य भवन प्रा० लि०, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, १९६१।

२ [illegible] : टूटी प्रतिमाओं की आवाज, पृ० ७७, राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली, प्रथम संस्करण १९६७।

३ —वही— पृ० ६७।

ये लाल चींटे और कीड़े नहीं, शोषक वर्ग है और मेंढक तथा मच्छर उनके पिछलग्गू उच्च मध्यवर्गीय बुर्जुआ वर्ग के लोग हैं तथा रथिनारा की वह सरकण्डे की गाड़ी, जो वास्तव में हमारी घिसी-पिटी परम्पराओं और मान्यताओं की गाड़ी है, के साथी अपना बोझ मूकना है। इस कविता में समाज में व्याप्त विरोध, भ्रष्टाचार, व्यंग, तनाव और असन्तोष सभी के दर्शन होते हैं। और इस प्रकार यह कविता वर्तमान भारतीय सामाजिक जीवन का सच्चा और ईमानदार प्रतिनिधित्व करती है।

वर्तमान समाज के इस विद्रूप पर इस कविता ने जहाँ तीखे प्रहार किये हैं, वहाँ इस विद्रूप के कारण भारतीय समाज के साथ - साथ इसमें निराशा भी उत्पन्न हुई है किन्तु अभी कविता ने अपना धैर्य नहीं छोड़ा है। समाज में अभी भी सर्जनात्मक शक्तियाँ कार्यशील हैं। आज भी एक बहुत बड़ा वर्ग जीवन के प्रति आस्थावान है। वह व्यक्तिगत स्तर पर जहाँ कहता है —

"उड़ना था स्वप्न विहंगम हो तो है,
लेकिन मैं उनका मोह न छोड़ूंगा
मेरे मानव विष - विष है गाता है
मर जाऊँगा सम्बन्ध न तोड़ूंगा" [1]

वहीं समाज के प्रति भी वह आस्थावान है। उसे अभी भी अटल विश्वास है कि "लाशों जैसे सोने की तिजोरियों पर कफ़न का आवेगा, पागल कुत्ते पास नहीं आने देंगे खोखली सभ्यता को, थोथी कान्वेंट को, बासी कविताएँ, कलाकार का मठी दम्भ मिटा देगा।" [2] और इसी विश्वास के भरोसे वह पूरे समाज को सम्बोधित करते हुए कहता है ——

---

१ राम अवतार त्यागी : ५५ की श्रेष्ठ कविताएँ, पृ० ६० - ६१, नवसाहित्य प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९५६ ।

२ रघुवीर सहाय : काठ की घण्टियाँ, पृ० ३८६ - ३९०, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, १९५६ ।

"" आज के उदार सिद्धान्तों की धार लाओ
हिंसा के सहरा में आशा के तीर लाओ
घर अँधेरे में दीपक जलाओ
घर अमावस में दीवाली मनाओ । ""[1]

३- लोगों के आपसी सम्बन्ध

बुजुर्गों ने आपसी सम्बन्धों को परखने की बहुत पहले ही एक कसौटी तैयार की थी — ""धीरज, धरम, मित्र और नारी । "" किन्तु आज के इस संक्रान्ति के युग में इनमें से कोई भी व्यक्ति का साथ नहीं दे पा रहा है । भारतीय समाज जितना त्रस्त स्वतन्त्रता के उपरान्त हुआ है, उतना पहले कभी नहीं हुआ था । अर्थ पर आधारित इस समाज व्यवस्था में प्रेम - सौहार्द्र सभी कुछ बेमानी हो गए हैं । रिश्ते-नातों और अन्य सम्बन्धों के मूल में जो स्निग्ध प्रेम था वह अब नहीं रह गया है । रिश्ते - नाते और सम्बन्ध पहले भी थे, आज भी हैं, और उनके परिमाण में व्यापक वृद्धि भी हुई है । किन्तु उनका आधार बदल गया है । महानगरीय जीवन में यह स्थिति बहुत तीव्रता से उभर कर सामने आई है । इन सम्बन्धों में प्रेम के स्थान पर अर्थ का आ जाना उतना दुर्भाग्य-पूर्ण नहीं है, जितना अर्थ के आधार पर बने सम्बन्धों को 'शुगरकोटेड कैप्सूल' की तरह प्रेम, प्यार, सौहार्द्र के रंग में रंगना दुर्भाग्यपूर्ण है । यह सम्बन्धों के मूल में अर्थ का अवांछित आगमन है जो इन सभी सम्बन्धों को भीतर से खोखला कर रहा है । फिर भी आम व्यक्ति नहीं कहता कि समाज से प्रेम उठ गया है और लोग अकेले हो गए हैं ।[2] यह दूसरी बात है कि

---

१ भवानी प्रसाद मिश्र : गांधी पंचशती, पृ० २०२, सस्ता प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९६९ ।

२ कीर्ति चौधरी : खुले हुए आसमान के नीचे, पृ० १००, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, १९६८ ।

इसकी भी मांग करती है। और जैसी दोस्ती के बारे में यदि यह सोचता है कि वे मरते हैं,[1] तो यह भी अस्वाभाविक नहीं है। उसका यह भी सोचना वर्तमान संदर्भ में ठीक ही लगता है कि —

"...... प्यार भी कौन करे
जब हर दिमाग एक कमरा है
हर दिल में एक बैंक
हर पेट फूटा कलश है।"[2]

ये महानगरीय जीवन के दिखावटी संबंध अब भारतीय गाँवों पर भी अपना प्रभाव डालने लगे हैं।[3] और इस प्रकार लोक-जीवन में एक टूटन, एक बिखराव की स्थिति बनती जा रही है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि लोक-जीवन अपनी प्राचीनता खो बैठा है अथवा इस विघटन के विरुद्ध भी किसी प्रकार का संघर्ष नहीं हो रहा है। विदेशी प्रभाव से जहाँ अनेक मान्यताएँ, परम्पराएँ टूटी हैं और देश के चरित्र का ह्रास हुआ है, वहीं बहुत कुछ नया और श्रेष्ठ जुड़ा भी है। अतः इस संक्रान्ति की स्थिति को स्वीकार कर ही लोक-जीवन का अध्ययन किया जा सकता है।

वर्तमान भारतीय लोक-जीवन में अंग्रेज़ी सभ्यता के सम्पर्क तथा स्वातंत्र्योत्तर भारत सरकार के अनेक प्रयासों से बहुत बड़ा परिवर्तन हुआ है। उसकी मान्यताओं, आकांक्षाओं में क्रान्तिकारी परिवर्तन आया है। छुआछूत जैसी विघटनकारी प्रवृत्ति जनता से दूर होने लगी है। आदिवासी जातियों के रहन-सहन में भी परिवर्तन हुआ है। देश के औद्योगीकरण के कारण

---

१ रमेश रंजक : हरापन नहीं टूटेगा, पृ० ७९, अक्षर प्रकाशन प्रा० लि०, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७४।

२ कैलाश वाजपेयी : देहान्त से हटकर, पृ० ८, अक्षर प्रकाशन प्रा० लि०, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९६७।

३ रमेश रंजक : हरापन नहीं टूटेगा, पृ० ३०, अक्षर प्रकाशन प्रा० लि०, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७४।

खेतिहर मजदूरों के अतिरिक्त मिल मजदूरों का एक नया वर्ग भी विकसित होने लगा है। किसान अब केवल गाँवों पर ही निर्भर नहीं रहा है। वह नगरों, हटवाड़ों से भी खरीदारी करता है। खेत जोतने के लिए हल - बैल ही नहीं "ट्रैक्टर" भी काम में लाये जाते हैं।

"" स्वतंत्रता प्राप्त हो जाने के बाद देश के प्रबुद्ध वर्ग का ध्यान समाज में "पीड़ित वर्गों" की ओर गया और इन "पीड़ित वर्गों" में नवीन चेतना उत्पन्न हुई। स्त्रियों, हरिजनों, आदिम जाति के पिछड़े हुए लोगों और श्रमिकों तथा कृषकों को उन्नति के पथ पर ले जाने की चेष्टा की जाने लगी है। और उन्हें सामाजिक सुरक्षा प्रदान किये जाने के सम्बन्ध में अनेक सरकारी, गैर सरकारी प्रयास प्रारंभ हो गये हैं।"" [1] बहुविवाह, दहेज प्रथा, गर्भपात, अस्पृश्यता आदि को संवैधानिक स्तर पर अवैधानिक अपराध घोषित कर दिया गया है। सती - प्रथा, बाल विवाह जैसी प्रथाएँ तो लगभग अंग्रेजों के ही शासन काल में समाप्त करदी गई थीं। इस प्रकार लोक-जीवन में से जहाँ अपकार तत्वों और मान्यताओं का निषेध हुआ है वहीं अनेक श्रेयःकारी मान्यताओं, परम्पराओं तथा तत्वों को प्रोत्साहन भी मिला है। "" जमींदारी उन्मूलन और देशी रियासतों का अस्तित्व मिट जाने के बाद गाँवों के सामाजिक - सांस्कृतिक जीवन में आई रिक्तता की पूर्ति का उत्तरदायित्व समाज ने अपने ऊपर ले लिया है। संगीत, नाटक - अकादमी के माध्यम से भी इस उद्देश्य की पूर्ति हो सकती है —— यदि यह लाल फीताशाही बन कर न रह जाय। लोक-साहित्य और लोक-नृत्य को प्रोत्साहन देने की दृष्टि से प्रतिवर्ष स्वतंत्रता और गणतंत्र दिवस के अवसरों पर लोक-नृत्य प्रदर्शित होते हैं। इतना ही नहीं भारतीय

---

१ डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय : द्वितीय महायुद्धोत्तर हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ३५, राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७३।

साहित्य और कला के निर्माण में अब लोक-जीवन को स्थान देने का ध्यान रखा जाने लगा है। वास्तव में इन सभी साधनों और पुरस्कारों तथा प्रदर्शनियों द्वारा देश के लोक-जीवन में सांस्कृतिक चेतना उत्पन्न करने की चेष्टा बराबर होती रहती है।"[1] अधिक अन्न उत्पादन करने पर किसानों को कृषि-पंडित तथा पहलवान और खिलाड़ियों को "अर्जुन पुरस्कार" की उपाधियों से विभूषित करना ऐसे ही कार्य है।

इस प्रकार जहाँ लोक-जीवन में अनेक क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए हैं, वहाँ उसमें कुछ विघटनकारी तत्व भी प्रकट हुए हैं। स्वतन्त्रता से पहले, राष्ट्रीय आन्दोलन के समय कांग्रेस ने जिस स्वाराज्य की कल्पना की थी, उसे पूरा करने में भारत सरकार बहुत कुछ असमर्थ रही है। इससे जनता में निराशा की भावना बढ़ी है। उपर्युक्त प्रयासों से जीवन में नई उमंग, नया प्रवाह, एक नई गतिशीलता भी दिखाई दी है, देश पुरानी पिटी-पिटाई लीक से तो बाहर निकलने की चेष्टा करने लगा है। किन्तु स्वतंत्रता और संस्कृति के ये लाभ एक वर्ग विशेष तक ही सिमटकर रह गए हैं। "वास्तव में स्वतंत्र भारत की यह उपलब्धि जितनी तीव्र गति से और आशानुकूल होनी चाहिए थी, उतनी नहीं हुई और अनेक योजनाएँ केवल कागजी बनकर रह गई हैं। जितना समय और धन इस दृष्टि से लगाया जा रहा है, उसका प्रतिदान देश को मिल नहीं पा रहा है। उसके अनेक बाहरी और भीतरी कारण हैं, किन्तु देश में चारित्रिक एवं नैतिक दृढ़ता का अभाव सबसे बड़ा कारण है। जब तक मामूली से मामूली नागरिक और सरकारी कर्मचारी का चारित्रिक एवं नैतिक उत्थान नहीं होगा, तब तक देश की दशा सुधरने की आशा नहीं है। देश में ऐसा कोई लोकनायक भी नहीं रह गया जो देश के चारित्रिक और नैतिक स्तर को ऊपर उठाने में प्रेरणा प्रदान कर सके।

---

१ डा० लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय : द्वितीय महायुद्धोत्तर हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ३६, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७३।

स्वाधीनता संग्राम के सेनानियों ने जो स्वप्न देखा था, वह अभी पूरा होने को है, क्योंकि जहाँ एक ओर सब टूट ही टूट रहा है, वहाँ व्यापक दृष्टि से, नवनिर्माण की कोई आशा दिखाई नहीं देती ।"[1] यहाँ हमारा उद्देश्य देश में होने वाले सांस्कृतिक विघटन को चित्रित करना नहीं है, उसकी चर्चा अन्यत्र उपयुक्त स्थान पर की जायगी। उपरोक्त उद्धरणों के माध्यम से यहाँ हम केवल इतना कहना चाहते हैं कि नैतिक और चारित्रिक तथा सांस्कृतिक विघटन के परिणाम स्वरूप लोक - जीवन में आशातीत प्रगति नहीं हुई । और लोक - जीवन सामाजिक स्तर पर दो वर्गों में बट गया है । १- नागरिक जीवन, जो सरकारी सहायता और प्रयासों का लाभ उठा रहा है, २- ग्रामीण जीवन, जो अपनी पिछली परम्पराओं, मान्यताओं और रूढ़ियों से चिपक रहा है । इस प्रकार भारतीय लोक - जीवन जहाँ एक ओर अत्यधिक सम्पन्नता पा सका है वहीं, दूसरी ओर उसका पिछड़ापन भी स्पष्ट देखा जा सकता है। इससे भारतीय समाज में अनेक विसंगतियों का जन्म हुआ है । यह विसंगति मुख्यतः आर्थिक और सामाजिक क्षेत्रों में ही दृष्टिगत होती है । वर्तमान हिन्दी कविता ने इन विसंगतियों को उभार कर हमारे सामने प्रस्तुत किया है । एक ओर उसने देखा है —

सागर में
राजा जी के बुर्जे हैं,
मिट्टी के घरवे हैं
आगे खुली रेती के पार
हवा मीरा गयी है ।[2]

---

१ डा० लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय : द्वितीय महायुद्धोत्तर हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ४१-४२, राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली, प्रथम संस्करण १९७३ ।

२ अज्ञेय : अरी ओ करुणा प्रभामय, पृ० ४३, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, १९५९ ।

वहीं सदा नीरा नदी में गाँव के गँवार नहाते, कपड़े फींचते, आचमन करते और पशुओं को भी जलक्रीड़ा कराते हैं, उसी नदी से वे अपने खेत सींचा करते हैं तथा मुर्दों का अंतिम संस्कार भी वहीं होता है । मानों यह एक नदी ही उनके जीवन में सब कुछ हो गया हो । वास्तविकता यह है कि वे जीवन को जीते नहीं, ढोते हैं । उन्हें एक नदी से काम चलाना है, बहुत से साधन उनको उपलब्ध नहीं हैं । इसका एक मात्र कारण है कि —

"सूर्य तो निकला
मगर आलोक
शिखरों में उलझ कर रह गया ।
गगन वातायन प्रकाशित
गूँजती आकाशवाणी
किन्तु धरती को अभी तक
है न किरणों का पता ।"[1]

वास्तविकता यह है कि नागरिक जीवन में स्वार्थपरता बहुत बढ़ गई है । अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिये मौका पड़ने पर एक आदमी दूसरे आदमी को डंस लेता है । आज हर आदमी के भीतर विष भी अधिक भरा हुआ है ।[2] इतना ही नहीं जीवन में उन्नति और उपलब्धि केवल विश्वविद्यालय की ऊँची उपाधि, ऊँची कुर्सी, ऊँचे खानदान में विवाह को ही समझा जाता है ।[3] वहाँ साधारण अपढ़ किसान, लुहार आदि श्रमजीवी जन पढ़े लिखे लोगों की दृष्टि में हीन समझे जाते हैं । आज का पढ़ा-लिखा

---

१ गंगा प्रसाद पाण्डेय : ५५ की श्रेष्ठ कविताएँ, पृ० २९-३०, नव साहित्य प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण १९५६ ।

२ अज्ञेय : इन्द्रधनु रौंदे हुए ये, पृ० २६, सरस्वती प्रेस, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, १९५७ ।

३ बच्चन : जाल समेटा, पृ० ५८, राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली, प्रथम संस्करण १९७३ ।

व्यक्ति अफसर बनकर केवल अत्याचार करता है, कार और मोटरों पर घूमता है और अफसरी को ऐश समझता है।[1]

४- एक नयी और कृत्रिम जिन्दगी का उद्भव

वास्तव में नगर का जीवन औद्योगीकरण के कारण बहुत कुछ मशीनी हो गया है। जीवन की दौड़ में हर व्यक्ति आगे निकल जाना चाहता है और आगे निकलने का अर्थ जैसा कि हम ऊपर बता चुके हैं ऊँची कुर्सी, ऊँचा वेतन, ऊँची हैसियत है। उसके लिए वह हर उपाय करता है — फ्राड (धोखा), राजनीति, अखबारी प्रचार सभी कुछ।[2] सरकार ने भी अब तक देश के औद्योगीकरण की ओर ही विशेष ध्यान दिया है। इसके परिणाम स्वरूप भारत में नगरों का विकास बहुत तीव्र गति से हुआ है किन्तु गाँव उनसे बहुत पीछे छूट गये हैं। नगरों में जहाँ मोटर कार, रिक्शा, साइकिल, आटोरिक्शा, बसें, ट्रकें की धूम सड़कों पर मची है, पुस्तकालय, अस्पताल, कालेज, स्कूल, कारखाने, मिल, डाकखाने, बैंक, रेलवे स्टेशन आदि हैं। टेलीफोन, रेडियो, टेलीविजन, नल, बिजली, कोठी, बंगला, काफी हाउस, सिनेमा आदि हैं, फैशन है, सभ्यता है, अंग्रेजी का प्रचार है, ऊँची तनख्वाह ऊँची कुर्सियाँ हैं — वहाँ भारतीय गाँवों में अभी भी इनका अभाव है। इस नयी और कृत्रिम जिन्दगी के अनेक चित्र वर्तमान हिन्दी कविता में प्रस्तुत हुए हैं। शाम को दफ्तरों के बन्द होने पर "..... सड़कों पे लौटता

---

१ भवानी प्रसाद मिश्र : गांधी पंचशती, पृ० १५३, सरला प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९६९।

२ सुरेन्द्र तिवारी : झुकते हुए, पृ० ७८, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७१।

से शोर, तीसरे पहर के सुनसान की सीढ़, कंक्रीटों पे छूट धूल भरे
गूँजती अनमिली आवाज के साथ जो मिली ध्वनि सी है ज्यादा मीठी,
घंटियाँ बज रही हैं रिक्शों की, बालियाँ साइकिलों की पाती कैरियर,
टोकरी या हैण्डल में कुछ के साग तरकारियाँ की, कुछ में हैं फाइलें सर
पिन मुड़ी ।"[1] और उनके साथ ही उठता रहता है एक शोर, आदमी
और औरतों की आवाजों का, कुत्तों, कारों, हवाई जहाजों का ।[2] इस
प्रकार आज का महानगरीय जीवन दिन भर के शोरगुल के बीच टंगा हुआ है ।

इतना ही नहीं प्रातः काल चाय, अखबार, दफ्तर जाने का क्रम इस कविता में खूबी उभरकर सामने आया है । आपके किसी भी शहरी बाबू के जीवन में "फाइलें" "कोल्हू की परिधि" बन गई हैं ।[3] नगर में मनुष्य का जीवन प्रतिदिन एक ही धुरे पर मशीनों की तरह चलता है । कभी रविवार को उस क्रम से हटने का अवसर मिलता है किन्तु "सारे दिन पढ़ते अखबार, बीत गया है फिर इतवार"[4] की शिकायत हर शहरी बाबू की बनी रहती है । उसे कैलेण्डर से पता लगता है कि "अमुक-दिन," "अमुक वार" को "बसन्त-पंचमी" है, कभी-कभी दफ्तर से छुट्टी होने पर इस बात का पता लगता है कि कहीं बसन्त आ गया है ।[5] अन्यथा नगरों में व्यक्ति बसंत ही क्या सम्पूर्ण रूप से ही कुछ भी प्रकृति को देखने के लिए तरस जाता है । सम्भव है उसके गुलदान में अनेक रंग और गंध

---

१ गिरिजा कुमार माथुर : धूप के धान, पृ० २८, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, तृतीय संस्करण, १९५५ ।

२ भवानी प्रसाद मिश्र : बुनी हुई रस्सी, पृ० ६८, सरला प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७१ ।

३ उमाकान्त मालवीय : पाँच जोड़ बाँसुरी, पृ० १२७, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, १९६९ ।

४ नागेश्वर तिवारी : -वही- पृ० १५० ।

५ रघुवीर सहाय : सीढ़ियों पर धूप में, पृ० १५५, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, १९६० ।

पाले फूल हों किन्तु मुक्त प्रकृति का आनंद उनसे प्राप्त नहीं हो सकता । भले ही महानगरीय जीवन में व्यक्ति अनेक कृत्रिम साधनों की रंगीनियों में डूबा रहे किन्तु उससे प्राकृत बहुरंगियों का अस्तित्व नहीं मिट जाता । ठीक है कि उसके गुलदान में फूल लगे हैं, पर कांटों का अस्तित्व समाप्त नहीं हो गया है । लेकिन महानगरों की स्थिति कुछ ऐसी ही है । वहां शृंगार और फैशन के बल पर सौन्दर्य का प्रदर्शन हो सकता है, सभ्यता के नाम पर असलियत छिपाई जा सकती है लेकिन इससे खूबसूरती या असलियत मिटती नहीं । यह सही है कि —

"" चला गया अंग्रेज यहां से, छोड़ यहां पर मेया ।
छोड़ व्यवस्था गई स्वयं की अति कान्ता कमनीया ।।
गोरा चला गया, गोरांगी - नीति-रीति बन ठहरी ।
केश वेश भूषा परदेशी, मानो नागिन लहरी।। [1]

अंग्रेजों के चले जाने पर जो अंग्रेजियत इस देश में रह गई उसका संघर्ष भारतीयता से होने लगा । नेहरू जी की मृत्यु के बाद आज भारतीयता जीत सकी है । वास्तव में नेहरू जी ने जिस भारत की कल्पना की थी, वह पुराना भारत नहीं था, वह वही भारत नहीं था जो युग - युग से पोषित है अपितु उनकी कल्पना में वह भारत था जो अमेरिका, ब्रिटेन या रूस से मिलता-जुलता हो । वह यूरोप जैसा हो । किन्तु भारत में ये यूरोपीय प्रभाव केवल ऊपरी थे । इस देश की आत्मा को नहीं बदला जा सकता था। ऐसे प्रयत्नों पर व्यंग्य करते हुए आज का कवि कहता है —

---

१ रघुवीर शरण 'मित्र' : मानवेन्द्र, पृ० ४९६, भारतीय साहित्य प्रकाशन, मेरठ, प्रथम संस्करण, १९६५ ।

"तुम कल्चर के हामी थे, लेकिन कपड़े हामी थे
वैसा मन, फिर भी तन ढाँक न पाये।"[१]

फिर भी नगरों में इस प्रकार के प्रयास निरन्तर होते रहे हैं और अब भी हो रहे हैं। इस नयी और कृत्रिम जिन्दगी में सब कुछ "मिथ्याचार" है — चाहे वह नेताओं की मूर्तियाँ स्थापित हों, या अन्याय के खिलाफ नपुंसक सहानुभूतियों के नारे हों, फुसफुसी गालियाँ हों या लगातार झूठे आश्वासन हों — सभी कुछ मिथ्याचार है।[२] यह महानगरों का अंतर्विरोध है, यह उनकी नियति है — और सम्पूर्ण समाज की यही विडम्बना है। महानगरों में जहाँ एक ओर "नकली दाँत, चश्मे, रूज़, लिपस्टिक, साड़ी, भारी हैण्डबैग, नकली बाल, नेल पालिश, झूठ सिल्केन ब्रेज़ियर्स..... ।"[३] और "..... रूखे उलझे बाल, सूखे अंग, तेल बाल, फूलदार गहरे रंग वाले कपड़े, चेहरों से पाउडर के छूटते हुए पपड़े" — वाले "फूलों के मकबरे आते जाते"[४] हैं वहीं इलाहाबाद के पथ पर तोड़ती हुई पत्थर "वह" भी है।[५] 'दो टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर आता' हुआ वह व्यक्ति भी है, जिसके पीठ और पेट मिलकर एकाकार से हो गये हैं, और जो फटी पुरानी झोली का मुँह फैलाता हुआ लकुटिया टेक-टेक कर चल रहा है। दिल्ली में "...... चाँदनी चौक या दरियागंज या स्टेशन

---

१ भारतभूषण अग्रवाल : [illegible], पृ० ९०, बिहार ग्रन्थ कुटीर, पटना – ४, प्रथम संस्करण, १९५४ ।

२ कैलाश वाजपेयी : देहान्त से हटकर, पृ० २७-२८, अक्षर प्रकाशन प्रा० लि०, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९६७ ।

३ सर्वेश्वरदयाल सक्सेना : काठ की घंटियाँ, पृ० ३८४, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, १९५९ ।

४ —वही— पृ० ३८६ ।

५ निराला : कविश्री, पृ० १८, साहित्य सदन, चिरगाँव, झाँसी, सं० २०१६ वि० ।

के गिर्द अपने आक्रुश चेहरे के साथ कराहता हुआ हर भीख माँगने वाला मानुष्य ही है...... किन्तु आज इन मानुष्यों के पास केवल भयावह आकृतियाँ है। [1] और ऐसे मानुष्य केवल दिल्ली ही नहीं हर महानगर में देखे जा सकते हैं। वहाँ केवल शानदार लकदक कोठियाँ ही नहीं होती अपितु "...... कीड़ों हुई भरी गली में सीमेण्ट पान गोंग का स्टूडियो" भी होता है जिसमें सदैव "...... बीड़ी जलाती, उधार सुलगते को टंगा एक काला कपड़ा पिछड़े के क्षताओं और सुराखों में आरपार झलकता नीला आकाश ....." [2] रहता है। महानगरीय जीवन की इन्हीं विसंगतियों को लक्ष्य करते हुए गजानन माधव "मुक्तिबोध" के "चाँद का मुँह टेढ़ा है।" [3] में अन्यत्र कहते हैं ——

पाउडर में सफेद अथवा गुलाबी
छिपे बड़े - बड़े चेचक के दाग मुझे दीखते हैं
सभ्यता के चेहरे पर।
संस्कृति के सुवासित आधुनिकतम वस्त्रों के
अन्दर का कदी वह
नग्न अति बर्बर देह
सूखा हुआ रोमाल पंजर मुझे दीखता है। [4]

परिणामतः आज के मनुष्य को अपने अस्तित्व से भी नफरत हो गयी है। वास्तव में उसी —— "थके इतने लगी भीड़ के कि सब पवित्र संस्कार दूध के दांतों की तरह टूट गये"। [5] उसकी इस "किम् भ्रमित,

---

१ प्रणवकुमार बन्द्योपाध्याय : मृत शिशुओं के लिए प्रार्थना, पृ० ९-१०, पाण्डुलिपि प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७३।

२ वीरेन्द्र कुमार जैन : शून्य पुरुष और वस्तुएँ, पृ० १००, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण १९७२।

३ मुक्तिबोध : चाँद का मुँह टेढ़ा है, पृ० २६, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, १९७१।

४ —वही — पृ० ७७।

काली नभ यात्रा में माँ, बहन, भाई, सम्बन्धी, दोस्त — सब सीपी लहरों की तरह पीछे छूटती गयी हैं। " वह अनुभव करता है कि —

" देह मेरी कोई भी धर्म न निबाह सकी
न मेरी आत्मा अवगाह सकी सत्य को ।"[1]

इन विसंगतियों के साथ ही अस्तित्वहीनता का बोध भी उठता है। अंतरिक्ष के अनेक नक्षत्रों में से एक पृथ्वी, पृथ्वी पर भी अनेक देशों में से एक देश, एक देश में भी अनेक प्रान्तों में से एक प्रान्त, एक प्रान्त में भी अनेक नगरों में से एक नगर, एक नगर में भी अनेक मुहल्लों में से एक मुहल्ला, एक मुहल्ले में भी अनेक घरों में से एक घर, एक घर में भी अनेक कमरों में से एक कमरा, और एक कमरे में बैठा हुआ एक अदना सा आदमी —[2] कितनी छोटी वस्तु है वह। मनुष्य यहीं से अपने को बौना समझता है और यहीं से उसका अहं जगता है। तथा उसकी जययात्रा प्रारम्भ होती है। वह अनेक वस्तुओं का निर्माण करके अपने को निर्माता घोषित करता है। अपने को उनका स्वामी समझकर गौरवान्वित होता है। यानी पहले से कटता है और नये से जुड़ता है। वह अपने को इस नये में डुबा देना चाहता है —— यह नया भी कृत्रिम है। और इसी नये से जुड़ने की उसकी आकांक्षा उसको पिछले से काटती है। और नये से जोड़ने का प्रयास करती है। किन्तु यह जुड़ना ऊपर ही ऊपर तक होता है। अपने पिछले संस्कारों से कटता हुआ आदमी उनसे बच नहीं पाता अपितु उसमें एक निरर्थकता का

---

५ कैलाश वाजपेयी : संक्रान्त, पृ० ६७, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, १९६४ ।

१ —वही— पृ० ६७ ।

२ गिरिजा कुमार माथुर : शिला पंख चमकीले, पृ० ५५, साहित्य भवन प्रा० लि०, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, १९६१ ।

बोध उत्पन्न होता है । "ठीक यहीं है, रिश्तों का फासला उभरता है पश्चिम की सड़कों पर फैल जाता है गाढ़ा अंधकार, आत्मीयता - नीयत की परछाईं दुकानियों में खो जाती है ।"[1] यह नयेपन के लिए अपने पुराने भावों और मनोविकारों तक को दबाता है और अपने को सभ्य कहता है । इस प्रक्रिया में एक समय यह भी आता है "कि किसी को कड़ी बात कही हो भी यह बुरा नहीं मानता जैसे घृणा और प्यार के जो नियम हैं उन्हें कोई नहीं जानता ।"[2] यहाँ बड़ी से बड़ी मुसीबत में भी व्यक्ति को हँसना पड़ता है ।[3] हँसना केवल इसलिये कि मुसीबत में रोना एक बुरी बात है जो अच्छी नहीं समझी जाती और आदमी उसे छिपाना चाहता है । महानगरों का वातावरण इसी छिपाने की प्रवृत्ति का परिणाम है । यहाँ आदमी "ज्योतिष, राजनीति, अखबार और शराब के खाने के नीचे — दुबका बैठा है ।"[4] इन महानगरों में सब कुछ है किन्तु केवल खुले आकाश की कमी है । उसकी उपलब्धियाँ हैं — "विश्वविद्यालय की ऊँची उपाधि, कार्यालय की ऊँची कुर्सी, ऊँचा वेतन, ऊँचे खानदान में ब्याह, सन्तान, ऊँचा मकान और कारों और सुख - सुविधा का सामान"।[5] वह इन्हीं में मग्न है । अपने छोटे - छोटे कार्य करने में वह लज्जा का अनुभव करता है —

> "टोकरी उठाना...... फन नहीं
> वह फैशन के खिलाफ
> इसलिए निगाहें बचा - बचा
> आह, सिकुड़ चलता हूँ मैं
> संकुचित और भयभीत ।"[6]

---

1 धूमिल : संसद से सड़क तक, पृ० ६५, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७२ ।

2 कीर्ति चौधरी : तीसरा सप्तक, पृ० ५८, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, तृतीय संस्करण, १९६७ ।

3 कल्पना : टूटी प्रतिमाओं की आवाज़, पृ० १२०, राजपाल एण्ड संज़, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९६७ ।

वह केवल कुत्तों के कद का ध्यान रखता है, क्योंकि कुत्ते उसे [illegible] कर सकते हैं। वह अपने प्राचीन संवत्सर पर प्रसन्न नहीं होता अपितु कुत्तों में सभ्य कहलाने के लिए उनको नये वर्ष पर "ग्रीटिंग कार्ड" भेजता है। वह अपने पुराने से वैसे अलग - थलग हो जाता है जैसे मरुस्थली से लाकर गमले में लगाया हुआ एकाकी पौधा।[१]

इन विभीषिकाओं में यदि व्यक्ति अपने को निरर्थक और अस्तित्वहीन अनुभव करता है तो स्वाभाविक ही है। इसी कारण सम्भवतः कुंठाएँ, निराशा, वेदना और पीड़ा जन्म लेती है। किन्तु अँग्रेजों की कृपा से, द्वितीय विश्व युद्ध के कारण उत्पन्न आर्थिक निर्बलता को दूर करने के लिए औद्योगीकरण का जो नशा चढ़ा था वह स्वतंत्र भारत में तीव्र गति से अब उतरने लगा है। देश के नेताओं ने कृषि पर और गाँवों के विकास पर ध्यान दिया है। साहित्यकारों का ध्यान भी इस दिशा में गया है और वे पुनः महानगरीय जीवन से अलग ग्रामीण जीवन की बात कविता में करने लगे हैं। यह अलग बात है कि कुछ साहित्यकारों ने इस दिशा में केवल दिखावे भर के लिए कदम बढ़ाया है। किन्तु यह निश्चित है कि लोग महानगरीय जीवन से ऊब गये हैं और पुनः अपने पुराने से जुड़ने लगे हैं।

---

४ सुरेन्द्र तिवारी : धुन्धली धूप, पृ० ७९, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७१।

५ बच्चन : जाल समेटा, पृ० ५८, राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७३।

६ मुक्तिबोध : चाँद का मुँह टेढ़ा है, पृ० ११२, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, १९७१।

१ सर्वेश्वरदयाल सक्सेना : तीसरा सप्तक, पृ० २१३, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, तृतीय संस्करण, १९६७।
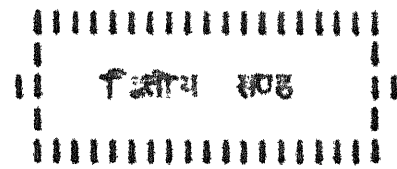
स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कविता में अभिव्यक्त लोक का आन्तरिक जीवन

लोकवार्ता

१- लोकविश्वास

२- लोक-मान्यताएं

३- लोक-रूढ़ियां

४- लोक-परम्पराएं

५- लोक-आस्था

६- लोक-रुचि

७- लोक-अनुष्ठान

८- निष्कर्ष

प्रथम अध्याय

लोक-वार्ता

लोक के व्यावहारिक या प्रत्यक्ष जीवन में उसकी जिस मानसिकता की अभिव्यक्ति होती है वह सम्पूर्ण मानसिकता ही लोक का आन्तरिक जीवन है। लोक का सम्पूर्ण व्यावहारिक जीवन इसी आन्तरिक जीवन का विकास है। जिस प्रकार सम्पूर्ण वृक्ष में उसके बीज की अभिव्यक्ति होती है, उसी प्रकार लोक के बाह्य जीवन में लोक के मानसिक जीवन की अभिव्यक्ति होती है। लोक - जीवन का कोई भी अध्ययन इस मानसिक जीवन के अध्ययन के बिना अधूरा ही है।

जैसा कि हम पीछे कह आये हैं लोक के इस आन्तरिक जीवन में उसके अपने कुछ विश्वास, आस्थाएँ तथा परम्पराएँ आदि होती हैं जो कि उसके बाह्य जीवन के संचालन में प्रेरक का कार्य करते हैं। इसके अतिरिक्त लोक की अपनी एक मेण्टालिटी होती है जो उसके प्रत्येक व्यवहार में देखी जा सकती है। किन्तु उसे भली प्रकार समझने का अवसर लोक साहित्य में ही उपलब्ध होता है। अतः यहाँ हम स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कविता पर लोक साहित्य के प्रभाव का भी अध्ययन करेंगे। चूंकि लोक की यह " मेण्टालिटी " अपने आप में एक विरल और अदृश्य वस्तु है और इसे केवल अनुभव किया जा सकता है। अतः स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कविता में इसके अध्ययन के लिये लोक-साहित्य का उस पर प्रभाव देखना और भी अनिवार्य हो जाता है। शेष विश्वास, आस्था, मान्यता आदि, जिनसे इस " मेण्टालिटी " का निर्माण होता है, की लोक के बाह्य जीवन में प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति देखी जा सकती है। इसलिये इनका सीधा

अध्ययन किया जा सकता है। यहाँ हम क्रम से लोक के आन्तरिक जीवन के उन तत्वों का, जिनकी अभिव्यक्ति लोक के बाह्य जीवन में होती है, स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कविता के सन्दर्भ में अध्ययन करेंगे।

१- लोक - विश्वास

लोक-जीवन में लोक - विश्वासों का बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है। समस्त "लोक" अपने जीवन में इन्हीं विश्वासों से संचालित होता है। विश्व के लगभग सभी देशों में कुछ अदृश्य छायाओं तथा आत्माओं से संबंधित विश्वास पाये जाते हैं। पूरे विश्व के अपढ़ तथा "लोक" कहलाने के अधिकारी जनों में भूत, प्रेत, पिशाच, डाकिनी (या डायन) आदि जैसी किसी न किसी अदृश्य आत्मा में विश्वास देखा जाता है। इन छायाओं से बचने के लिये "लोक" अपने जीवन में विभिन्न प्रकार के आयोजनों का अनुष्ठान करता रहता है। डुबॉइस महोदय ऐसी आत्माओं को दो भागों में बाँटते हैं — १- पुण्यात्माएं तथा २- पापात्माएं।[1] "पाइथागोरस" और "प्लेटो" तथा उसके अनुयायी भी ऐसी आत्माओं के होने में विश्वास करते थे। अतः ऐसे विश्वास विश्व में बहुत पुराने हैं। भारतवर्ष में ऐसे अनेक अनुष्ठानों का आयोजन

---

१ "Almost all ancient philosophares, among them Pythagoras and the followers of Plato, have agreed in saying that each human-being being is under the influence of a good spirit or an evil spirit; some even go so far as to allow him both a good and a bad spirit."

— Abbe J.A. Dubois : Hindu manners, Customs and Ceremonies, Part III, Ch. VI, p.544.

किया जाता है जिनमें इस प्रकार के विश्वासों को अभिव्यक्ति मिलती है। ऐसी आत्माओं को यहाँ भूत, पिशाच आदि कहा जाता है। इनको प्रसन्न करने के लिये, इन्हें वश में रखने के लिये तथा इनके दुष्प्रभाव से बचने के लिये, डिठौना, नज़र उतारना, भभूत का टीका लगाना आदि अनेक प्रकार के अनुष्ठानों का यहाँ प्रचलन है।

स्वतन्त्रता के उपरान्त की हिन्दी कविता में ऐसे विश्वासों को पूरी अभिव्यक्ति मिली है। प्राय: ये लोक - विश्वास नाम-परिगणन तक ही सीमित रहे हैं। ऐसी अदृश्य छायाओं पर विश्वास की भावना अनेक कविताओं में विभिन्न रूपों में प्रकट हुई है। इन कविताओं में कहीं इनका विद्रूप के रूप में, कहीं भय के भाव को जगाने के साधन के रूप में, कहीं प्रतीक के रूप में कथन हुआ है। कहीं - कहीं इन विश्वासों का नाम मात्र गिना कर सीधे - सीधे इनका कथन किया गया है। स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कविता में इन अदृश्य आत्माओं में से भूतों के सम्बन्ध में सर्वाधिक जानकारी प्राप्त होती है। "लोक" में यह विश्वास किया जाता है कि भूत भी मनुष्य ही की भाँति जीवन यापन करते हैं। किन्तु उनके पैर पीछे की ओर मुड़े हुए होते हैं[1] साथ ही वे भयानक भी होते हैं,[2] उनके भी राजा, प्रजा तथा न्यायालय आदि होते हैं।[3] वे चाहे जिस

---

1 अज्ञेय : इन्द्र धनु रौंदे हुए ये, पृ० २८ : सरस्वती प्रेस, इलाहाबाद : प्रथम संस्करण।

2 शकुन्त माथुर : चाँदनी चूनर, पृ० ६५, साहित्य भवन प्रा० लि० इलाहाबाद : प्रथम संस्करण।

3 बच्चन : जाल समेटा : पृ० ५० : राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली प्रथम संस्करण।

अवसर पर चाहे जैसा रूप धारण कर सकते हैं।[१] प्रायः बच्चों का ये अनिष्ट करते हैं, अधिक उम्र के लोगों पर भी ये हानिकर प्रभाव करते हैं। किन्तु यह प्रभाव प्रायः रात में, या ग्रीष्म की दुपहर में, निर्जन स्थानों, पीपल, श्मसान आदि में ही हो पाता है।[२] वीरेन्द्र कुमार जैन की " वह गई है फूल बीनने " शीर्षक कविता में इस प्रकार का विश्वास और तज्जन्य भय की सफल अभिव्यक्ति हुई है। इस कविता में भय भूतों के साथ - साथ भूतों की सिद्धि करने वाले अघोरी का अधिक है —

"" वह तकिया है किले वाले शाह" का,
उस जीर्ण फूटी दरगाह में।
वहीं डरावनी लाल आँखें हैं उसकी,
भय हीन भूतों के बूढ़े ठुण्ठलों की
विरल छाया में बैठ कर
चरस वह पीता है
लंबी मैली - रंगी दाढ़ी, घनी जटाएँ,
बेलचों जैसे लम्बे दांत हैं उसके
चिमटा हिला-हिला कर गरजता है
वह मेघ जैसा।
उसी रास्ते गई है वह फूल बीनने। ""[३]

---

१ गिरिजा कुमार माथुर : शिलापंख चमकीले : पृ० ७ : साहित्य भवन प्रा० लि० इलाहाबाद। प्रथम संस्करण।

२ अजित कुमार : अकेले कण्ठ की पुकार : पृ० ५२ : राजकमल प्रकाशन, प्रथम संस्करण।

३ वीरेन्द्र कुमार जैन : साम्प्रतिकी : पृ० ७८ : बिहार ग्रन्थ कुटीर पटना। प्रथम संस्करण।

कभी - कभी ये भूत किसी व्यक्ति के सर चढ़ जाते हैं। तब वह व्यक्ति जिस पर भूत चढ़ा होता है अपनी इच्छा से कोई कार्य नहीं करता अपितु उस भूत की इच्छा से ही वह संचालित होता है। पं० ऋषिकेश चतुर्वेदी की "शोषण का भूत" शीर्षक कविता में भूत के साथ - साथ डाकनी के सर चढ़ने का यह विश्वास सांगरूपक के रूप में चित्रित हुआ है।[१]

भूतों के समान ही डाकिनी या डायन के होने के संबंध में भी लोक का विश्वास है। अज्ञेय ने अपनी एक कविता में लोक विश्वास के अनुरूप ही एक निपट नंगी डाकिनी की कल्पना की है।[२] वह अपनी विद्रूपता और रहस्यशीलता में नंगी न होकर कुर्ता पहन कर भी आ सकती है साथ ही उसके पास कोई रहस्यपूर्ण पेटी या थैली भी हो सकती है।[३]

भूत और डाकिनी के अतिरिक्त ब्रह्मराक्षस और जिन्नों का भी इन कविताओं में उल्लेख हुआ है। किन्तु लोक विश्वास के ये पात्र यहाँ मात्र प्रतीक के रूप में लिये गए हैं। मुक्तिबोध की "ब्रह्मराक्षस" शीर्षक कविता इसी प्रकार की है। किन्तु इस प्रतीक में भी ब्रह्मराक्षस के लोक - चित्रित रूप को नष्ट नहीं किया गया है। वह भी मन्त्रादि का पाठ करता है, वह भी अर्ध ग्रस्त

---

१ पं० ऋषिकेश चतुर्वेदी : ताप की छाया में : पृ० १७६, सहकारी प्रकाशन, आगरा, प्रथम संस्करण।

२ अज्ञेय : अरी ओ करुणा प्रभामय : पृ० ७७ : भारतीय ज्ञानपीठ प्रथम संस्करण।

३ वीरेन्द्र कुमार जैन : शून्य पुरुष और वस्तुएँ पृ० २०१ : भारतीय ज्ञानपीठ, प्रथम संस्करण।

है।[1] ब्रह्मराक्षस की परिकल्पना भारत में बहुत प्राचीन है। याज्ञवल्क्य के अनुसार जो व्यक्ति दूसरे की पत्नी का हरण करता है या ब्राह्मण का धन हरता है, वह (मृत्यु के बाद) जंगल के किसी निर्जन प्रदेश में जाकर ब्रह्मराक्षस हो जाता है।[2] यह भी कहा जाता है कि व्यभिचारी या दुष्ट प्रकृति के विद्वान ब्राह्मण या तपोनिष्ठ ही मृत्यु के उपरान्त ब्रह्मराक्षस बनते हैं।

जिन्न के सम्बन्ध में अलादीन नामक व्यक्ति की कहानी लोक-प्रचलित है। जिसमें अलादीन को एक चिराग मिलता है जिसको रगड़ने पर एक शक्तिशाली जिन्न प्रकट होता है जो प्रत्येक कार्य कर सकता है। अतः अलादीन के जादुई चिराग और उसके जिन्न की सत्यता पर लोक का विश्वास है। प्रणकुमार बंद्योपाध्याय की एक कविता "कालपुरुष" में अलादीन के इस जादुई चिराग को अन्योक्ति का माध्यम बनाया गया है।[3]

इनके अतिरिक्त अनेक प्रकार की अदृश्य काली छायाओं के होने पर भी लोक का विश्वास है। वह मानता है कि ये छायाएँ

---

१ मुक्तिबोध : चाँद का मुँह टेढ़ा है : पृ० १२-१३ : भारतीय ज्ञानपीठ, प्रथम संस्करण।

२ "परस्य योषितं हृत्वा ब्रह्मस्वं अपहृत्य च।
अरण्ये निर्जले देशे भवति ब्रह्मराक्षसः॥"
(याज्ञवल्क्य स्मृति : ३।२१२)

३ मृत शिशुओं के लिये प्रार्थना : पृ० ६ : पाण्डुलिपि प्रकाशन, प्रथम संस्करण।

हानि कारक होती हैं। इसीलिये प्रत्येक माता अपने बच्चे से इन अदृश्य काली छायाओं को दूर ही रखना चाहती है --

"दूर - दूर ही रहना ओ काली छायाओं
अपने काले डैने फैला
न आना इस ओर
छिप जायगी रोशनी।" [1]

जिन वस्तुओं पर लोक का विश्वास है उनमें "जादू" भी एक है। कामरूप देश और बंगाल का जादू बहुत प्रसिद्ध है। काला जादू भी जो सम्भवतः अरब देशों की देन है-लोक विख्यात है, साथ ही उसके होने पर भी लोक का विश्वास है। यह जादू प्रत्येक व्यक्ति के वश में नहीं होता। जो व्यक्ति इसे वश में कर लेते हैं, वे जादूगर या जादूगरनी के नाम से जाने जाते हैं। ये जादूगर लोग अपने जादू के प्रभाव से बहुत से असंभव कार्य भी कर सकते हैं -- ऐसा लोक विश्वास है। किसी व्यक्ति या वस्तु का रूप परिवर्तित कर देना उनके लिये एक फूँक मात्र से ही सम्भव हो जाता है। [2] वे किसी भी वस्तु को दीवाल या काँच में से भी पार करा सकते हैं। रूपक के रूप में इस विश्वास को अभिव्यक्ति मिली है, वीरेन्द्र कुमार जैन की "परात्पर पुरुष" शीर्षक कविता में --

---

1 कीर्ति चौधरी : खुले हुए आसमान के नीचे : पृ० ८६, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण।
2 भवानी प्रसाद मिश्र : बुनी हुई रस्सी : पृ० ३६, सरला प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण।

"पर अजीब जादूगरनी है यह रात
कि इस बन्द खिड़की के अँधेरे काँच में होकर
उस अपरिचित पहाड़ का यह अंश
अपने संपूर्ण अँधेरे को लेकर
चला आ रहा है मेरी आँखों के पार
मेरे भीतर : "[1]

इस कविता में जादू द्वारा असम्भव को भी सम्भव कर देने का भाव छिपा है। रात में सब कुछ का मनुष्य की आँखों में होकर भीतर समा जाना एक जादू ही है, अन्यथा यह असम्भव है।

इसी प्रकार लोक का विश्वास कुछ शुभ शकुन और अपशकुनों में भी है। शकुन शब्द का अर्थ होता है – पक्षी। यह लोक विश्वास है कि विश्व में पाये जाने वाले अनेकानेक पक्षियों में से कुछ शुभ तथा कुछ अशुभ फल दायक होते हैं। इनमें से बटेर एक ऐसा ही पक्षी है, जिसका जोड़ा किसी भी यात्रा के लिये शुभ शकुन माना जाता है। और शकुन बताने वाले पक्षी को लोक स्नेह की दृष्टि से देखता है। शकुन बताने वाले पक्षी के प्रति, जिनका शकुन बनता है, उनके मन में एक अपनत्व का भाव बन जाता है और वे उन्हें "मेरे मिथुन बटेर के "[2] कह कर सम्बोधित करते हैं। इसी प्रकार काग का अटारी पर बोलना विरहिणी नायिका के लिये पियागम का सूचक माना जाता है।[3] विरहिणी स्त्रियाँ इस

---

१ शून्य पुरुष और वस्तुएँ, पृ० १३, भारतीय ज्ञानपीठ, प्रथम संस्करण ।

२ नरेश मेहता : पाँच जोड़ बाँसुरी : पृ० ५६, भारतीय ज्ञानपीठ, प्रथम संस्करण ।

३ उमाकान्त मालवीय : मेंहदी और महावर, पृ० ४६, साहित्यभवन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण ।

अक्सर जो प्राय: " पाहुन केला " कहती है ।[1]

अपशकुनों में बिल्ली का रास्ता काट जाना, कुत्ते का रोना, छींक आजाना आदि आते हैं ।[2] विनोद नन्दिनी की " वहम के हवाले " शीर्षक कविता में तो अपशकुन सम्बन्धी ऐसे अनेक विश्वासों की एक सूची सी देदी गई है --

" " छींकना,
बाँए अंगों का वे रुके
या रुक - रुक कर फड़क उठना,
काली बिल्ली का
रास्ता काट जाना
जंगली मैनाओं का
घर की ताकों में
घुँ घुँ कर घरोंदे बनाना
बरसों की लगी धूल
पुरानी चिकों में
चमगीदड़ों का व्यापना " "[3]

यहाँ ध्यातव्य है कि बाएँ अंगों का फड़कना पुरुषों के लिये शकुन और स्त्रियों के लिये अपशकुन माना जाता है । इसी प्रकार छींक में भी शकुन और अपशकुन दोनों ही माने जाते हैं । सामने की

---

१ नरेश मेहता : पाँच जोड़ बाँसुरी, पृ० ५७, भारतीय ज्ञानपीठ, प्रथम संस्करण ।

२ शिशुरश्मि : तारों के अन्धे शहर में, पृ० ८३, हेमन्त प्रकाशन, प्रथम संस्करण ।

३ विनोद नन्दिनी, इति : पृ० ४६ : राजपाल एण्ड सँज़, प्र० संस्करण।

ओर से तथा बायें हाथ की ओर से छींक का आना अपशकुन तथा पीछे से और बायें हाथ की ओर से छींक का आना शकुन माना जाता है।

||||||||||||||||||||
२- लोक - मान्यताएँ
||||||||||||||||||||

विश्वासों की ही भाँति कुछ मान्यताएँ भी लोक-जीवन के बहुत क्रिया-कलापों को संचालित करती हैं। यह दूसरी बात है कि इन मान्यताओं के पीछे कोई न कोई लोक-विश्वास ही कार्य करता है। शपथ, सौगन्ध या कसम एक ऐसी प्रकार की मान्यता है, जिसके पीछे यह विश्वास छिपा है कि "शपथ" का पालन न करने पर जिस व्यक्ति की शपथ ली जाती है, उस व्यक्ति का अनिष्ट या मृत्यु हो जाती है। अतः दूसरों को अपनी बात का विश्वास दिलाने के लिये लोक-जीवन में इसे मान्यता प्राप्त हो गई है। भवानी प्रसाद मिश्र की अनेक कविताओं में संकल्प तथा दूसरों को अपनी बात का विश्वास दिलाने के लिये खाई जाने वाली शपथों पर व्यंग्य किया गया है। वे सौगन्ध को कहीं तो मन की कमजोरी कहते हैं[1] और कहीं आदत[2]।

इसी प्रकार लोक की इस मान्यता को भी अनेक कवियों ने अपने काव्य में स्थान दिया है कि मृत्यु के उपरान्त या प्रलय के समय

---

१ गांधी पंचशती : पृ० १६८, सरला प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण।

२ -वही - पृ० ७४।

ईश्वर सभी व्यक्तियों के कर्मों का निर्णय करता है। इसीलिये लोक में सत्कार्य करने तथा असत्कार्यों से बचने की प्रवृत्ति पाई जाती है। जन सामान्य की आत्मा उससे सदा कहती है —
"उस दिन क्या उत्तर दोगे, जिस दिन पूछेगा परमेश्वर"।[1]
मृत्यु या प्रलय के समय ईश्वरीय न्याय की मान्यता हिन्दू, मुस्लिम, ईसाई आदि सभी धर्मों में देखी जा सकती है। हिन्दू पुराणों के अनुसार मृत्यु के उपरान्त यदि यमराज व्यक्ति का न्याय करते हैं, तो इस्लाम में क्यामत के दिन खुदा सब रूहों का इन्साफ़ करता है। इसी प्रकार "प्रलय" की मान्यता भी सभी धर्मों में स्वीकृत है। भवानी प्रसाद मिश्र की "प्रलय" शीर्षक कविता में प्रलय की इस धार्मिक मान्यता को भी अभिव्यक्ति मिली है।[2] इसी प्रकार "सत्यमेव जयते नानृतं" की मान्यता का भी लोक - जीवन पर गहरा प्रभाव है।[3] लोक - जीवन में सामान्य व्यक्ति की आस्थावादी दृष्टि बहुत कुछ इसी का परिणाम है।

इसके अतिरिक्त दर्पण के टूट जाने पर भाग्य के रूठ जाने की मान्यता[4], "कस्तूरी काजल" की मान्यता[5] (जिसे आँजने से

---

१ अम्बा शंकर नागर : चाँद चाँदनी और कैक्टस, पृ० ६४, राधा कृष्ण प्रकाशन, प्र० संस्करण।

२ भवानी प्रसाद मिश्र : दूसरा सप्तक, पृ० १६, प्रगति प्रकाशन, प्र०सं०

३ शिवमंगल सिंह "सुमन" : मिट्टी की बारात, पृ० ११२, राजकमल प्रकाशन, प्रथम संस्करण।

४ दिनेश नन्दिनी : इति, पृ० ६६, राजपाल एण्ड संस, प्र० सं०।

५ वीरेन्द्र कुमार जैन : शून्य पुरुष और वस्तुएँ, पृ० १०२, भारतीय ज्ञानपीठ, प्रथम संस्करण।

" जंगलों के अगम्य अगोचर मर्म में " भी देख सकने की शक्ति उत्पन्न हो जाती है), स्वाति की बूंद से मोती और कपूर बनने की मान्यता[1] (कहते हैं स्वाति नक्षत्र में वर्षा की कोई बूंद यदि सीप में गिरती है तो मोती और केले में गिरती है तो कपूर बन जाती है) स्वाति की वर्षा से ही चातक की प्यास बुझाने की मान्यता,[2] तथा अष्टांग योग द्वारा मृत्यु को रोके जा सकने की मान्यताओं[3] का भी स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कविता में कथन किया गया है।

दान और भाग्य भी भारतीय लोक - जीवन में प्राचीन काल से ही मान्यता प्राप्त कर चुके हैं। कहते हैं, ब्राह्मण को कोई वस्तु दान करने पर वह ईश्वर को प्राप्त हो जाती है।[4] साथ ही मनुष्य को कोई श्रेष्ठ वस्तु ईश्वर की लम्बी - साधना करने पर ही प्राप्त होती है।[5] वास्तव में ईश्वर-भक्त व्यक्ति भाग्यवान हो जाता है। किन्तु यह भाग्य अदृश्य होता है। पता नहीं वह किस समय क्या चमत्कार दिखावे। उस पर किसी का कोई वश नहीं है।[6]

---

१ शमशेर बहादुर सिंह : पाँच बाँह बाँसुरी, पृ० २६, भारतीयज्ञानपीठ प्रकाशन, प्रथम संस्करण।

२ अज्ञेय, बावरा अहेरी, पृ० ४३, भारतीय ज्ञानपीठ, द्वितीय संस्करण।

३- विनोद नन्दिनी : इति, पृ० २१, राजपाल एण्ड संस, प्रथम संस्करण।

४ नरेश मेहता : मेरा समर्पित एकान्त : पृ० १२, [illegible], दिल्ली, प्रथम संस्करण।

५ उमाकान्त मालवीय : मेंहदी और महावर, पृ० २३, साहित्य भवन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण।

६ केदारनाथ सिंह : अभी बिल्कुल अभी, पृ० १६, नया सा० प्र० प्रथम सं०।

स्थानीय मान्यताओं को भी स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कविता में स्थान मिला है। गिरिजा कुमार माथुर की "विद्याधरी" कविता में "मालवा-प्लैटो की उत्तरी सीमा के एक गाँव की पहाड़ी" के सम्बन्ध में वहाँ के लोगों की अनेक मान्यताओं का उल्लेख हुआ है। इस कविता में "विद्याधरी" नामक पहाड़ी पर संध्या-समय स्वयं ही एक दीपक के जलने की मान्यता है। इस दीपक के गुप्त रहस्य को जानना पाप होता है -- ऐसी भी मान्यता है। साथ ही सोलह बोल की पुरानी कथा, हर चबूतरे पर देवी, हर टीले पर बरम देवता होने की मान्यता, बावड़ी पर मृत राजा - रानी तथा अप्सराओं का निवास एवं चरवाहों के पत्थर में राजा विक्रमादित्य के सिंहासन की मान्यता आदि का बड़ा सजीव चित्रण इस कविता में हुआ है।[1]

सार्वलौकिक मान्यताओं में पाप पूर्ण प्रयासों की असफलता का निश्चय या पाप के घड़े के भर जाने पर उसके अवश्य फूटने[2] तथा सब कुछ विधाता द्वारा प्रदत्त होने[3] के साथ - साथ

---

१ शिलापंख चमकीले : पृ० ५ - ७ - ८, साहित्य भवन प्रा० लि० इलाहाबाद, प्रथम संस्करण ।

२ वीरेन्द्र मिश्र : ५५ की श्रेष्ठ कविताएँ, पृ० १०७-११०, नवसाहित्य प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण ।

३ अज्ञेय : आँगन के पार द्वार, पृ० १५-१६, भारतीय ज्ञानपीठ काशी, प्रथम संस्करण ।

गिरनार की पूजा से सिद्धि प्राप्त होने[1] आदि की मान्यताएँ भी लोक - प्रचलित हैं, जिनको स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कवियों ने अपनी कविताओं में प्रकट किया है। इन कवियों में भवानी प्रसाद मिश्र, गिरिजा कुमार माथुर, अज्ञेय, केदार नाथ अग्रवाल, शमशेर बहादुर, दिनेश नन्दिनी तथा अम्बा शंकर नागर आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

३- लोक - रूढ़ियाँ

लोक - रूढ़ियों का स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कविता में लगभग अभाव सा है। इसका कारण वर्तमान युग की वैज्ञानिकता से उत्पन्न सभ्य समाज की उनके प्रति उपेक्षा ही कहा जा सकता है। फिर भी उमाकान्त मालवीय, विधुरश्मि आदि की कविताओं में कहीं-कहीं कुछ लोक-रूढ़ियों का उल्लेख हुआ है। और यह उल्लेख भी कहीं व्यंग्य के रूप में ---

"बीवियों का तिरस्कार पूजें मकबरे
रीति यह तुम्हारी है कौन क्या करे।
ताजमहल, पितृपक्ष, श्राद्ध सिलसिले
रस्म यह अभी नहीं कभी थमी नहीं।"[2]

---

१ बाल कृष्ण राव : आधुनिक कवि, पृ० ९९, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, प्रथम संस्करण।

२ उमाकान्त मालवीय : पाँच जोड़ बाँसुरी, पृ० १२४, भारतीय ज्ञान पीठ, प्रथम संस्करण।

और कहीं उपमान के रूप में हुआ है ---

" मेरा पारस सा अमूल्य सपना
किसी विधवा की चूड़ियों सा टूट गया है । "[1]

इन कविताओं में मकबरों की पूजा, श्राद्ध तथा विधवा होने पर स्त्री की चूड़ियों का टूटना आदि लोक - रूढ़ियाँ ही हैं । इस्लाम में बुत परस्ती का विरोध किया गया है तथा बुतपरस्तों को काफिर कहा गया है फिर भी उनमें मज़ार की पूजा हिन्दुओं की मूर्ति पूजा ही की भांति होती है । हिन्दुओं में भी शव को जला देने की परम्परा है लेकिन अनेक हिन्दू भी पीरों की दरगाहों पर जाकर मनौतियां मनाते हैं । इसी प्रकार 'श्राद्ध' की परम्परा भी हिन्दुओं की बहुत प्राचीन रूढ़ि है जिसके पीछे पितृों (मृतात्माओं) को तृप्त करने की भावना निहित रहती है । अन्य धर्मों में चूंकि शव को जलाया नहीं जाता अतः शव के ही साथ भोज्य सामग्री रख दी जाती है । इस प्रकार श्राद्ध भी एक लोक - रूढ़ि ही है जो किसी न किसी रूप में सर्वत्र पायी जाती है ।

ब्रह्मा की कारेन जाति के लोग मृतकों के प्रति सम्मान प्रदर्शित करते हैं । मैक्सिको घाटी के आदिवासी प्रतिवर्ष नवम्बर माह में श्राद्ध करते हैं, और अपने मृत पूर्वजों की समाधि पर फूल

---

१ विष्णु रश्मि : नारों के अन्धे शहर में, पृ० २२, हेमन्त प्रकाशन प्रथम संस्करण ।

अर्पित करते हैं। भारतवर्ष में भी इससे लगभग एक मास पूर्व अक्टूबर के प्रारम्भ में (क्वार मास के कृष्ण पक्ष में) पितृ-पक्ष मनाया जाता है, जिसमें मृतकों के नाम से ब्राह्मण भोजन तथा तर्पण किया जाता है। नागा जाति के लोग भी मासिक श्राद्ध करते हैं। पेरू के निवासी प्रति वर्ष नियत तिथि पर शव को स्थापित कर उत्सव मनाते हैं। भारत में भी महीने पर (मास-तिथि पर) ब्राह्मण - भोजन कराते हैं तथा वर्ष पूरा होने पर बरसी मनाते हैं। मिस्र में भी ऋतु परिवर्तन के अवसर पर वर्ष में तीन बार श्राद्ध किया जाता है। किन्तु इन श्राद्धों का सम्बन्ध मूलतः ऋतु परिवर्तन से नहीं है जैसा कि अनेक विद्वानों ने अनुमानित किया है। अपितु इसके मूल में मृतक या आत्मा सम्बन्धी लोक-विश्वास ही है क्योंकि पूरे विश्व में कहीं भी श्राद्ध ऋतु परिवर्तन के साथ नहीं मनाये जाते। मिस्र में ऐसा होना मात्र एक संयोग ही हो सकता है।

श्राद्ध की ही भाँति दैनिक जीवन में गाय, कुत्ता, कौवा आदि के लिये भोजन करने से पूर्व रोटी निकालने की, तथा कबूतरों और चिड़ियों को बाजरा या चावल डालने की भी रूढ़ि लोक प्रचलित है।[1] भारत की हर सम्प्रदायों से लोक - जीवन में इस रूढ़ि

---

१ वैदिक कर्म-काण्ड में इसे "भूतयज्ञ" की संज्ञा दी गयी है। इसके बिना किये, अन्न भक्षण करने की आज्ञा हिन्दू धर्म नहीं देता। गीता में ऐसा न करना पाप कहा गया है —

यज्ञशिष्टाशिन: सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्विषै: ।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥
गीता ३।१३

के पालन की आशा लोक करता है।[1] वस्तुत: यह भी श्राद्ध का ही एक अंग है।

वास्तव में श्राद्ध के दो कारण हैं—एक तो मृतात्मा को पुनर्जन्म दिलाने का उद्देश्य, दूसरा प्रेतात्माओं, जो अनिष्टकारी शक्तियां हैं, को प्रसन्न करने का उद्देश्य — जैसा कि मोनियर विलियम्स महोदय ने स्वीकार किया है।[2]

भारतवर्ष का समाज पितृसत्तात्मक समाज है। अत: स्त्री का स्थान यहां पुरुष से नीचा समझा जाता है। यहां स्त्री का तन, मन, धन और यौवन — सभी कुछ पति को समर्पित माना जाता है। अत: भारतीय लोक विधवा स्त्री को शृंगार की अनुमति नहीं देता और इसीलिये विधवा स्त्रियों की चूड़ियां तोड़ देने की रूढ़ि भी लोक प्रचलित है।

इस प्रकार इन कविताओं में कुछ लोक - रूढ़ियों को स्थान अवश्य मिला है किन्तु इस युग के कवि के मन में लोक - रूढ़ि के प्रति कोई विशेष लगाव नहीं है।

---

१ शकुन्त माथुर : चांदनी चूनर, पृ० १८, साहित्य भवन प्रा० लि० इलाहाबाद, प्रथम संस्करण।

२ Abbe, J.A. Dubois : Quoted in Hindu Manners, Customs & Ceremonies, Part XXIX, p. 482.

४- लोक-परम्पराएँ

भारत में अंग्रेजों के आगमन के साथ जो नई चेतना की लहर उत्पन्न हुई उसके परिणाम स्वरूप अनेक सुधार आन्दोलनों का जन्म हुआ। राजा राम मोहन राय, लार्ड विलियम बैंटिक, स्वामी दयानन्द आदि ऐसे ही समाज सुधारक नेता थे। इनके सुधार आन्दोलनों तथा सुधार कानूनों से भारत की अनेक रूढ़ियाँ और परम्पराएँ क्रमशः समाप्त हो गईं। बाल-विवाह, सतीप्रथा आदि ऐसी ही प्रथाएँ हैं। आज भी इन परम्पराओं और रूढ़ियों के विरुद्ध एक आन्दोलन भारतीय साहित्यकारों ने छेड़ रखा है।

भारतवर्ष में विवाह के साथ दहेज की परम्परा भी एक ऐसी परम्परा है जो देश और उसके निवासियों की आर्थिक स्थिति को देखते हुए अहितकर ही कही जायगी। फिर भी यह प्रथा किसी न किसी रूप में पूरे विश्व के लोक-जीवन में अति प्राचीन काल से प्रचलित रही है। मुसलमानों में इसका रूप पति द्वारा पत्नी को दी जाने वाली एक निश्चित रकम के रूप में देखा जा सकता है। इसे उनकी शब्दावली में " महर " कहते हैं। मालाबार, कोचीन तथा त्रावनकोर आदि स्थानों में दहेज स्त्री का, पिता के यहाँ की सम्पत्ति का हिस्सा माना जाता है जो लड़की को विवाहित होने पर तथा पति के साथ पिता से अलग होकर जाने पर, मिलता है। इस प्रकार दहेज के रूप में दिया जाने वाला धन, या वस्तुएँ उसकी

अपनी पिता की संपत्ति के अपने अधिकार के रूप में समझी जाती है।[1] उत्तर भारत में यह प्रथा आज दूसरे रूप में मिलती है। यहाँ लड़की वाला लड़की के साथ में सम्पत्ति और धन, कन्या-दान के साथ दी जाने वाली दक्षिणा की भाँति देता है। पहले ब्राह्मविवाह की पद्धति में इसके विपरीत कार्य होता था। अतः इस प्रथा की प्राचीनता तथा व्यापकता निर्विवाद है।

दहेज की यह परम्परा लोगों के हृदय में इतने गहरे पैठी है कि बड़े - बड़े समाज सुधारक भी दूसरों को त्याग का उपदेश देने के साथ चुपके से अपने पुत्र के विवाह में "दहेज" लेते हैं।[2] इस प्रथा के अन्तर्गत लड़की वाला लड़की के साथ लड़के को एक तय की हुई रकम या संपत्ति देता है। ऐसा न करने पर विवाहोपरान्त प्रायः लड़के वाले लड़की को दुःखी करते हैं। पं० हृषीकेश चतुर्वेदी ने अपने एक ग्रन्थ में इस निश्चित रकम की माँग के ही कारण बारात को डाकू का रूपक दिया है।[3] इसी प्रथा के कारण बेमेल विवाह भी चल पड़े हैं। इसी के कारण समाज में गरीब और अमीर के बीच का अन्तर भी बढ़ा है। भारत भूषण अग्रवाल की एक

---

१ Anthropology of the Syrian Christians of Malabar, Cochin & Travancore, Ch. VIII, pp. 119 - 124.(?)

२ पं० हृषीकेश चतुर्वेदी : ताज की छाया में, पृ० १००, सहकारी प्रकाशन, आगरा, प्रथम संस्करण।

३ -वही- पृ० १०६ ।

कविता में विवाह में आड़े आने वाले इस अमीरी और गरीबी के अन्तर पर करारा व्यंग हुआ है —

" तुम अमीर थीं
इसीलिये हमारी शादी न हो सकी,
पर, मान लो, तुम गरीब होतीं
तो भी क्या फ़र्क पड़ता ।
क्योंकि
तब मैं अमीर होता । "[१]

इस दहेज प्रथा के कारण युवक – युवतियों के इच्छित विवाह भी भारतीय समाज में कठिन हो गए हैं । इसी प्रथा के कारण —

" लड़की को यहाँ मस्से की तरह
शरीर का फालतू अंग समझा जाता है
और उसे ये शादी के घोड़े के बाल से
काट देना चाहते हैं । "[२]

स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कविता में प्राय: दहेज की परम्परा पर प्रहार ही किये गये हैं तथा इसके दुखद परिणाम और इसकी निरर्थकता को दर्शाया गया है । इसके अतिरिक्त कुछ परम्पराएँ

---

१ सांप्रतिकी : पृ० ६१, बिहार ग्रन्थ कुटीर, पटना, प्रथम संस्करण ।
२ विष्णु रश्मि : नारों के अन्धे शहर में, पृ० ८४, हेमन्त प्रकाशन, प्रथम संस्करण ।

ऐसी भी हैं जो इन कविताओं में इनकी मान्यता तथा उसमें छिपी भावना के साथ ज्यों की त्यों अभिव्यक्त हुई हैं। विवाह के बाद गौना,[१] माथे पर चंदन का टीका लगाना,[२] या तिलक,[३] शुभ अवसरों पर दरवाजे पर बन्दनवार बाँधना,[४] जन्म दिन पर घी के दीपक जलाना,[५] निम्न जाति द्वारा उच्च जाति को आदर देना,[६] दीवालों पर लाभ-शुभ लिखना,[७] । यह लाभ-शुभ सिन्दूर को घी में घोल कर फिर उससे लिखा जाता है।[८] बुजुर्गों द्वारा चरण स्पर्श के अवसर पर "दूधों नहाओ, पूतों फलों" का आशीर्वाद देना[९] आदि ऐसी ही परम्पराएँ हैं जो सोम ठाकुर, शिशुरश्मि, विजय देव नारायण साही, शिवमंगल सिंह "सुमन" तथा भवानी प्रसाद मिश्र आदि की कविताओं में अभिव्यक्त हुई हैं।

---

१ सोम ठाकुर : लाज की छाया में, पृ० १४२, सहकारी प्रकाशन, आगरा, प्रथम संस्करण।

२ शिशु रश्मि: नारों के अन्धे शहर में, पृ० ५८, हेमन्त प्रकाशन, प्रथम संस्करण।

३ गिरिजा कुमार माथुर : शिलापंख चमकीले, पृ० १०५, साहित्य भवन प्रा० लि० इलाहाबाद, प्रथम संस्करण।

४ विजयदेव नारायण साही : तीसरा सप्तक, पृ० १६४, भारतीय ज्ञानपीठ, तृतीय संस्करण।

५ भवानी प्रसाद मिश्र : गाँधी पंचशती, पृ० २१३, सरला प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण।

६ शिवमंगल सिंह सुमन : पृ० ५८, राजपाल एण्ड संज़, दिल्ली, प्र०सं०।

७ -वही- पृ० ७४।

७ धूमिल : संसद से सड़क तक, पृ० १०३, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली प्र० संस्करण।

८ माखन लाल चतुर्वेदी : बीजुरी काजल आँज रही, पृ० १०५, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण।

"साँझी" या "सन्ध्या माँडने" की परम्परा भी लोक में बहुत प्राचीन है। संध्या के समय लड़कियाँ दीवाल पर गोबर से सन्ध्या देवी की आकृति बना कर उसकी पूजा करती हैं, साथ ही गीत भी गाती हैं। यह मान्यता है कि सन्ध्या माँडने से लड़कियों की मनोकामनाएँ पूरी होती हैं।[1] किसी घर में लड़की इस समय यदि कहीं बाहर चली जाय और उस घर में संध्या न माँड़ी जा सके तो माँ का दुःख स्वाभाविक ही है —

"लो संध्या माँड़ने की बेला सूनी ही बीत रही
पड़ोस की लड़कियाँ तो सब जुटी हैं संध्या माँड़ने में।
उसकी दीवाल पर दीखती है क्यों उजड़ी उदासीन
कल के संध्यामंडप के अवशेष।"[2]

वास्तविकता यह है कि लोक में परम्परा का पालन न कर पाने पर व्यक्ति अपने को हतभाग्य अनुभव करता है।

५- लोक-आस्था

लोक-आस्था को हम दो भागों में बाँट सकते हैं — १- पौराणिक आस्था, २- अपौराणिक आस्था। इन दोनों ही प्रकार की आस्थाओं में एक विशेष धार्मिक भावना समान

---

१ प्रभुदयाल मीतल : ब्रज के धर्म सम्प्रदायों का इतिहास, पृ०५६४, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, प्रथम संस्करण।

२ वीरेन्द्र कुमार जैन : सांप्रतिकी, पृ० ७६, बिहार ग्रन्थ कुटीर, पटना, प्रथम संस्करण।

रूप से निहित रहती है। किन्तु दुहरी का उद्गम पुराणों से नहीं होता। वर्तमान हिन्दी कविता में पौराणिक आस्थाओं को विशेष महत्व मिला है। इस युग के अनेक काव्यों में पुराणों से ही कथानक लिये गये हैं। मुख्य रूप से प्रबन्ध काव्य अधिकांशत: पौराणिक आख्यानों पर ही वर्तमान युग के संदर्भ में लिखे गए हैं। यदि हम इन ग्रन्थों के नाम ही लें तो वे भी इन्हीं पौराणिक कथानकों से सम्बन्धित हैं। दिनकर का "उर्वशी", "कुरुक्षेत्र", नरेन्द्र शर्मा का "द्रौपदी", "उत्तरजय", डा० राम कुमार वर्मा का "एकलव्य", रघुवीर शरण मित्र का "भूमिजा", नरेश मेहता का "संशय की एक रात", "महाप्रस्थान," धर्मवीर भारती का "अंधायुग" तथा "कनुप्रिया" एवं मार्कण्डेय सिंह का "शकुन्तला" आदि इसी प्रकार के काव्य हैं जिनके कथानक पौराणिक आधारों पर ही खड़े किये गये हैं।

इन कविताओं में से यदि केवल राम से संबंधित कथाओं को ही लें तो दिनेश नन्दिनी, विद्युत् रश्मि, शिवमंगल सिंह "सुमन" आदि अनेक कवियों की कविताओं में ये कथाएँ मिलती हैं। शिव मंगल सिंह "सुमन" की एक कविता में "दीपावली" के उद्गम को राम-राज्याभिषेक की कथा से जोड़ा गया है।[1]

---

1 शिव मंगल सिंह "सुमन" : पृ० १२२, राजपाल एण्ड संस, दिल्ली, प्रथम संस्करण।

विनोद नन्दिनी की " संजीवनी " शीर्षक कविता में लक्ष्मण को शक्ति लगने पर हनुमान द्वारा राम को संजीवनी बूटी लाकर देने का वर्णन हुआ है ।[1] राम द्वारा रावण का वध[2], प्रतीक रूप में तथा हनुमान द्वारा सूरज को निगल जाने की घटना [3] रूपक के रूप में विद्यु रश्मि की कविताओं में वर्णित की गई है ।

राधा-कृष्ण का भागवत प्रेम भी लोक की श्रद्धा का विषय रहा है। इसकी महानता में भारत के जन - जन को एक धार्मिक आस्था है । सूर ने भी उस प्रेम की मांसलता और स्थूलता में लोक - आस्था को नहीं छोड़ा था । स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कवियों में अम्बा शंकर नागर की " मन की राधा " शीर्षक कविता में यह लोक - आस्था सशक्त रूप में अभिव्यक्त हुई है । [4] महाभारत में वर्णित " नलोपाख्यान " तो लोक-जीवन में सदैव प्रेरणा का विषय रहा है । तथा लोक में नल - दमयन्ती की कथा महाभारत से कुछ भिन्न करके भाग्य की सर्वोपरिता दिखाते हुए लोक - कथा के रूप में प्रचलित भी है, जो समूचे ब्रज प्रदेश में भादों के महिने में " गाज " खोलने के अनुष्ठान के साथ कही और सुनी जाती है । नल दमयन्ती के भाग्य पर जो " गाज " गिरी उसके परिणाम स्वरूप वे राज्य से हीन होकर जंगल-जंगल भटकते रहे। भूख लगने पर

---

१ विनोद नन्दिनी : कृति : पृ० ७४, राजपाल एण्ड संस, दिल्ली, प्रथम संस्करण ।

२ विद्युरश्मि : नारों के अन्धे शहर में , पृ० २६ - ३७ हेमन्त प्रकाशन, प्रथम संस्करण ।

३ -वही - पृ० ३६ ।

४ अम्बा शंकर नागर : चाँद, चाँदनी और कैक्टस, पृ० ३०,राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण ।

मछलियाँ पकड़ी किन्तु वे भी कड़ाई में से निकल कर भाग गईं । यह कथा सदैव ही लोक की संवेदना प्राप्त करती रही है । गिरिजा कुमार माथुर की " ढाकबनी " शीर्षक कविता में इस कथा को उसी लोक - आस्था के साथ बड़ी सुन्दर अभिव्यक्ति मिली है ——

"" बीच सूने में अकेले
ताल का फैला अतल जल
थे कभी आये यहाँ पर
छोड़ दमयन्ती दुखी नल
भूख व्याकुल ताल से ले
मछलियाँ थीं जो पकाईं
पाप के कारण वही थीं
वे उछल जल में समाईं । ""[1]

इसके अतिरिक्त महाभारत से ही अर्जुन,[2] कर्ण[3] आदि पात्रों को भी इन कथाओं में स्थान मिला है ।

रामायण - महाभारतेतर पुराणों की कथाओं में शंकर द्वारा सती को कन्धे पर लेकर घूमने की कथा[4] जिसका संबंध शिव पुराण से है, हिरण्यकश्यप तथा प्रह्लाद की कथा,[5] हनुमान द्वारा सूर्य को छूने की असफल चेष्टा की कथा[6] और उसके पीछे

---

१ गिरिजा कुमार माथुर : धूप के धान, पृ० ६०, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, तृतीय संस्करण।

२ अज्ञेय : इन्द्रधनु रौंदे हुए ये : पृ० १२, सरस्वती प्रेस इलाहाबाद प्रथम संस्करण ।

३ अजित कुमार : अकेले कंठ की पुकार : पृ० ५५, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण ।

४ वीरेन्द्र कुमार जैन : शून्य पुरुष और वस्तुएँ : पृ० १२५, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, काशी, प्रथम संस्करण ।

के जल आने की कथा,[१] सगर के अश्वमेध यज्ञ की कथा[२] तथा मत्स्यावतार की कथा[३] आदि का भी इन कविताओं में प्रसंगवश उल्लेख हुआ है। इन कविताओं में जहाँ इन पौराणिक पात्र और कथाओं का कथा कहने के लिये उपयोग किया गया है, वहाँ अधिकतः आधुनिक संदर्भों को प्रकट करने के लिये इन्हें सहायक के रूप में भी ग्रहण किया गया है। गिरिजाकुमार माथुर की "इतिहास" शीर्षक कविता में देव - दानव-संग्राम, राम-रावण, कृष्ण - कंस, वृत्र और इन्द्र आदि के संघर्ष की अनेक कथाओं के प्रसंग आये हैं।[४] किन्तु इन कथाओं पर कवि की आस्था पौराणिक न होकर ऐतिहासिक है।

कथाओं के अतिरिक्त पौराणिक पात्रों तथा आयुधों आदि का उल्लेख भी इन कविताओं में हुआ है। ब्रह्मा के चार मुख,[५] इन्द्र के वज्र,[६] तथा इच्छार्थ कामधेनु गाय[७] आदि को भी इन कविताओं में स्थान मिला है।

---

५ शमशेर बहादुर सिंह : कुछ और कविताएँ, पृ० २०, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण।

६ नरेश मेहता : मेरा समर्पित एकान्त : पृ० ८, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, प्रथम संस्करण।

१ गिरिजा कुमार माथुर : धूप के धान, पृ० ७१ भारतीय ज्ञान पीठ, काशी तृतीय संस्करण।

२ प्रयाग नारायण त्रिपाठी : ५५ की श्रेष्ठ कविताएँ, पृ० ६५ - ६६, नव साहित्य प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण।

३ सुरेन्द्र तिवारी : कसते हुए, पृ० ६६, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण।

लोक - प्रचलित पौराणिक कथाओं में तो लोक की आस्था है ही, साथ ही उसकी आस्था ज्योतिष तथा देवी - देवताओं में भी है। भाग्य से ही दुख या सुख का सम्बन्ध मानने वाला लोक ज्योतिष में अपनी पूरी आस्था रखता है। उसका विश्वास है कि ज्योतिष द्वारा हस्त रेखाओं या जन्म पत्री का अध्ययन करके ज्योतिषी किसी भी वस्तु या व्यक्ति के सम्बन्ध में सत्य भविष्य का कथन कर सकता है। ज्योतिष में इस आस्था का ही परिणाम " मुहूर्त " निकलवा कर कार्य करने की परम्परा है। इस परम्परा के कारण भारतीय लोक जीवन में लोगों की कार्य - क्षमता कम हुई है तथा व्यक्ति भाग्यवादी बना है। इस परम्परा पर प्रहार करते हुए भवानी प्रसाद मिश्र कहते हैं —

" भला यात्रा का मुहूरत भी है ;
मगर बैठ रहने की सूरत भी है ;
निकलता चला जा रहा है समय
मुहूरत न सोचो चलते चलो। " [१]

---

४ गिरिजा कुमार माथुर : धूप के धान : पृ० ११० - १११, भारतीय ज्ञान पीठ, काशी, तृतीय संस्करण।

५ बच्चन : कटती प्रतिमाओं की आवाज़, पृ० ८६, राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली, प्रथम संस्करण।

६ कीर्ति चौधरी : खुले हुए आसमान के नीचे : पृ० ९५, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण।

७ अज्ञेय : आँगन के पार द्वार, पृ० १५-१६, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण।

१ भवानी प्रसाद मिश्र : गांधी पंचशती, पृ० १४७, सरला प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण।

ज्योतिष में वक्रगति होने पर प्रत्येक ग्रह का क्रूर फल माना जाता है। इसी से बुरे समय में सितारों की गति के उल्टे होने का मुहावरा बन गया है। दिनेश नंदिनी की "कदम के हवाले",[1] अज्ञेय की "तारादर्शन",[2] तथा रमेश रंजक की "क्नाट प्लेस : एक शाम"[3] आदि कविताओं में ग्रहों के द्वारा भाग्य के बिगड़ने की बात कही गई है। लोक का विश्वास है कि भाग्य में जो कुछ होता है तथा भविष्य में जो होना है और भूत में जो हो चुका है, यह सब हस्त रेखाओं के अध्ययन से पता लग जाता है। बच्चन की "रेखाएं" शीर्षक कविता में हाथ की लकीरों में विधाता का लेख होना कहा गया है।[4] आज भी ग्रामीण जन और बहुत से शहरी भी ज्योतिष में इस आस्था ही के कारण ज्योतिषियों से पूछ कर लाटरी का टिकट खरीद लेते हैं।[5] इस सत्य को लोक जीवन में कहीं भी और कभी भी देखा जा सकता है। वास्तव में इस प्रकार की प्रवृत्ति के पीछे लोक की ज्योतिष

---

१ दिनेश नन्दिनी : शारि, पृ० ४६, राजपाल एण्ड संज़, दिल्ली, प्रथम संस्करण ।

२ अज्ञेय : बावरा अहेरी, पृ० ४३, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, काशी, द्वितीय संस्करण ।

३ रमेश रंजक : हरापन नहीं टूटेगा, पृ० ३७, अक्षर प्रकाशन प्रा० लि०, दिल्ली, प्रथम संस्करण ।

४ बच्चन : जाल समेटा, पृ० ३८, राजपाल एण्ड संज़, दिल्ली, प्रथम संस्करण ।

५ विद्यारत्न : तारों के इस शहर में, पृ० ७०, हेमन्त प्रकाशन, प्रथम संस्करण ।

सम्बंधी आस्था ही कार्य करती है। इसके अतिरिक्त इन्द्र के वज्र की कठोरता, प्रलय का होना [1], तथा इन्द्र की आज्ञा से जल की वर्षा होना [2], या इन्द्र का वर्षाधिपति होना आदि पर भी लोक की पूरी - पूरी आस्था है। इन आस्थाओं से उसके जीवन में अनेक क्रियाएँ प्रभावित होती हैं।

६- लोक-रुचि

अपने भौतिक रूप में लोक रुचि कुछ निश्चित वस्तु, व्यक्ति या विषयों तक ही सीमित होती है। किन्तु अपने देशी या आदिम रूप में उसका क्षेत्र बड़ा विशाल होता है। विशेष कर भारतवर्ष में जहाँ "वसुधैव कुटुम्बकम्" की भावना जन - सामान्य में कूट - कूट कर भरी हुई है तथा जहाँ का जन सामान्य "मृग - कुण्डल में कस्तूरी" की भाँति घट - घट में राम के दर्शन करने का आदी है। सभ्यता के विकास के साथ जहाँ व्यक्ति भौतिकवादी या तर्कवादी होता जाता है वहाँ बहुत सी अभौतिक, पकड़ में न आने वाली भावनाओं के अभ्यास में न रहने के के कारण वह व्यक्तिवादी हो जाता है और रुचि - इच्छा - आकांक्षाएँ व्यक्ति की सीमा में बंध जाती हैं। वह विश्व कल्याण

---

१ भवानी प्रसाद मिश्र : दूसरा सप्तक, पृ० १६, प्रगति प्रकाशन, प्रथम संस्करण।

२ रघुवीर सहाय : -वही - पृ० १५५।

की भावना के स्थान पर अपने अहं से परिचालित होने लगता है। वह श्रम की आकांक्षा के स्थान पर सुख - सुविधाओं की आकांक्षा करने लगता है। ऐसी ही स्थिति पर श्री वीरेन्द्र कुमार जैन ने अपनी "चुप रहो और देखो" शीर्षक कविता में व्यंग किया है।[1] लोक की इच्छा आकांक्षाएँ भी पढ़े-लिखों की भाँति व्यक्तिगत होती हैं किन्तु उनका कारण प्राय: "अहं" नहीं होता। उसका कारण होता है "लोक - मंगल"। लोक - रुचि में "इच्छा" के स्थान पर भावना का प्राधान्य रहता है। वह केवल अपने श्रम और कर्म की पूर्ति के सम्बन्ध में ही सोचता है —

> "सावन भर जो दृश्य संजोये हैं अबके मेरी आँखों ने
> अगर खेत मिल जाये और मिल जायें बैल - हल
> तो कातक में इन्हें चीर कर धरती बोना है"[2]

लोक - रुचि अतिरिक्त को पाने में नहीं अपितु केवल आवश्यक और अनिवार्य को प्राप्त करने में ही होती है। वह संगीत में भी "प्रभुओं का कृपा-वचन," "आतंक मुक्ति का आश्वासन," "बटुली से बहुत दिनों के बाद अन्न की सोंधी खुद-बुद" या बहू के पायलों की रुन - झुन, जाल - फँसी मछली की तड़पन या लोहे पर सधे हथौड़े की चोटें अथवा "कुलिया की कटी मेड़ से बहती जल की

---

१ वीरेन्द्र कुमार जैन : शून्य पुरुष और वस्तुएँ, पृ० १०२, भारतीय ज्ञान पीठ प्रकाशन, काशी, प्रथम संस्करण।

२ भवानी प्रसाद मिश्र : गाँधी पंचशती, पृ० २२३, सरला प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण।

घुल - घुल " को सुनता है ।[1] अपनी रुचि की वस्तु न पा सकने पर उसे जो कष्ट होता है उससे उसके हृदय का विस्तार ही होता है । लोक - कथा के अन्त में प्रयुक्त मंगलवाक्य ही उसके मुख से निकलते हैं । वह किसी को अभिशाप नहीं देता न किसी को दोषी ही ठहराता है । अपितु वह दूसरों की भलाई में रुचि लेता है । बच्चन, नरेश सक्सेना आदि की रचनाओं में इस मांगलिक लोक - रुचि को बड़े सुन्दर शब्दों में अभिव्यक्ति मिली है । स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कवि भी लोक - सामान्य व्यक्ति की भांति कहता है -- " जैसे हैं अपने वैसे हों दुश्मन के भी भाग भा । "[2] बच्चन जी के एक गीत में इसी मंगल की लोक-रुचि को इस प्रकार अभिव्यक्ति मिली है --

" सब सुख पायें,
सुख सरसायें,
कोई न कभी मिल कर बिछुड़े । "[3]

इसी प्रकार प्रभाकर माचवे की महाश्वेताप्रभु[4] तथा " साम वेद गान "[5] शीर्षक कविताओं में भी लोक की इस मंगलमय रुचि को स्थान मिला है ।

---

१ अज्ञेय : आँगन के पार द्वार, पृ० ७५-७७, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण ।

२ नरेश सक्सेना : पाँच जोड़ बाँसुरी, पृ० १५६, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण ।

३ बच्चन : -वही- पृ० १६ ।

४ प्रभाकर माचवे : अनुक्षण, पृ० ६३, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण ।

५ -वही- पृ० १०३ ।

वस्तुत: लोक की रुचि व्यक्तिगत होते हुए भी सार्वजनीन होती है। उसकी रुचि केवल अपने सुख में ही नहीं अपितु दूसरों के (पूरे विश्व के) सुख में भी रहती है। उसकी कामना वैदिक कामना है —— "सर्वे भवन्तु सुखिन: सर्वे सन्तु निरामया"।

७- लोक - अनुष्ठान

अपनी रुचियों के अनुरूप अपनी आस्था - विश्वास और मान्यताओं के आधार पर समय - समय पर लोक कुछ अनुष्ठानों का आयोजन करता है। इन अनुष्ठानों के पीछे मुख्य रूप से लोक की धार्मिक आस्था तथा कोई न कोई इच्छा या आकांक्षा काम करती है।

स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कविताओं में प्राय: इन अनुष्ठानों का वर्णन प्रतीक या रूपक के रूप में ही हुआ है। पं० कुंवरेश चतुर्वेदी, वीरेन्द्र कुमार जैन, प्रणवकुमार बन्द्योपाध्याय आदि की कविताओं में ऐसे अनुष्ठानों का विविध उल्लेख हुआ है। वास्तव में जिन कविताओं में व्यक्तिगत मानसिक समस्याओं को विषय के रूप में लिया गया है, उन्हीं में उनकी अभिव्यक्ति को सशक्त बनाने के लिये इन अनुष्ठानों का प्रतीक या रूपक के रूप में प्रयोग हुआ है। वीरेन्द्र कुमार जैन की "शून्य पुरुष और वस्तुएँ" नामक पुस्तक में ऐसे अनुष्ठानों का विविध चित्रण है।

उच्चाटन, मारण, वशीकरण, सम्मोहन आदि कुछ ऐसे ही अनुष्ठान हैं, जो प्राय: न समझ में आने वाले मन्त्रों के

उच्चारण के साथ सम्पूर्ण लोक में आयोजित किये जाते हैं। वस्तुत: इन अनुष्ठानों का भी मूल आधार लोक-विश्वास ही होते हैं। फल के आधार पर फर्थ महोदय ने इन अनुष्ठानों के तीन भेद किये हैं ---।१। सम्वर्धक,।२। संरक्षक,।३। विनाशक। इनमें पहले दो का प्रयोग बच्चों के लिये ही अधिकत: होता है। लोक में प्राय: कुछ औषधियों के प्रयोग तथा कुछ विशेष क्रियाओं (जिनमें लोक की आस्था होती है) के द्वारा बच्चों का संवर्धन एवं भूत-प्रेत या अशुभ छायाओं अथवा टोने-टोटके या नज़र-गुज़र से बच्चों के संरक्षण का भाव निहित रहता है। शत्रु को या किसी अन्य व्यक्ति को नष्ट करने या हानि पहुँचाने की भावना से किये जाने वाले क्रिया-व्यापार, जिनमें लोक की धार्मिक आस्था होती है तथा जो पूर्णत: आडम्बर के साथ आयोजित किये जाते हैं --- विनाशक अनुष्ठान के अन्तर्गत आते हैं। फ्रेजर महोदय इनको दो भागों में बाँटते हैं --- ।१। होम्योपैथिक मैजिक, ।२। कण्टेजियन मैजिक। इनमें पहला सदृश वस्तु को सदृश वस्तु से प्रभावित करने के सिद्धान्त पर आधारित रहता है। जैसे मारने के लिये पुतला जलाना। दूसरे प्रकार के विनाशक अनुष्ठानों में सम्बद्ध वस्तु के द्वारा टोटका किया जाता है, जैसे --- सम्मोहन के लिये, जिस व्यक्ति को सम्मोहित करना है, उसके बाल या नाखून लेकर अनुष्ठान करना। इसके अतिरिक्त इनके दो भेद और किये जा सकते हैं --- ।१। व्हाइट मैजिक, ।२। ब्लैक मैजिक। यहाँ कहना न होगा कि इनमें व्हाइट मैजिक का सम्बन्ध पीछे कही गई पुण्यात्माओं से तथा ब्लैक मैजिक का सम्बन्ध पापात्माओं से है। इनमें पहला अच्छे कार्यों से सम्बद्ध होता है तथा उसका फल सम्वर्धन और संरक्षण होता है। दूसरे प्रकार के

"मैजिक" का सम्बन्ध बुरे कार्यों से होता है तथा उसका उद्देश्य विनाशन होता है। कुल मिला कर इन अनुष्ठानों की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं —— ।१। वैयक्तिक फलदायक, ।२। आयोजन में प्राय: वैयक्तिक तथा गुप्त, ।३। निश्चित उद्देश्य की ओर लक्षित, ।४। बहुधा कुप्रभाव युक्त।

इन अनुष्ठानों के लिये कुछ उग्र देवी - देवताओं का आह्वान किया जाता है। प्राय: एक वेदी की रचना की जाती है तथा कुछ अन्य उपकरण (जैसे मारण के लिये चाकू, तलवार, त्रिशूल आदि) भी वहाँ एकत्रित किये जाते हैं, तत्पश्चात् काली अथवा भैरव या किसी भूत, प्रेत आदि दुष्टात्मा का आह्वान किया जाता है साथ ही मन्त्रोच्चारण भी चलता है। वीरेन्द्र कुमार जैन की "नीली लड़की और स्वर्ण प्रभ सूर्य" शीर्षक कविता में "मारण" के लिये किये गए एक विनाशक अनुष्ठान को प्रतीक के रूप में इस प्रकार चित्रित किया गया है ——

"एक मारण मंत्र वेदी के
महाभैरव त्रिशूल तले।"[१]

इस प्रकार के अनुष्ठानों को आयोजित कराने वाले व्यक्ति प्राय: स्याने या ओझा के नाम से जाने जाते हैं। श्मशानों में प्राय: "अघोरी" कहलाने वाले लोग प्रेत सिद्धि के लिये अनुष्ठान करते हैं। ये स्याने या ओझा तथा अघोरी, प्रेत - बाधा दूर करने

---

१ वीरेन्द्र कुमार जैन : शून्य पुरुष और वस्तुएँ, पृ० ६५, भारतीय ज्ञान पीठ प्रकाशन, काशी, प्रथम संस्करण।

के लिये ही प्राय: घरों में बुलाए जाते हैं। प्रेत-बाधा दूर करने के लिये ये लोग झाड़ - फूंक करने के अतिरिक्त कुछ गण्डे और ताबीज भी देते हैं जिसके बांधने से प्रेत - बाधा दूर हो जाती है। पं० हृषीकेश चतुर्वेदी की एक कविता में " स्याने " लोगों के " भूत उतारने " के अनुष्ठान का देश में शोषण को दूर करने के प्रयासों के लिये, बड़ा सुन्दर रूपक बांधा गया है।[1] वीरेन्द्र कुमार जैन की " वह गई है फूल बीनने " शीर्षक कविता में एक अघोरी जैसे व्यक्ति का उल्लेख हुआ है।[2] बाल कृष्ण राव की " सिद्धि " शीर्षक कविता में सिद्धि नामक अनुष्ठान के द्वारा कुछ बड़े आदमियों पर प्रहार किया गया है।[3] वस्तुत: इन सभी लोक - अनुष्ठानों के पीछे " तान्त्रिक परम्परा " कार्य करती है।

उपर्युक्त अनुष्ठानों के अतिरिक्त सम्मोहन तथा वशीकरण भी लोक में प्रचलित है। यह लोक - मान्यता है कि इनके द्वारा किसी व्यक्ति विशेष को मोहित तथा वशीभूत किया जा सकता है। रवीन्द्र भ्रमर के एक गीत में इन अनुष्ठानों में मन्त्रों के बोले जाने का रूपकात्मक उल्लेख हुआ है।[4]

---

१ हृषीकेश चतुर्वेदी : ताज की छाया में, पृ० १७६, सहकारी प्रकाशन, आगरा, प्रथम संस्करण।

२ वीरेन्द्र कुमार जैन : साम्प्रतिकी, पृ० ७८, बिहार ग्रन्थ कुटीर, पटना-४, प्रथम संस्करण।

३ बालकृष्ण राव : आधुनिक कवि।१३।, पृ० ६६, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, प्रथम संस्करण।

४ रवीन्द्रभ्रमर : रवीन्द्र भ्रमर के गीत : पृ० ३०, साहित्य भवन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण।

भारत में लोक-अनुष्ठानों के ही समानान्तर वैदिक यज्ञ-विधि का प्रचलन हुआ है। वर्तमान लोक-अनुष्ठानों का रूप बहुत कुछ इसी से प्रभावित है। लोक-जीवन में स्वयं यज्ञ भी एक अनुष्ठान के रूप में प्रचलित हो गया है। इसके द्वारा व्यक्ति विभिन्न देवी-देवताओं को प्रसन्न करता है। जे० ए० डुबियास महोदय के अनुसार " यज्ञ " के समय लोग पवित्र अग्नि को जलाकर उसमें जौ तथा चावलों को घी में मिलाकर मन्त्रोच्चारण के साथ डालते हैं।[१]

भारतीय लोक-जीवन में ये यज्ञ समय-समय पर जन्म से लेकर मरण संस्कार तक तथा कहीं-कहीं प्रतिदिन भी आयोजित किये जाते हैं। सामान्य बोल-चाल में इसे " होम " कहा जाता है। गिरिजा कुमार माथुर की " पुरातन मेघ " शीर्षक कविता में यज्ञ की पूरी प्रक्रिया का[२] तथा उनकी " कंदीलाओं की दुनिया " शीर्षक कविता में यज्ञ का मात्र उल्लेख हुआ है।[३]

---

१ Abbe. J.A. Dubois : Hindu Manners, customs and ceremonies, Part II, Ch. [illegible], p. 509, Oxford University Press, Amen House, London EC 4, Reprinted 1959.

२ शिला पंख चमकीले : पृ० ७३, साहित्य भवन प्रा० लि०, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण।

३ -वही- पृ० ४४।

इस वैदिक अनुष्ठान के साथ - साथ लोक में कुछ वैदेतर अनुष्ठान भी प्रचलित हैं, जिनमें से कुछ का हम उल्लेख कर चुके हैं। शेष अनुष्ठानों में " नज़र उतारना " सर्वाधिक प्रचलित अनुष्ठान है। बच्चे के अनिष्ट का कारण किसी व्यक्ति की कुदृष्टि मानी जाती है और उसका प्रभाव हटाने के लिये माताएं " राई - नोन " (नमक तथा राई) से अथवा कभी-कभी मिर्च से बच्चे की नज़र उतारती हैं। इस अनुष्ठान में उपर्युक्त वस्तुएं लेकर वे बच्चे के चारों ओर तीन - पाँच या सात बार घुमाती हैं, साथ ही कुछ मन्त्र जैसे बुदबुदाती भी करती हैं। माखन लाल चतुर्वेदी की " बीजुरी काजल आँज रही " नामक कविता संग्रह के अनेक गीतों में " नज़र उतारने " का उल्लेख हुआ है।[१] कभी - कभी लोक में बच्चों को बुरी नज़र से बचाने के लिये उनकी बाँह में गण्डे तथा ताबीज़ भी बाँधे जाते हैं। ये मन्त्राभिषिक्त उपकरण प्रेत - बाधा से बचने के लिये भी बाँधे जाते हैं। इन्हें सामान्यत: युवक - युवतियाँ तथा प्रौढ़ भी धारण करते हैं। रमेश रंजक के " बुधिया गुमनाम " शीर्षक गीत में " ताबीज़ " का उपमान के रूप में चित्रण हुआ है।[२]

---

१ माखन लाल चतुर्वेदी : बीजुरी काजल आँज रही, पृ० ३, ८, ५६, ६६ आदि : भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण।

२ रमेश रंजक : गीत विहग उतरा : पृ० २८, आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली, प्रथम संस्करण।

निष्कर्ष

इस प्रकार हम देखते हैं कि स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कविता में लोक के व्यावहारिक जीवन को संचालित करने वाले अनेक विश्वास, मान्यताओं, आस्थाओं तथा रूढ़ियों को अभिव्यक्ति मिली है। लोक - जीवन में ये विश्वास, मान्यताएँ तथा आस्थाएँ आदि लोक - व्यवहार को बहुत कुछ निश्चित करती हैं। इन्हीं के परिणाम स्वरूप लोक में बहुत सी रूढ़ियों, परम्पराओं तथा अनुष्ठानों का भी प्रचलन है। आलोच्य कविता में यद्यपि इन सभी की सफल अभिव्यक्ति हुई है तथापि लोक - परम्पराओं तथा अनुष्ठानों की अपेक्षा लोक - रूढ़ियों को युग की वैज्ञानिकता के फलस्वरूप अत्यल्प अभिव्यक्ति मिली है।

द्वितीय अध्याय

लोक - कला

१- चित्रकला

२- संगीत कला

३- वास्तु कला

४- काव्य कला

५- निष्कर्ष

द्वितीय अध्याय

लोक - कला

लोक - कला

जिस प्रकार शिष्ट जनों में ललित कलाओं के पाँच वर्ग किये जाते हैं, उसी प्रकार लोक कलाओं के भी पाँच वर्ग हो सकते हैं। स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कविता पर इन लोक कलाओं का भी पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। लोक-प्रचलित चित्र कला के अनेक नमूनों का उल्लेख आलोच्य कविता में हुआ है। साथ ही भवनों के बाह्य और आन्तरिक रूप के बिम्ब भी इस कविता में उपस्थित हुए हैं, जिनका सीधा सम्बन्ध लोक की वास्तु कला से है। इतना ही नहीं, स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कविता पर लोक-संगीत तथा लोक-साहित्य का प्रभाव भी स्पष्ट देखा जा सकता है। आलोच्य कविता में लोक - जीवन की सफल अभिव्यक्ति के पीछे इस प्रभाव का भी महत्वपूर्ण स्थान है।

१- चित्र - कला

लोक - चित्रों का भी संबंध किसी न किसी रूप में धर्म से ही है। उसके निर्माण के पीछे निर्माण कर्ताओं की धार्मिक आस्था ही कार्य करती है। हाँ, सौन्दर्य का भी उसमें अपना एक स्थान है। लोक - चित्र कला में धर्म के साथ ही पवित्रता की भावना भी कार्य करती है। आलोच्य कविता में प्रायः उस पवित्रता के ही अर्थ में लोक - चित्रों का प्रतीकात्मक

प्रयोग हुआ है । धार्मिक आस्था के ही कारण सम्पूर्ण लोक - चित्रकला पवित्र के साथ - साथ शुभ भी होती है । लोक - चित्रों में चौक या रंगोली का बहुत महत्वपूर्ण स्थान है । विभिन्न रंगों के पदार्थ — जैसे - गेरू, खड़िया, गुलाल, मेंहदी आदि से काढ़े गए ये चौक जहाँ सुन्दर होते हैं, वहीं ये उस स्थान को पवित्र भी करते हैं जहाँ कि ये काढ़े जाते हैं ।[1]

ब्रज प्रदेश में भी होली के अवसर पर होलिका दहन से आठ दिन पहले से ही प्रत्येक घर के आँगन में विभिन्न प्रकार के चौक और रंगोली काढ़े जाते हैं, जिन्हें यहाँ "टिकुली" कहा जाता है । और आठवें दिन उसी स्थान पर होलिका रखी जाती है । शायद इसके पीछे भी उस स्थान को पवित्र करने का ही उद्देश्य काम करता है, जिस पर होलिका दहन होना है । इन रंगोलियों को, जो प्राय: शुभ हेतु शाम को रखी जाती हैं, सुबह बासी मान कर हटा दिया जाता है ।[2] ये चौक कहीं-कहीं "ऐपन" (हल्दी में चावल पीस कर, पानी के साथ मिलाकर बनाया गया पदार्थ) से भी निर्मित किये जाते हैं । ओम प्रभाकर की "खिड़की की सलाखों से[3]" शीर्षक कविता में उपमान के रूप में "ऐपन का चौक"

---

१ Abbe, J.A. Dubois : Hindu Manners, Customs and Ceremonies, Part III, Ch. VIII, p. 153.

२ रमेश कुमार शर्मा : एक अपरिचित आकाश, पृ० ४२, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण ।

३ ओम प्रभाकर, पुष्प चरित : पृ० ८, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, प्रथम संस्करण ।

प्रस्तुत हुआ है। चौक की ही भांति आँगन में अथवा दीवालों पर या कोरा घड़ा प्रयोग करने से पूर्व उस पर, सतिया काढ़ने की परम्परा भी लोक में प्रचलित है। सतिये का यह चिन्ह भी चिन्ह के नाम से भी जाना जाता है जो इस प्रकार बनता है ——
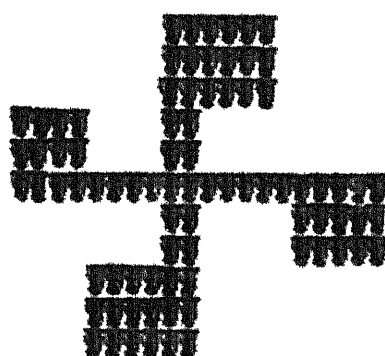
इसे अधिक कलात्मक बनाने के लिये इसमें कुछ बिन्दियाँ तथा कुछ तिरछी लकीरों की वृद्धि और करदी जाती है। यह चिन्ह शुभ का प्रतीक माना जाता है। ओम प्रभाकर की कविताओं में "शुभ सतिया" शब्द "पति" के लिये प्रयुक्त हुआ है[1] और ऐसा कदाचित उस के शुभ के प्रतीक होने के कारण ही किया गया है, साथ ही यह चिह्न "धन" का भी प्रतीक है। पूरब में (भोजपुरी में) पति को धनी कहा भी जाता है।

आलोच्य कविताओं में लोक - चित्रों के संकेत विजयदेव नारायण साही, रमेश कुमार शर्मा तथा ओम प्रभाकर की कविताओं

---

१ ओम प्रभाकर : पुष्प चरित, पृ० ३७, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, प्रथम संस्करण।

में मुख्य रूप से मिलते हैं। जिनमें ओम प्रभाकर की कविताएँ इस दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण हैं। "ऐपन का चौक" "शुभ सतिया" जहाँ इनकी कविताओं में उल्लिखित हैं वहीं मकान के दरवाज़े पर प्रायः हाथों की लगी हुई थापों (छापों) को भी स्थान मिला है।[1] "रंगोली" और "सतिये" का उल्लेख गिरिजा कुमार माथुर की "सूरज का पहिया" शीर्षक कविता में भी हुआ है।[2] इसके अतिरिक्त मकान के अन्दर कमरों (प्रकोष्ठों) के दरवाज़ों पर गेरू से चन्दा - सूरज भी काढ़ दिये जाते हैं जो मकान में प्रवेश करने वाली आँखों को बरबस ही अपनी ओर खींच लेते हैं। विजयदेव नारायण साही की "इस घर का यह सूना आँगन" शीर्षक कविता में इसकी अभावात्मक अभिव्यक्ति हुई है —

"अनगिरे घरौंदे पर गेरू से बने हुए
सहमी, शरारती, आँखों से वे गोल - गोल सूरज चन्दा"

२— संगीत कला

आलोच्य कविता में लोक - चित्रकला की अपेक्षा लोक - संगीत के अधिक संकेत मिलते हैं। वस्तुतः चित्रकला की अपेक्षा संगीत का प्रभाव अधिक मानसिक होता है। चित्र अपनी दृश्यात्मकता में केवल नेत्रों को ही सौन्दर्य सुख देता है, जबकि संगीत कानों को। वस्तुतः मस्तिष्क का सीधा सम्बन्ध नेत्रों की अपेक्षा कानों से अधिक होता है। कुछ पुरातत्ववादियों की यह मान्यता भी है कि नेत्रों से पूर्व कानों का निर्माण हुआ है। बच्चे में भी

---

१ ओम प्रभाकर : पुष्प चरित्र, पृ० ३८, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, प्रथम संस्करण।

२ गिरिजा कुमार माथुर : शिलापंख चमकीले, पृ० ७, साहित्य भवन प्रा० लि०, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण।

३ विजयदेव नारायण साही : तीसरा सप्तक, पृ० १६४, भारतीय ज्ञान पीठ, काशी, तृतीय संस्करण।

गर्भ की स्थिति में आँख से पूर्व कानों का निर्माण होता है। जो भी हो, अब तक का किसी भी देश का काव्य-विकास गीत से पृथक अपनी स्थिति घोषित नहीं कर सका है। इसके अतिरिक्त नाद में अनुभूति को वहन करने की क्षमता रेखाओं से अधिक होती है। इसीलिये क्वाचित्क अनुनय पूर्ण पत्र के स्थान पर स्वयं मिलकर अनुनय करना लोग श्रेयस्कर मानते हैं। स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कवि भी इस नाद - सौन्दर्य से अपने को अछूता कैसे रख सकता है। वह लोक - संगीत से प्रभावित हुआ है। यही कारण है कि उनकी कविताओं में एक ओर जहाँ लोक प्रचलित वाद्यों के नाम आए हैं, वहीं लोक प्रचलित गीतों या गीत - धुनों के प्रति भी उसकी संवेदना मुखर हुई है। लोक की गीत या गीत धुनों में फाग, कजरी, जाँत के गीत, मल्हार, आल्हा, चैता, बिरहा आदि तथा वाद्यों में मुरज, झाँझ, पखावज, ढोल, मजीरा, बाँसुरी, खँजरी, चिमटा, करताल, बीन मृदंग, हारमोनियम, नफीरी, तबला, डुग्गी, ढोलक आदि का उल्लेख तथा इनके माध्यम संगीत के दृश्य स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कविता में बहुतायत से मिलते हैं।

गिरिजा कुमार माथुर, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, जगत प्रकाश चतुर्वेदी चन्द्र देव सिंह, भवानी प्रसाद मिश्र, शिशु रश्मि, अज्ञेय, केदारनाथ सिंह, प्रभाकर माचवे, रूप नारायण त्रिपाठी, ठाकुर प्रसाद सिंह, वीरेन्द्र कुमार जैन आदि की रचनाओं पर लोक-संगीत का प्रभाव स्पष्ट देखा जा सकता है। इनमें भी भवानी प्रसाद, जगत प्रकाश चतुर्वेदी, तथा गिरिजा कुमार माथुर में इनके प्रयोग सफल तथा सहज और सीधे हैं। शेष में से अधिकांश में इनका प्रयोग व्यंग के रूप में या रूपक के रूप में हुआ है। गिरिजा कुमार माथुर की " ढाकबनी ", जगत प्रकाश चतुर्वेदी की " लौट चली बरसात ", भवानी प्रसाद मिश्र की " वर्षा रानी ", " गगन की आग " आदि रचनायें इस दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय हैं।

वर्षा में जब कहीं दूर पर कोई हलवाहा कजरी गाता है और गाँव की ओर से " मल्हार " के स्वर आते हैं या रात में २० - २५ आदमियों

का ढ़ोल जब " धिन " " धमाधम " और संवरी पर आल्हा की तान लेता है तो किस सहृदय का मन नहीं झूमने लगता । वर्षा की इन गीत-धुनों को कमल प्रकाश चतुर्वेदी के इस गीत में इस प्रकार अभिव्यक्ति मिली है —

दूर कहीं हलवारे की धुन आ रही
बढ़ी झूमती फसल सामने गा रही
कजरी, और मल्हारों से
आल्हा की झुंकारों से
लौट चली बरसात रे, लौट चली बरसात ।[1]

उमाकान्त मालवीय भी वर्षा ऋतु में कजली और मल्हारों से अप्रभावित नहीं रह सके हैं ।[2] उनके एक गीत " शोर हुआ है बदली छायी " में मल्हार ही नहीं बारहमासा भी बरबस ओठों पर आ जाता है ।[3] "गिरिजा कुमार माथुर की" ढाकबनी " शीर्षक कविता में कजरी के साथ फाग गाने का चित्रण हुआ है ।[4] सर्वेश्वर दयाल सक्सेना की " नये साल पर " शीर्षक कविता में " जांत के गीतों " का उल्लेख हुआ है ।[5] चन्द्र देव सिंह के गीतों में तो आल्हा, कजरी, चैता और बिरहा ने मानों डेरा ही

---

१ कमल प्रकाश चतुर्वेदी, ताप की छाया में, पृ० ४२, सहकारी प्रकाशन, आगरा, प्रथम संस्करण ।

२ उमाकान्त मालवीय : मेंहदी और महावर, पृ० ४५, साहित्य भवन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण ।

३ — वही — पृ० ३६ ।

४ गिरिजा कुमार माथुर : धूप के धान, पृ० ८६ भारतीय ज्ञान पीठ, काशी, तृतीय संस्करण ।

५ सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, तीसरा सप्तक, पृ० २१३, भारतीय ज्ञान पीठ, काशी, तृतीय संस्करण ।

डाल दिया है।[1]

लोक गीतों में जहाँ इन कवियों को "जाति के गीत" और ऋतु गीतों ने छुआ है, वहाँ रसिया,[2] सोहर,[3] संथाली गीत,[4] और कीर्तनों[5] ने भी इन को अपनी ओर आकर्षित किया है। इनमें रसिया ब्रज प्रदेश का एक विशेष गीत है। संथाली गीत संथाल आदिवासी जाति के गीत हैं। कजरी और बेला भोजपुरी प्रदेश के विशेष गीत हैं। इस प्रकार इन कविताओं में ऋतु संबंधी, संस्कार संबंधी, श्रम संबंधी, धार्मिक तथा मनोरंजन संबंधी गीतों का उल्लेख हुआ है।

लोक - जीवन में इन विभिन्न लोक-गीतों के साथ ही कुछ लोक - वाद्य भी हैं जो इन गीतों के गाने में अपनी प्रमुख भूमिका का निर्वाह करते हैं। लोक - गीतों के साथ बजाये जाने वाले वाद्यों का स्वर गाने वाले में एक विशेष प्रकार की शक्ति उत्पन्न करता है। भवानी प्रसाद मिश्र की कविताओं में यह बात भली प्रकार अभिव्यक्त हुई है। उनकी रचनाओं में स्थान - स्थान पर मुरज, पखावज, ढोल,[6] मांझा,[7] आदि वाद्यों का उल्लेख हुआ है। अज्ञेय की अनेक कविताओं में इन वाद्यों के स्वर से उत्पन्न

---

१ चन्द्र देव सिंह : पांच जोड़ बांसुरी, पृ० ८४, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, १९६९।

२ सर्वेश्वर : सबका होने से पहले, पृ० १, युगान्तर प्रकाशन, हैम्पियर, मथुरा, जनवरी १९७१।

३ नरेश मेहता : मेरा समर्पित एकान्त, पृ० ५३, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, प्रथम संस्करण।

४ -वही- पृ० ५३।

५ -वही- पृ० ५३।

६ भवानी प्रसाद मिश्र : गांधी पंचशती, पृ० १७३, सरला प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण।

७ -वही- पृ० १५६।

हाल किया है ।[1]

लोक गीतों में जहाँ इन कवियों को "जाँत के गीत" और ऋतु गीतों ने छुआ है, वहीं रसिया,[2] सोहर,[3] संथाली गीत,[4] और कीर्तनों[5] ने भी इन को अपनी ओर आकर्षित किया है । इनमें रसिया ब्रज प्रदेश का एक विशेष गीत है । संथाली गीत संथाल आदिवासी जाति के गीत हैं । कजरी और बेला भोजपुरी प्रदेश के विशेष गीत हैं । इस प्रकार इन कविताओं में ऋतु संबंधी, संस्कार संबंधी, श्रम संबंधी, धार्मिक तथा मनोरंजन संबंधी गीतों का उल्लेख हुआ है ।

लोक - जीवन में इन विभिन्न लोक-गीतों के साथ ही कुछ लोक - वाद्य भी हैं जो इन गीतों के गाने में अपनी प्रमुख भूमिका का निर्वाह करते हैं । लोक - गीतों के साथ बजाये जाने वाले वाद्यों का स्वर गाने वाले में एक विशेष प्रकार की [illegible] उत्पन्न करता है । भवानी प्रसाद मिश्र की कविताओं में यह बात भली प्रकार अभिव्यक्त हुई है । उनकी रचनाओं में स्थान - स्थान पर मुरज, पखावज, ढोल,[6] झांझ,[7] आदि वाद्यों का उल्लेख हुआ है । अज्ञेय की अनेक कविताओं में इन वाद्यों के स्वर से उत्पन्न

---

१ चन्द्र देव सिंह : पाँच जोड़ बाँसुरी, पृ० ६४, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, १९६९।

२ सव्यसाची : सुबह होने से पहले, पृ० १, युगान्तर प्रकाशन, डैम्पियर, मथुरा, जनवरी १९७१ ।

३ नरेश मेहता : मेरा समर्पित एकान्त, पृ० ५३, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, प्रथम संस्करण ।

४ -वही- पृ० ५३ ।

५ -वही- पृ० ५३ ।

६ भवानी प्रसाद मिश्र : गांधी पंचशती, पृ० १७३, सरला प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण ।

७ -वही- पृ० १५६ ।

भावात्मक स्थिति को शब्दबद्ध किया गया है। वे कहीं " गड़रिये की अनमनी बाँसुरी "[1] में खो जाते हैं तो कहीं " पार्वती गाँव के उत्सव " में " ढोलक की थाप "[2] सुनते हैं। यहाँ तक कि " डाकबनी " में झींगुरों की आवाज़ में खंजरी, बाँसवन की झनझनाहट में झाँझ के भी स्वर स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कवियों ने सुने हैं।[3] " बीन " भी एक ऐसा ही लोक-वाद्य है जिसका उल्लेख प्रस्तुत कविता में हुआ है। इस वाद्य को बजाना प्रत्येक के बस की बात नहीं है। जिसे गीत की धुन आती है तथा जिसे इस वाद्य का ज्ञान है वही इसे बजा भी सकता है। यदि गीत की धुन ही बजाने वाले को नहीं आती तो बीन कितनी भी अच्छी हो वह व्यर्थ ही है। रूप नारायण त्रिपाठी के एक गीत में इस बात को लेकर बड़ी सुन्दर अभिव्यक्ति की गई है।[4]

अनेक कवियों ने इन लोक वाद्यों के स्वर की बारीकी तथा भारीपन से इनमें स्त्री - पुरुष का भेद कर लिया है। सामान्यतः लोक मानस पर भी इन वाद्यों के स्वरों का कुछ ऐसा ही प्रभाव पड़ता है। वास्तव में व्यक्ति इनके स्वरों में अपने हृदय की ही गूँज सुनने लगता है। वीरेन्द्र कुमार जैन की एक कविता में " मृदंग " की ध्वनि को रहस्यात्मक कहा गया है।[5]

---

१ अज्ञेय : आँगन के पार द्वार, पृ० ७३-७८, भारतीय ज्ञान पीठ, काशी, प्रथम संस्करण।

२ -वही - पृ० ७३-७८।

३ गिरिजा कुमार माथुर : धूप के धान, पृ० ८६, भारतीय ज्ञान पीठ, काशी, तृतीय संस्करण।

४ रूप नारायण त्रिपाठी : नई धरती के नये स्वर, पृ० ३५, युवक प्रकाशन, आगरा, प्रथम संस्करण।

५ वीरेन्द्र कुमार जैन : शून्य पुरुष और वस्तुएँ, पृ० १२२, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण।

गोपाल प्रसाद व्यास ने अपनी "अनारी नर" शीर्षक एक लम्बी हास्य कविता में नफीरी, मृदंग, ढोलक, वीणा, चिमटा, और सारंगी को रखा तथा हारमोनियम, ढोल, डुग्गी और तबला को प्रयोग कराया है।[1]

लोक संगीत का एक पक्ष धार्मिक भी है। जहाँ प्रकृति जनित उल्लास और श्रम की थकान में संगीत गूंज उठता है, वहाँ हरिकीर्तन भी संगीत के रस से युक्त हो जाता है। किन्तु हरिकीर्तन के संगीत और वाद्यों पर इन कवियों की कोप दृष्टि रही है। उसका उपहास उड़ाने वाले भाव में प्राय: वर्णन किया गया है -

"होठों पर
ढोल और मंजीरे
रामधुन गाने लगते हैं।"[2]

प्रभाकर माचवे भी जोगिया वस्त्र पहनकर "चिमटे" और "करताल" लेकर बैठ जाने को कुछ अच्छी दृष्टि से नहीं देखते हैं।[3] फिर भी इन कवियों का लोक संगीत ज्ञान इनकी कविताओं से स्पष्ट हो जाता है। इन

---

१ गोपाल प्रसाद व्यास : अनारी नर, पृ० ३६ और ७२, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, प्रथम संस्करण।

२ विश्व रश्मि, नारों के अन्धे शहर में, पृ० ७३, हेमन्त प्रकाशन, प्रथम संस्करण।

३ प्रभाकर माचवे : कविताएं १९५४, पृ० ७९, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, प्रथम संस्करण।

कविताओं में उपर्युक्त वाद्यों के अतिरिक्त शंख,[1] धौंसा[2] (प्राचीन समय में युद्ध में तथा आजकल कुछ मन्दिरों में बजाया जाने वाला एक वाद्य), ढोल-ताशे, नफीरी-शहनाई[3] तथा इकतारा[4] आदि का भी उल्लेख हुआ है।

३- वास्तु कला

ललित कलाओं में सर्वाधिक उपयोगी कला वास्तु-कला ही है। इसका आधार भी सर्वाधिक स्थूल है अतः इसका उपयोग भी भौतिक ही है। विश्व-मानव चाहे वह किसी भी देश, किसी भी सभ्यता, वन जाति, आदिवासी जाति या असभ्य कही जाने वाली जाति से सम्बन्धित क्यों न हो अपने निवास-आवास की समुचित व्यवस्था रखता है। चाहे वह वृक्षों के ऊपर, पहाड़ों की कन्दराओं में रहे, चाहे घास-पात की कुटिया बनाकर अथवा ईंट-सीमेन्ट के पक्के मकानों में रहे। निवास की व्यवस्था उसके जीवन का एक अंग है। जिसे हमारी आलोच्य कविता में समुचित स्थान प्राप्त हुआ है। भारत वर्ष जो कि एक ग्राम प्रधान देश है, वहाँ बढ़ते हुए औद्योगीकरण ने अनेक नगरों और महानगरों को जन्म दिया है। बहुत से गाँव कस्बों में बदल गए हैं। गाँवों में भी इस वैज्ञानिक युग के विकास के साथ-साथ ईंट-चूना, सीमेन्ट के मकान बनने लगे हैं। फिर भी झुग्गी-झोंपड़ियाँ भी इस देश में अभी समाप्त नहीं हो गई हैं। दिल्ली

---

१ सर्वेश्वर दयाल सक्सेना : काठ की घण्टियाँ, पृ० ३५३, भारतीय ज्ञान पीठ, काशी, प्रथम संस्करण।

२ दिनकर : परशुराम की प्रतीक्षा, पृ० ७६, उदयाचल, राजेन्द्रनगर, पटना, तृतीय संस्करण।

३ अजित कुमार : अकेले कण्ठ की पुकार, पृ० १५, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण।

४ माखन लाल चतुर्वेदी : बीजुरी काजल आँज रही, पृ० ६०, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण।

और बम्बई जैसे महानगरों में भी झुग्गियाँ अभी तक शनील के कपड़े पर लगे-सूखे पैबन्द की तरह इस देश के व्यवस्थापकों की आँखों में खटकती हैं ।
वर्तमान कविता में जहाँ पक्के मकानों[1] का उल्लेख हुआ है वहीं घासफूस के मकानों[2], झोंपड़ियों[3] तथा कुटियों को भी स्थान मिला है । भारत के शिष्ट वर्ग और जन - सामान्य में बहुत कम ही अन्तर रहा है । इस देश के बड़े - बड़े राजे - महाराजे जीवन के अन्तिम समय में महलों को छोड़ कर जंगलों में कुटियों के अन्दर रहने में गौरव का अनुभव करते थे । बड़े - बड़े ऋषि - मनीषी सदैव ही कुटियों में रहे हैं । यदि हम कहें कि भारत - वर्ष का समस्त ज्ञान, विज्ञान, साहित्य और दर्शन फूस की कुटियों में ही फला - फूला है, तो कोई अतिशयोक्ति न होगी । इन कुटियों की एक पवित्रता रही है । अज्ञेय ने अपनी " पहली आलोक-किरण "[4] शीर्षक कविता में इस " कुटिया " को साधना - स्थली के रूप में ही चित्रित किया है ।

प्राय: भारत वर्ष के मकानों में एक बैठक, कमरा, एक पूजा गृह, परिवार के अन्य सदस्यों के लिये पृथक से कमरे जिन्हें " बासर " कहा जाता है, गुसलखाना, चौका, आँगन, दालान जिसे बरोठा या बरामदा भी कहते हैं, अनिवार्य रूप से रहता है । किसी - किसी मकान के आँगन में तुलसी

---

१ कुँवर नारायण, तीसरा सप्तक, पृ० १६३, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, तृतीय संस्करण ।

२ शिवमंगल सिंह " सुमन " : पृ० ५६, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, प्रथम संस्करण ।

३ वीरेन्द्र कुमार जैन : शून्य पुरुष और वस्तुएँ, पृ० १४६, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण ।

४ अज्ञेय : अरी ओ करुणा प्रभामय, पृ० १५८, भारतीय ज्ञान पीठ, काशी, प्रथम संस्करण ।

या अन्य किसी पूज्य वृक्ष का "चौरा" या "थान" भी होता है जो भारतवासियों की वृक्षों के प्रति पूजाबुद्धि का परिचायक है। दक्षिण भारत में इसे "वृन्दावनम" कहा जाता है। यह "थान" या "चौरा प्रायः तुलसी का होता है।[१]

वस्तुतः भारतीय समाज में "तुलसी" के प्रति जो श्रद्धा - भाव और धार्मिक विश्वास है, वही घरों में "तुलसी चौरा" के स्थापन का कारण है। डयूबिस महोदय के अनुसार यह लोक विश्वास है कि घर के आँगन में लगा तुलसी का पौधा उस घर के निवासियों की किसी भी अनिष्ट से रक्षा करता है।[२] घर में, इतना ही नहीं पौधे के होने से मनुष्य को अपनी प्राकृतिक सौन्दर्य से निकटता का आभास भी होता रहता है। वर्षा ऋतु में घर के आँगन में जब तुलसी - चौरे पर गौरैया फुदुक - फुदुक कर चहकती हो तो बरबस ही मन उधर आकर्षित हो जाता है --

"भीगा भीगा आँगन जैसे विरहिन का आँचल ।
तुलसी की वेदी पर चहके गौरैया चंचल ॥"[३]

---

१ Abbe, J.A. Dubois : Hindu Manners, Customs and Ceremonies, Part III, Ch. VII, p. 650, Oxford University, London, 1959.

२ Ibid.

३ उमाकान्त मालवीय : मेंहदी और महावर, पृ० ४७, साहित्य भवन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, १९६३ ।

घर के प्रत्येक भाग से निवासी का एक भावात्मक संबंध बन जाता है। मन के दुखी होने पर पूरा घर दुखमय लगता है, तुलसी पर उसे काँटे[1] दिखते हैं, कभी सब कुछ सूना - सूना लगता है —

सूना आँगन सूनी तिदारी
तुलसी का चौरा सूना - सूना
ऐसे सूनेपन में हमें हुआ
कुछ सारी लेती हैं कुछ धुना
चौका - बासन
छत - छज्जे सब अँधियारे ।[2]

प्रस्तुत कविता में मन की भिन्न - भिन्न स्थितियों को व्यक्त करने के लिये ही घर के विभिन्न भागों का उल्लेख हुआ है। और इस प्रकार इस कविता में घर के लगभग प्रत्येक भाग का चित्रण है। इन कवियों की दृष्टि छत, चौका, छज्जे, आँगन, तुलसी चौरा, तिदारी ।कमरे के बाहर आँगन से पहले प्राय: तीन दरवाजों वाला बरामदा। सभी जगह पड़ती है। मकान की सीढ़ियों[3], दीवालों[4], खिड़कियों[5], दरवाजों[6]

---

१ विजयदेव नारायण साही : तीसरा सप्तक, पृ० १६५, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, तृतीय संस्करण, १९६७ ।

२ ओम प्रभाकर : पुष्प चरित, पृ० ५, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७३ ।

३ वीरेन्द्र कुमार जैन : शून्य पुरुष और वस्तुएँ, पृ० १३१, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, अक्टूबर १९७२ ।

४ विजयदेव नारायण साही : तीसरा सप्तक, पृ० १६४, भारतीय ज्ञान पीठ, काशी, तृतीय संस्करण, १९६७ ।

५ केदार नाथ सिंह, पाँच जोड़ बाँसुरी, पृ० ८७, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, १९६९ ।

६ माहेश्वर तिवारी : - वही - पृ० १५० ।

चौखटों [१], जंगलों [२], ताश - दीवटों [३], के साथ - साथ छत की कड़ियाँ भी इस कवि की दृष्टि से ओझल नहीं हो सकी हैं —

" बैठक की कड़ियों में अब भी
झूलते होंगे
बरसों पहले के वे दो मयूर पंख " [४]

इसी कविता में कवि ने " चौका ", " आँगन " ही नहीं, घर के कमरों को ही श्रृंखला में बना पूजा - घर[५] भी देख लिया है । सोमठाकुर के एक गीत में देहरी, खिड़की, दालान, चौका, सीढ़ी, आँगन सभी का बड़े सुन्दर ढंग से उल्लेख हुआ है —

" खिड़की पर आँख लगी,
देहरी पर कान
धूप भरे सूने दालान
हल्दी के रूप भरे सूने दालान ।
+ + +
रोशनी चढ़ी सीढ़ी - सीढ़ी
डूबा मन
जीने की मोड़ों को
घेरता अकेलापन

---

१ केदारनाथ सिंह : अभी बिल्कुल अभी, पृ० १२६ नया साहित्य प्रकाशन, प्रथम संस्करण, फरवरी १९६० ।

२ -वही - पृ० १२६ ।

३ शिवा निवास गुप्त : कविता ६, १९६४, पृ० १३१, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९६६ ।

४ ओम प्रभाकर : पुष्प चरित, पृ० ३१, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७३ ।

५ -वही - पृ० ३२ ।

ओ मेरे नन्दन
आँगन तक बढ़ आया
एक बियाबान ।
धूप भरे सूने दालान ।[1]

गरीब घरों की खिड़कियों की दयनीय स्थिति का एक चित्र यहाँ प्रस्तुत है --

"खिड़कियों के शीशे शायद एक दो बचे हैं
बाकी चौखटों में दफ्तियाँ जड़ दी गई हैं
एक में टीन का पत्तर लगा है
जो तेज हवा चलने पर खड़-खड़ बजता है ।"[2]

वास्तु कला की कृति में साधनों का अभाव उसकी सुन्दरता को नष्ट करता है । उपरोक्त पंक्तियों से यह स्पष्ट है । इसके अतिरिक्त इस कविता में बाखर (बखार)[3], पौरी,[4] स्नानगृह (गुसलखाना)[5], बरामदे,[6] (बरोठे या दालान), भण्डार गृह[7] (जहाँ अन्न भरा जाता है, प्राय:

---

१ सोमठाकुर : पाँच जोड़ बाँसुरी, पृ० १०७, भारतीय ज्ञान पीठ, काशी, प्रथम संस्करण, १९६९ ।

२ अजित कुमार : अकेले कण्ठ की पुकार, पृ० ४३, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९५८ ।

३ गिरिजा कुमार माथुर : सांप्रतिकी, पृ० ७१, बिहार ग्रन्थ कुटीर, पटना - ४, प्रथम संस्करण, १९६४ ।

४ नरेश सक्सेना : पाँच जोड़ बाँसुरी, पृ० १५६, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, १९६९ ।

५ [illegible] : कविताएँ १९६४, पृ० ३२, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९६६ ।

६ वीरेन्द्र कुमार जैन : शून्य पुरुष और वस्तुएँ, पृ० ७८, भारतीय ज्ञान पीठ, काशी, प्रथम संस्करण, अक्टूबर १९७२ ।

७ केदारनाथ सिंह : अभी बिल्कुल अभी, पृ० ५१, नया साहित्य प्रकाशन, प्रथम संस्करण, फरवरी १९६० ।

यह गाँवों के मकान में ही होते हैं), चौका [1], चबूतरा, [2] दरवाजे के साथ लगे खाते [3] (अलाते), छत[4], मुंडेर [5] या ओरी [6], छप्पर, [7] खपरैल [8], किवार – अटारी [9], किवाड़ों में लगी आगल[10] (आँगला या साँकल) छत के स्थान पर टीन [11] आदि गृह-भागों का उल्लेख हुआ है जिनसे कि लोक की वास्तु कला का परिचय मिलता है साथ ही उसकी आवासीय व्यवस्था पर भी इससे समुचित प्रकाश पड़ता है। लोक की आवास – व्यवस्था का यह चित्रण इन कवियों ने अधिकांशतः भावात्मक स्थितियों के बिम्ब प्रस्तुत करने के लिये किया है। कहीं – कहीं इनका स्वतन्त्र – चित्रण भी हुआ है ——

---

१ सर्वेश्वर दयाल सक्सेना : तीसरा सप्तक, पृ० २१३, भारतीय ज्ञान पीठ, काशी, तृतीय संस्करण, १९६७।

२ बच्चन : जालसमेटा, पृ० ६४, राजपाल एण्ड संस, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७३।

३ नीलमसिंह : पाँच जोड़ बाँसुरी, पृ० १५४, भारतीय ज्ञान पीठ, काशी, प्रथम संस्करण, १९६९।

४ धर्मवीर भारती : –वही – पृ० ६० ।

५ चन्द्रदेव सिंह : –वही – पृ० ६७ ।

६ रामशोक श्रीवास्तव : – वही – पृ० ११८ ।

७ अज्ञेय : अरी ओ करुणा प्रभामय, पृ० १५९, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, १९५९।

८ माखन लाल चतुर्वेदी : बीजुरी काजल आँज रही, पृ० ३७, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, १९६४।

९ सर्वेश्वर दयाल सक्सेना : पाँच जोड़ बाँसुरी, पृ० ७०, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, १९६९।

१० वीरेन्द्र कुमार जैन, शून्य पुरुष और वस्तुएँ, पृ० १३५, भारतीय ज्ञान पीठ, काशी, प्रथम संस्करण, अक्टूबर-१९७२।

११ सर्वेश्वर दयाल सक्सेना : काठ की घण्टियाँ, पृ० ३५४, भारतीय ज्ञान पीठ, काशी, प्रथम संस्करण, १९५९।

" पिंजरे से छूटी हुई लक्ष्यहीन चिड़िया - सी
हरी - हरी घबरायी, पुलकायित
कमरों में, छतों पर, झुकी खपरैलों पर
उड़ती फिरी । " १

अथवा -

" बीच पेड़ों की कटन में
हैं पड़े दो चार छप्पर
हाँडियां, मचिया, कठौते
लट्ठ गुदड़, बैल, बक्खर । " २

इनके अतिरिक्त केदारनाथ सिंह, वीरेन्द्र कुमार जैन, अजित कुमार, माखन लाल चतुर्वेदी आदि की अनेक कविताओं में भी स्वतन्त्र रूप से इनका चित्रण हुआ है । भावात्मक स्थितियों का बिम्ब प्रस्तुत करने के लिये इन गृह - भागों का चित्रण सोमठाकुर, भवानी प्रसाद मिश्र, केदार नाथ सिंह, नईम, ओम प्रभाकर आदि की कविताओं में विशेष रूप से हुआ है ।

कहीं - कहीं प्रकृति - चित्रण के लिये भी इन स्थानों का उल्लेख हुआ है । " साही " की " हवा चली " शीर्षक कविता का उदाहरण ऊपर दिया जा चुका है । " नईम " के एक गीत में घर में आती हुई हवा का चित्रण इसी प्रकार का है —

---

१ विजय देव नारायण साही : तीसरा सप्तक, पृ० १६४, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, तृतीय संस्करण, १९६७ ।

२ गिरिजा कुमार माथुर : साम्प्रतिकी, पृ० ७१, बिहार ग्रन्थ कुटीर, पटना - ६, प्रथम संस्करण, १९६५ ।

"आजाती घर भीतर
कच्ची साड़ी पीकर
लीपा - पोती करती
देहरी और द्वारको ।"[1]

स्वातन्त्र्य - चित्रण में भी कहीं - कहीं गृह - संभागों से लोक - मानव के भावात्मक संबन्धों की गन्ध आती है —

"एक दिया वहाँ
जहाँ गगरी रखी है।
एक दिया वहाँ
जहाँ बर्तन मँजने से गड्ढा सा दिखता है।"[2]

दीपावली पर घर के विभिन्न स्थानों पर दीपक रखे जाते हैं। उसके वर्णन में घर के प्रत्येक भाग का चित्रण होना स्वाभाविक है। इस कविता में कवि की दृष्टि से घर में "चौका" और चौके में गगरी रखने का स्थान, बर्तन मँजने का स्थान तथा चावल धोने का स्थान भी नहीं बच सके हैं। तथा सभी इन स्थानों पर दीपावली का एक - एक दीप रखने की आकांक्षा घर के उन भागों के प्रति एक मोह, एक आकर्षण या एक कोमल भावना की ही अभिव्यक्ति करती है।

---

१ नरेश : कविताएँ १९६४, पृ० ७१, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९६६ ।

२ केदार नाथ सिंह : अभी बिल्कुल अभी, पृ० ५०, नया साहित्य प्रकाशन, प्रथम संस्करण, फरवरी १९६० ।

४- काव्य कला

ललित कलाओं में सर्वाधिक सूक्ष्म या अमूर्त फलक को लेकर चलने वाली श्रेष्ठतम कला, काव्यकला ही है। काव्य की परिभाषाओं में चाहे वह "रमणीयार्थ प्रतिपादक: शब्द: काव्यम्" हो, चाहे "आत्महिया की अभिव्यक्ति ही कला है" हो, कला के दो पक्ष —— अभ्यन्तर और बाह्य, सूक्ष्म और स्थूल, अर्थ और शब्द ही हैं। शब्द में काव्य की समस्त स्थूलता तथा अर्थ में काव्य का समस्त सूक्ष्म तत्व समाहित हो जाता है। इसमें शब्द का सम्बन्ध भाषा से है। अत: जब हम काव्य कला की बात करते हैं तो हमें उसकी भाषा और भाषा द्वारा व्यक्त किये जाने वाले भाव या विचारों पर भी दृष्टिपात करना होता है। अत: हम यहाँ दोनों पर पृथक् - पृथक् विचार करेंगे।

<u>लोक-भाषा :</u> भाषा के अन्तर्गत ही काव्य का शिल्प आजाता है और शब्दों की काट - छाँट से ही भाव की भंगिमा बनी है। अत: यहाँ हम लोक भाषा पर विचार करेंगे तथा देखेंगे कि स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कविता की भाषा कहाँ तक लोक - जीवन के निकट पहुँच सकी है। किसी भी भाषा में शब्द हमको कुछ प्रदान करते हैं। शिष्ट जनों की भाषा या शुद्ध साहित्यिक भाषा के शब्द हमारे सम्मुख सूक्ष्म विचारों की ही अधिकांशत: अभिव्यक्ति करते हैं। जबकि लोक भाषा के शब्द एक स्थूल चित्र निर्माण करते हैं जिसके माध्यम से किसी भाव की अभिव्यक्ति होती है। किन्तु सूक्ष्म विचारों का बोध कराने वाले शब्द भाव के स्थान पर विचार या एक दृष्टि विशेष को अभिव्यक्त करते हैं। इसीलिये शिष्ट जनों की भाषा में पारिभाषिक शब्द अधिक होते हैं और लोक भाषा में नहीं। वास्तव में शिष्ट भाषा और लोक भाषा का यह अन्तर शिष्ट जनों और लोक के मानसिक अन्तर को ही अभिव्यक्त

करता है। शिष्ट जनों की भाषा जहाँ सूक्ष्म तम व्यापारों को भी अपने चिन्तन का विषय बना लेती है वहाँ लोक की भाषा केवल स्थूल वर्णन या अनुभव मात्र ही करती है। यही कारण है कि शिष्ट जनों का प्रिय " भावुकता " की भाँति आता है और " संज्ञा " की भाँति चला जाता है। किन्तु लोक का प्रिय " आँधी - पानी की तरह आता है "। जैसे आँधी में पानी के आते ही आँधी चली जाती है वैसे ही वह भी आने - जाने की प्रक्रिया एक साथ निष्पन्न करता है। स्पष्ट है कि " भावुकता " और " संज्ञा " की अपेक्षा आँधी पानी का व्यापार स्थूल है। शिष्ट जनों की भाषा में बहुत कुछ पाठक या श्रोता की सूक्ष्म कल्पना शक्ति पर निर्भर करता है जब कि लोक भाषा एक स्थूल बिम्ब प्रस्तुत करती है और श्रोता या पाठक की कल्पना शक्ति पर अधिक भार नहीं डालती। शिष्ट जनों के " भय " शब्द में जो स्थूल कार्य - व्यापार छिपा है वह " हौला " या " हौल दिली " में ही अभिव्यक्त होता है। " भय " शब्द मन की एक सूक्ष्म स्थिति को प्रकट करता है जबकि " हौला " या " हौलदिली " उस स्थिति विशेष में शरीर के कार्य - व्यापार की अभिव्यक्ति करके एक बिम्ब प्रस्तुत करता है। इनमें पहला शब्द पारिभाषिक है तथा दूसरा देशज। इस प्रकार बिम्ब प्रस्तुत करने की जो क्षमता लोक-भाषा के शब्दों में होती है वह शिष्ट जनों की भाषा में नहीं होती। संक्षेप में कहें तो शिष्ट जनों की भाषा समझने की वस्तु है और लोक भाषा महसूस करने की। उनकी भाषा वर्णन जैसे विषयों के लिये अधिक उपयुक्त है किन्तु काव्य के लिये लोक-भाषा ही श्रेयस्कर है। क्योंकि, इसीलिये छायावादी कविता के प्रारम्भ काल में खड़ी बोली और उसकी संस्कृतमयता का ब्रजभाषा - कवियों द्वारा विरोध किया गया था।

इसका यह अर्थ नहीं है कि शिष्टों की भाषा काव्य के लिये सर्वथा अनुपयुक्त है । वास्तव में छायावादी कविता के साथ हिन्दी काव्य में सूक्ष्म और विचारशील काव्य का अभ्युदय हुआ था, जिसके लिये ब्रजभाषा अनुपयुक्त सी लग रही थी । पन्त जी जैसे कवियों ने इसी लिये ब्रज भाषा का विरोध किया था । किन्तु छायावाद के उपरान्त काव्यधारा जिस दिशा में वह निकली है, उसका स्पष्ट मार्ग स्वतन्त्रता के पश्चात् की कविता में ही देखा जा सकता है । प्रयोगवाद और प्रगतिवाद के बीच भटकती हुई हिन्दी कविता ने जब अपना मार्ग निश्चित कर लिया तब उसकी भाषा में भी स्थिरता आगई । वास्तव में प्रयोगवाद और प्रगतिवाद भाषा के ही सूक्ष्मतावादी और स्थूलतावादी आन्दोलन हैं । और नई कविता ने इन दोनों आन्दोलनों को " यथार्थोन्मुखी चेतना को उन्मुक्त हृदय से अपने में समाहित कर लिया "[१] है । अतः उसमें एक ओर जितनी भाव और भाषा की सूक्ष्मता है दूसरी ओर उतनी ही स्थूलता भी है । उसमें जहाँ विचारों की सूक्ष्मता है वहीं भावों की स्थूलता भी उसमें है। अतः उसकी भाषा में जहाँ शिष्टजनों की भाषा के समान गूढ़तम विचारों को व्यक्त करने वाले शब्द हैं वहीं उसमें भावों के अनुरूप स्थूल बिम्ब प्रस्तुत करने वाले लोक भाषा के शब्द भी हैं । नयी कविता के प्रारम्भ में जो शास्त्रीय और पारिभाषिक शब्दों के प्रयोग की प्रवृत्ति बढ़ी थी अब उसका स्थान लोक भाषा के शब्दों के प्रयोग की प्रवृत्ति ने ले लिया है । कविता के क्षेत्र में " नई कविता " के समानान्तर खड़ा होने वाला " नवगीत " इसका प्रमाण है । कविता ही नहीं उपन्यास और कहानियों के क्षेत्र में

---

१ डा० जगदीश गुप्त : नयी कविता : स्वरूप और समस्याएँ, पृ० ४२
भारतीय ज्ञान पीठ प्रकाशन, काशी, प्रथम संस्करण, १९६९ ।

भी आँचलिकता की ओर बढ़ता हुआ झुकाव इस बात का समर्थन करता है कि स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी साहित्यकारों का रुझान पहले की अपेक्षा अब लोक की ओर अधिक है। और यह झुकाव भाषा में भी देखा जा सकता है। वास्तविकता यह है कि बिना लोक - भाषा की सहायता के लोक - जीवन को सफलता पूर्वक चित्रित ही नहीं किया जा सकता ।

लोक - भाषा के शब्दों का प्रयोग

वास्तव में यह समाज की जनवादी शक्तियों की ही विजय है, जो कविता केवल कुछ लोगों के लिये ही न होकर, सबके लिये बन रही है। स्वतन्त्रता के पश्चात् प्रजातन्त्र के उदय का हिन्दी कविता पर जो प्रभाव पड़ा है, उसे उसकी भाषा में स्पष्ट देखा जा सकता है। अब कविता में से मेखला, केतस, महाशून्य, महाचिति, जैसे शब्द कम हो रहे हैं। अब उसकी भाषा में गाँव मिट्टी की सौंधी गन्ध घुलने लगी है। उसमें - कलोस, परस, पीठ, माखन, मिस्टू, सिवान, पुरनमा, अँजोरी, पाल, हिया, पिरै, फाग, सरोखी, पाहुन, बयेर, चौमासा, नदिया, खिलाफल, सरग, दुपहर, बिखरै, औंठगी, पुरवा, बदरिया, अँखियाँ, चुनरिया, उचकौहैं, दौंगा, गैउअन, कचरी, दुपेर आदि शब्दों का प्रचलन बढ़ रहा है। लोक-भाषा के इन प्रयोगों का श्रेय मुख्यतः अज्ञेय, शम्भू नाथ सिंह, भवानी प्रसाद मिश्र, केदार नाथ सिंह, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, गिरिजा कुमार माथुर, शमशेर बहादुर सिंह, धूमिल, मदन वात्स्यायन, बच्चन आदि कवियों को ही जाता है। इन कवियों की देखा - देखी कुछ नौसिखिया भी लोक - भाषा के शब्दों का प्रयोग कर रहे हैं। किन्तु उनमें वह सौष्ठव नहीं आ पाया जो उपरोक्त कवियों की कविताओं में है। नामवर सिंह के शब्दों में जहाँ उन शब्दों को "" अँ - आँ, बाँ - बाँ, ताँ - ताँ के साथ कहलाया गया है।[1]

---

१ नामवर सिंह, इतिहास और आलोचना : पृ० ६६, सत् साहित्य प्रकाशन, लक्ष्मीकुण्ड, बनारस - ५, प्रथम संस्करण, १९५६ ।

क्रियाविशेषण — अत, उतानी, ऐसा, बोरायके, सबेर ।

परसर्ग — औ (को), उ (का), ए (को), र (का),
री (की), पै(पर), सैती (के लिये) ।

सर्वनाम — मोह (मुझ), मो (मैं), तिस, का (क्या), काहें (क्या)

निपात — ए (ही), हु (भी) ।

ध्वन्यात्मक प्रयोग — कुल-कुल, टुन-टुन, धपधप, डपाडप, फफकना,
कुलकुल ।

आवर्ती प्रयोग — छिटकी-छिटकी, चमाचम, लकलक आदि ।

उपर्युक्त शब्दों में मुख्यत: भोजपुरी, अवधी, छत्तीसगढ़ी, बुन्देली, तथा ब्रज के प्रयोग ही अधिक हैं। कहीं - कहीं पंजाबी, मारवाड़ी, तथा बांगरू के प्रयोग भी उल्लेखनीय हैं। भोरियां, आतियां - जातियां, भैंगा आदि में पंजाबी, बाणड़िया, दोस्तानी, धुआं, कट्टो, ठौंकरी, पोट्टो आदि में बांगरू तथा खड़ी बोली के प्रयोग देखे जा सकते हैं। ढोर, बाटनलागी, न्हाओ, ठाड़ो, दीन्हयो, का (क्या), कहूं, स्याने आदि में ब्रज तथा बुन्देली और छिपिकै, ललनवा, निपरापी, कौंधा आदि में अवधी के साथ ही उड़ना किया, पिलना किया, जरना, टेस, कौसवर, आदि में भोजपुरी के प्रयोगों को स्पष्ट पाया जा सकता है। इसके अतिरिक्त बोलियों के अनुरूप व्याकरण के अनेक अशुद्ध प्रयोग, जैसे -- काटना पड़ेगी, पड़की आदि भी इस कविता में दृष्टव्य हैं। ऐसे शब्दों से आलोचकगण चाहे कवियों की भाषा की शिथिलता का ही निर्देश करें किन्तु वास्तविकता यह है कि इस प्रकार के प्रयोग वर्तमान कवियों के लोक - प्रेम के प्रमाण हैं। इन शब्दों में लोक - जीवन की जो सरल और सहज अभिव्यक्ति हुई है, वह

अन्यत्र दुर्लभ है। हिन्दी के देशज या ध्वन्यात्मक शब्दों का सानी हिन्दी की साहित्यिक भाषा तो क्या संस्कृत जैसी महान भाषा में भी मिलना कठिन है। शिष्टजन भाषा को कितना भी स्तरीय क्यों न बना लें, किन्तु अनेक स्थितियों को चित्रित करने के लिये उन्हें सदैव ही लोक भाषाओं से ऐसे ध्वन्यात्मक शब्दों के लिये ऋणी रहना पड़ेगा। विलाप शब्द में वह बात नहीं है जो फफकने में है। इसी प्रकार कनखुनी या विवाद, व्यर्थ, तीव्र प्रकाश और मन्द प्रकाश आदि में वह चित्रात्मकता नहीं जो क्रमश: खाँता किचकिच, बकबक, अललप्प, चमचमाती, टिमटिमाती आदि शब्दों में है। यह प्रसन्नता का विषय है कि छायावादी कविता जहाँ अपनी वैचारिकता के कारण लोक-जीवन और लोक-भाषा दोनों से ही कट रही थी वहाँ, वर्तमान स्वातन्त्र्योत्तर नई कविता ने उसे पुन: दोनों से जोड़ दिया है।

__वाक्य-विन्यास__ — प्रस्तुत कविता में लोक-भाषा के शब्दों के प्रयोग की यह प्रवृत्ति इतनी बढ़ी है कि जहाँ अनेक कवियों ने अपने काव्य-ग्रन्थों के नाम लोक से ग्रहण किये हैं वहीं अपनी कविता में पूरी-की पूरी पदावली तक लोक-भाषा और लोक गीतों की उठा ली है। सर्वेश्वर दयाल सक्सेना के एक गीत में पूरी की पूरी एक पंक्ति भोजपुरी प्रदेश में प्रचलित एक लोक गीत की है। —

"" सुगाई मारो दुलहिन माराजाई कौआ। ""[१]

यह पंक्ति आज भी भोजपुरी प्रदेश में ज्यों की त्यों सुनने को मिल जाती है। सर्वेश्वर का ही एक और गीत " आँधी पानी आया "

---

१ सर्वेश्वर दयाल सक्सेना : काठ की घण्टियाँ : पृ० ४०२, भारतीय ज्ञान पीठ, काशी, प्रथम संस्करण, १९५९।

ब्रज प्रदेश में प्रचलित बच्चों के इस गीत की याद दिलाता है —

> "आँधी आई मेह आयो
> बड़ी बहू को पेट आयो"

उनके इस गीत में भी लोक - प्रचलित बालगीतों की पंक्तियाँ ज्यों की त्यों रख ली गई हैं। केवल भाषा में खड़ा पन ला दिया गया है —

> "बरसो राम धड़ाके से,
> दे - दे गाली, पाकड़ वाली
> बुढ़िया मर गई फाके से।"[1]

बीच की पंक्तियों को छोड़कर इस गीत की ऊपर - नीचे की दोनों पंक्तियाँ नीरज की भी एक कविता में ज्यों की त्यों प्रयुक्त की गई हैं। इतना ही नहीं और भी अनेक कविताएँ ऐसी हैं, जिनमें लोक-भाषा के इतने शब्दों का प्रयोग हुआ है कि यदि उनमें से कुछ साहित्यिक भाषा के प्रयोगों को हटा दिया जाय तो उनके लोक - गीत होने का भ्रम हो जाय। यहाँ एक उदाहरण द्रष्टव्य है —

> "खिल रही तरुणाई
> धूप फिरे मस्ताई
> गरम चाँदनी छाई
> उड़ी फाख्ता भाई
> किट्टट - चिर्रांकरांचा
> फड़ - उड़ फा - SSS।"[2]

---

१ सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, काठ की घण्टियाँ, पृ० ३५३ : भारतीय ज्ञान पीठ, काशी, प्रथम संस्करण, १९५९।

२ गिरिजा कुमार माथुर : शिलापंख चमकीले, पृ० ६८, साहित्य भवन प्रा० लि०, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, १९६१।

इसकी तुलना ब्रज प्रदेश में प्रचलित बच्चों की इस लोक कविता से कीजिए --

> " मूं - मूं के पाऊं के
> राजा जी को कोट गिरे
> नयो बने पुरानो गिरे
> ठुकरिया - ठुकरिया बासन कूसन हटा लीजो
> राजा जी की भीत गिरी
> अहहह धुं ऽ ऽ ऽ । "

इसी तरह की अनेक कविताएँ और भी देखी जा सकती हैं। भवानी प्रसाद मिश्र की " मंगल-वर्षा ", [1] सर्वेश्वर दयाल सक्सेना की " सावन का गीत ", [2] मदन वात्स्यायन की " दो विहाग " १ संयोग ", [3] शमशेर बहादुर सिंह की " निंदिया सतावे मोहे संझही से सजनी " [4] शीर्षक गीत इस दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त बच्चन, केदारनाथ सिंह, शम्भूनाथ सिंह, केदारनाथ अग्रवाल, नरेश मेहता आदि की अनेक कविताओं में भी इस प्रकार के प्रयोग देखे जा सकते हैं।

इतना ही नहीं, इन कवियों ने शब्दावली के साथ - साथ कथन की शैली भी लोक से ग्रहण की है। वीरेन्द्र कुमार जैन की निम्नलिखित पंक्तियों में से यदि " भी " के स्थान पर " ऊ " तथा " नहीं " के स्थान पर यदि " नाय " कर दिया जाय तो यह ब्रज प्रदेश की किसी भी बुढ़िया

---

१ भवानी प्रसाद मिश्र, दूसरा सप्तक, पृ० १७, प्रगति प्रकाशन, प्रथम संस्करण, १९५१ ।

२ सर्वेश्वर दयाल सक्सेना : काठ की घण्टियाँ, पृ० ३४८, भारतीय ज्ञानपीठ काशी, प्रथम संस्करण, १९५९ ।

३ मदन वात्स्यायन : तीसरा सप्तक, पृ० ८८, भारतीय ज्ञान-पीठ, काशी, तृतीय संस्करण, १९६७ ।

४ शमशेर बहादुर सिंह : कुछ और कविताएँ, पृ० ८१, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९६१ ।

के क्रोध में किसी को कोसने का सुन्दर उदाहरण हो सकता है :——

"अरे कोई गिद्ध भी नहीं, चमगादड़ भी नहीं,
उल्लू भी नहीं, प्रेत भी नहीं
आता है पास तुम्हारे ।
तो कोई पिशाच ही सही, शैतान ही सही
टूट कर आये तुम पर –
और तुम्हें कँपा जाये, हिला जाये ।"[1]

इतना ही नहीं इसमें सर्वाधिक महत्वपूर्ण बात, कथन की भंगिमा और शब्दों के प्रयोग की है। गिद्ध, चमगादड़, उल्लू, प्रेत, पिशाच और शैतान जैसी आसुरी और भयानक शक्तियों का क्रम से उल्लेख करने के उपरान्त केवल इतना कहना कि — "टूट कर आये तुम पर —
और तुम्हें कँपा जाये, हिला जाये ।"
उसके क्रोध और साथ ही सरलपन या सीधेपन को अभिव्यक्त करता है। "जैसी मुझ पर बीती वैसी किसी पर न बीते" की भावना रखने वाला लोक-जन इतनी बड़ी शक्तियों का आह्वान तो करता है किन्तु केवल "कँपा देने, हिला देने" के लिये, मार देने के लिये नहीं। हृदय के मूल में बैठा हुआ यह लोक-मंगल का संस्कार कवि ने लोक-जीवन से ही ग्रहण किया है। वास्तव में इसकी अभिव्यक्ति लोक-जन की कथन-भंगिमा में ही होनी सम्भव भी थी।

वास्तविकता यह है कि जिनके ज्ञान का आधार पोथियाँ नहीं है, उनके कथन बड़े विस्तृत होते हैं। एक शब्द में कही जा सकने वाली बात के

---

१ वीरेन्द्र कुमार जैन : शून्य पुरुष और वस्तुएँ, पृ० ३४, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, अक्टूबर, १९७२।

लिये वे अनेक शब्दों का प्रयोग करते हैं। शिष्टजनों जैसा भाषा का सूक्ष्म और नपा-तुला प्रयोग उनमें नहीं होता। वे अर्थ के पीछे छिपे विचार को नहीं भाव को प्रकट करते हैं, जो बहुत सरल वस्तु है। शम्भूनाथ सिंह के "टेर रही प्रिया, तुम कहाँ" गीत की इन पंक्तियों में --

"" किसके ये काँटे हैं
किसके ये पात रे ?
बेरी के काँटे हैं
केले के पात रे। ""[१]

कवि द्वारा पहले प्रश्न करना और स्वतः ही उसका उत्तर देना लोक - प्रवृत्ति का ही परिणाम है। ब्रज प्रदेश में प्रचलित निम्नलिखित लोक-गीत से इस प्रवृत्ति की तुलना कीजिये --

"" काहे की पट गेंद बनाई ?
काहे को बल्ला लायो री ?
फूलन की पट गेंद बनाई
चन्दन को बल्ला लायो री। ""

कथन भंगिमा के इन लोकगत प्रयोगों की प्रवृत्ति भी सर्वेश्वर, अज्ञेय, केदारनाथ सिंह, गिरिजा कुमार माथुर, शकुन्त माथुर, मदन वात्स्यायन तथा भवानी प्रसाद मिश्र आदि की कविताओं में सर्वाधिक मिलती है। इनकी क्रमशः "काठ की घण्टियाँ", "बावरा अहेरी", "इन्द्र धनु रौंदे हुए ये", "अभी बिल्कुल अभी", "धूप के धान", चाँदनी चूनर", "गाँधी पंचशती" आदि पुस्तकें इस दृष्टि से अधिक उल्लेखनीय हैं।

---

१ शम्भूनाथ सिंह : माँ की नीड़ बाँसुरी, पृ० ३५, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, १९५६।

<u>लोकोक्ति तथा मुहावरे</u> — उपर्युक्त कथन - भंगिमा में ही लोकोक्ति तथा मुहावरे आ जाते हैं। कविता में व्यंजकता और लाक्षणिकता लाने के लिये, साथ ही उसे संप्रेषणीय भी बनाए रखने के लिये इनका प्रयोग कविता में अनिवार्य सा हो जाता है।

पापड़ बेलना,[1] आग भड़कने पर रोटियाँ सेंकना,[2] धोबिया का पाट बनना,[3] गाँठ खुलना,[4] तिलका ताड़ बनना,[5] फूँक सी मारदेना,[6] अलादीनका जादू,[7] कानों में छानना,[8] उल्लू में उल्लू होना,[9] पाँवों का पंख होना,[10] दूध का जला,[11] आफत की पुड़िया,[12] छप्पर फाड़ कर

---

१ शकुन्त माथुर : चाँदनी चूनर, पृ० १४, साहित्य भवन प्रा० लि०, इलाहाबाद - ३, प्रथम संस्करण, १९६० ।

२ भवानी प्रसाद मिश्र : गाँधी पंचशती, पृ० १७६, सरल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९६९ ।

३ मदन वात्स्यायन : तीसरा सप्तक, पृ० ९०, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, तृतीय संस्करण, १९६७ ।

४ सर्वेश्वर दयाल सक्सेना : पाँच जोड़ बाँसुरी, पृ० ७०, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, १९६६ ।

५ माखन लाल चतुर्वेदी : बीजुरी काजल आँज रही, पृ० ९१, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, १९६४ ।

६ भवानी प्रसाद मिश्र : जली हुई रस्सी, पृ० २५, सरल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७१ ।

७ प्रणवकुमार बंद्योपाध्याय : कुमारिकाओं के लिए प्रार्थना, पृ० ८, पाण्डुलिपि प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७३ ।

८ माखनलाल चतुर्वेदी : बीजुरी काजल आँज रही : पृ० ४२, भारतीय ज्ञान-पीठ, काशी, प्रथम संस्करण, १९६४ ।

९ रघुवीर सहाय : सीढ़ियों पर धूप में, पृ० १४०, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, १९६० ।

१० रमेश रंजक : हरापन नहीं टूटेगा, पृ० ३०, अक्षर प्रकाशन प्रा० लि०, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७४ ।

११ उमाकान्त मालवीय : मेंहदी और महावर, पृ० ७८, साहित्य भवन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, १९६३ ।

१२ गोपालप्रसाद व्यास : [illegible], पृ० ३६, नै० प० ब्लि० हा० दिल्ली, प्र० सं०, १९६८।

देना,[1] जादू की पुड़िया,[2] पाँचों घी में होना,[3] फूलों का डेरा,[4] गाँठ बाँधना,[5] सौगन्ध खाना,[6] आदि मुहावरों का प्रयोग भी इन कविताओं में हुआ है।

मुहावरों का यह प्रयोग कहीं ज्यों का त्यों तो कहीं तोड़-मरोड़ कर अपने ढंग से किया गया है। कहीं-कहीं किसी लोकोक्ति को भी तोड़कर ग्रहण कर लिया है। जैसे "दूध का जला छाछ फूँक-फूँक कर पीता है"। इसको तोड़ कर कहीं तो — "दूध का जला हूँ छाछ बनी शबनम"[7] कर लिया गया है, और कहीं —

"मेरी भी सुनो भला
मैं भी दूध का जला
इनकी ज्योति ने छला
मट्ठे को फूँक-फूँक पीता हूँ।"[8]

---

१ अज्ञेय : अरी ओ करुणा प्रभामय: पृ० १५६, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, १९५९ ।

२ गिरिधर गोपाल : पाँच जोड़ बाँसुरी, पृ० ७८, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, १९५९ ।

३ भवानी प्रसाद मिश्र : बुनी हुई रस्सी, पृ० ११५, सरला प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७१ ।

४ जगदीश गुप्त : शब्द दंश, पृ० १३, भारती भंडार, प्रयाग, प्रथम संस्करण, सं० २०१६ ।

५ कुँवर नारायण : दूसरा सप्तक, पृ० १५४, प्रगति प्रकाशन, प्रथम संस्करण, १९५१ ।

६ भवानी प्रसाद मिश्र : गाँधी पंचशती, पृ० १६८, सरला प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९६९ ।

७ उमाकान्त मालवीय : मेंहदी और महावर, पृ० ७८, साहित्य भवन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, १९६३ ।

८ जगदीश गुप्त : शब्द दंश, पृ० १३, भारती भंडार, प्रयाग, सं० २०१६ ।

कर दिया गया है। इसमें ऊपर की पंक्तियों में मुहावरे को तोड़ कर आधा लिखा गया है। और बाद की पंक्तियों में मुहावरा तो पूरा है किन्तु उसे कवि ने अपने ढंग से प्रयोग किया है। साथ ही — "दूधों न्हाओ, पूतों फलो"[१] जैसी लोकोक्तियों को भी इन कवियों ने ज्यों का त्यों प्रयुक्त किया है। इसके अतिरिक्त "दो मुट्ठी धान के लिये मल्हारों का गान;"[२] "सांच को आंच नहीं"[३]; "प्यादे से फरजी भयो, टेढ़ो - टेढ़ो जाय;"[४] "मन चंगा तो कठौती में गंगा,"[५] "पूत सपूत तो क्यों धन संचै, पूत कपूत तो क्यों धन संचै,"[६] "जैसी करनी वैसी भरनी",[७] "न नौ मन तेल हो न राधा नाचे,"[८] "नीम हकीम खतर-ए-जान, नीम मुल्ला खतर-ए-ईमान;"[९] "डूब - डूब सो मरे

---

१ माखन लाल चतुर्वेदी : बीजुरी काजल आँज रही, पृ० १०५, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, १९६४।

२ अज्ञेय : अरी ओ करुणा प्रभामय : पृ० ४१, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, १९५९।

३ रघुवीर सहाय : सीढ़ियों पर धूप में : पृ० ११४, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, १९६०।

४ कैलाश वाजपेयी : तीसरा अँधेरा, पृ० ६५, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७२।

५ [illegible] : कविताएँ १९६४, पृ० ३२, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९६६।

६ बच्चन : कटती प्रतिमाओं की आवाज़, पृ० ४५, राजपाल एण्ड संस, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९६७।

७ भवानी प्रसाद मिश्र, गांधी पंचशती, पृ० १३७, सरला प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९६९।

८ भवानी प्रसाद मिश्र, अंधेरी कविताएँ, पृ० ४५, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, १९६८।

९ रघुवीर सहाय : सीढ़ियों पर धूप में, पृ० १५२, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, १९६०।

सरोवर "[1] जैसी लोकोक्तियाँ भी इस कविता में प्रयुक्त हुई हैं। ये लोकोक्तियाँ लोक के अपने व्यावहारिक अनुभव का ही परिणाम हैं। काव्य में इनका प्रयोग कवि और कविता की लोकोन्मुखी प्रवृत्ति को ही प्रकट नहीं करता अपितु अनादिकाल से संचित जीवन के सत्यों को भी अभिव्यक्त करता है।

मुहावरे और लोकोक्तियों के ये प्रयोग मुख्यतः अज्ञेय, रघुवीर सहाय, भवानी प्रसाद मिश्र, माखन लाल चतुर्वेदी आदि कवियों की कविताओं में अधिक हुए हैं। शेष कवियों ने भी यदा-कदा अनेक लोकोक्तियों तथा मुहावरों का प्रयोग किया है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि भाषा की दृष्टि से वर्तमान हिन्दी कविता लोक-भाषा के शब्दों का प्रयोग करके लोक-जीवन के अधिक निकट आगई है। कविता में इस प्रवृत्ति का सर्वाधिक शुभ परिणाम यह निकला है कि कविता, जो छायावादी युग से उत्तरोत्तर क्लिष्ट होती जारही थी, वह भाषा के स्तर पर आकर सरल हुई है। " प्रयोगवाद " और " नई कविता " पर यह जो आरोप लगाया जाता है कि उसमें साधारणीकरण नहीं हो पाता, केवल उन्हीं कविताओं पर लगाया जा सकता है, जिनके कवियों ने या तो लोक से अपने को मुक्त रखा है अथवा उन्हें लोक-शब्दों की सही पहचान नहीं रही है। वस्तुतः "" नयी कविता लिखना " और " नयी कविता के स्टाइल में लिखना " सर्वथा भिन्न बात है। ""[2]

---

१ भवानी प्रसाद मिश्र : गांधी पंचशती, पृ० १३३, सरला प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९६९।

२ जगदीश गुप्त : नयी कविता: स्वरूप और समस्याएँ, पृ० १०९, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, १९६९।

अन्यथा "नई कविता" में पूर्ण साधारणीकरण की संभावना[1] निहित है।
"नयी कविता का क्षेत्र जितना व्यापक और उर्वर होता जा रहा है उतनी ही मात्रा में उसका कृतित्व भी गरिमापूर्ण और लोक ग्राह्य एवं मान्य होता[1] जा रहा है। वर्तमान कवि गूढ़तम भावनाओं के लिये लोक-भाषा के स्थूल बिम्बों को प्रस्तुत करने वाले शब्दों को लेकर अपनी बात को लोक-ग्राह्य बना रहा है। वीरेन्द्र कुमार जैन की "आधुनिक जन एकाकीपन" शीर्षक कविता की जो पंक्तियाँ हमने पीछे उद्धृत की है, वे इसका प्रमाण हैं। आज का कवि अपने लिये उपमान और बिम्ब लोक-जीवन से ही ग्रहण करता है तथा कहीं-कहीं लोक-जीवन की सीधी-सीधी अभिव्यक्ति भी उसने की है। इसके लिये चाहे उसे अपनी कविता को लोक-गीतों के कितने ही निकट क्यों न ले जाना पड़ा हो।

यह भाषा ही नहीं विषय-वस्तु, बिम्ब, उपमान, छन्द, लय आदि सभी कुछ एक बहुत बड़े परिमाण में लोक-साहित्य से ग्रहण कर रहा है। जिससे उसकी कविता लोक-ग्राह्य होती जा रही है।

<u>छन्द और लय</u> - काव्य का छन्द और लय से बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध है। छन्द और लय में मुख्य रूप से लय से इसका सम्बन्ध एकत्व या अद्वैत के स्तर तक घनिष्ठ है। मूलतः लय का सम्बन्ध संगीत से है किन्तु काव्य से भी इसका एकत्व का सम्बन्ध है। वस्तुतः "लय" शब्द या नाद में होती है तथा जहाँ संगीत नाद या शब्द पर आधारित है,

---

1 जगदीश गुप्त : नयी कविता : स्वरूप और समस्याएं, पृ० २०५
भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, १९६९।

यहाँ कविता भी शब्द ही है — "" शब्दार्थौ सहितौ काव्यम् "" अथवा "" रमणीयार्थ : प्रतिपादक : शब्द : काव्यम् "" । अतः कविता " लय " से प्रयुक्त नहीं है । जहाँ तक छन्द का प्रश्न है "" छन्द वास्तव में तो पूर्ण लय के भिन्न - भिन्न ढाँचों का योग है जो निर्दिष्ट लम्बाई का होता है । "" "" छन्द के प्रत्येक पाद की गति लय सम्बन्धित मानी गयी है, यथा — " पादन्यासो लयानुगत : [1] "" । इससे स्पष्ट है कि कविता का सम्बन्ध छन्द के माध्यम से अन्ततः लय के साथ ही है । कहना न होगा कि " लय " काव्य का अनिवार्य तत्व है ।

"" संगीत शास्त्र में " लय " के तीन भेद मिलते हैं —— १- द्रुत, २- मध्यम, ३- विलम्बित । "" [2] साथ ही आरोह तथा अवरोह भी " लय " की दो स्थितियाँ, संगीतशास्त्र में बताई गई हैं । लय के ये तीन भेद यह इंगित करते हैं कि संगीत में " लय " काल सापेक्ष है । क्योंकि "" लय का स्वरूप तत्वतः : आनुपातिक है । "" [3] इस प्रकार लय की व्याप्ति काल में होती है । उसका द्रुत होना या विलम्बित होना काल की गणना के द्वारा ही जाना जा सकता है। " लय " की यह काल सापेक्ष विभिन्न सम्भावनाओं से विविध क्रियाओं के समान ही मनुष्य का रागात्मक संबंध जुड़ा रहता है । इसीलिये अनेक गुणों के साथ "" उसका एक और उल्लेखनीय गुण है, अपने अधिक संपर्क से भावनाओं को उद्दीप्त

---

१ डा० जगदीश गुप्त : हिन्दी साहित्यकोश, भाग-१, पृ० ७४८, ज्ञान मण्डल लिमिटेड, वाराणसी, द्वितीय संस्करण : सं० २०२० वि०।

२ -वही- पृ० ७४९ ।

३ -वही- पृ० ७४९ ।

करने की क्षमता । " भारतीय कविता इसीलिये सदैव छन्दों का सहारा लेती रही है क्योंकि अलग - अलग छन्दों में लय की विभिन्न सम्भावनायें रहती हैं । और उनके द्वारा कवि किसी विशिष्ट भाव को उद्दीप्त करने में सहायता ले सकता है । इस प्रकार कविता में " लय " रस निष्पत्ति के लिये एक अतिरिक्त सहायक की भूमिका का भी निर्वाह कर सकती है । अतः प्राचीन आचार्यों ने " लय के भिन्न-भिन्न ढाँचों " " (छन्दों) का निर्माण करके यहाँ तक बता दिया कि अमुक भाव के लिये अमुक छन्द ही अधिक उपयुक्त है और इस प्रकार कवि बिना लय के ज्ञान के भी विभिन्न छन्दों के द्वारा विशिष्ट भावों को उद्दीप्त कर लेता है । आज कल छन्दों के भेद या लय की विभिन्न सम्भावनायें इतनी बढ़ गई हैं कि कवि के लिये, किस भाव को उद्दीप्त करने के लिये कौन छन्द उपयुक्त है, यह याद रखना कठिन हो गया है । अतः वह कभी छन्द को छोड़कर संगीत, कभी लोक - छन्द, कभी मुक्तछन्द आदि की खोज करने लगा है । भक्ति काल का कवि जहाँ संगीत की ओर अधिक झुका था वहाँ आधुनिक कवि " मुक्त छन्द " लिखने लगा है । किन्तु लोक-छन्द या लोक-धुनों का निर्वाह कवि ने तब भी किया था और अब भी कर रहा है । क्योंकि जब तक नये छन्दों का निर्माण हिन्दी में उतने बड़े स्तर पर नहीं हो जाता जितने पर कि संस्कृत में हो गया था । तब तक हिन्दी कवि को लोक-धुन या लोक छन्दों का ही सहारा लेना पड़ेगा । उसका कारण यह है कि संगीत के निकट जाकर कविता के स्वरूप की विकृति का भय रहता है, तथा मुक्तछन्द कविता के संस्कारी पाठक के गले से नहीं उतरता और नहीं उसके साथ अभी तक उसका रागात्मक संबंध ही स्थापित हो सका है । अतः कविता में छन्द के स्थान पर लय को विशिष्ट स्थान मिलने लगा है और छन्दों की पूर्ति लोक - धुनों या लोक छन्दों को ग्रहण

करके की जा रही है । यही बात कविता के बिम्ब और उपमानों पर भी लागू होती है । आधुनिक युग में यह प्रवृत्ति स्वच्छन्दता के बाद से अधिक बढ़ी है । क्योंकि यही वह युग है जब कि प्राचीन " लय समन्वितियाँ " के साथ हमारे रागात्मक संबंधों का ह्रास हुआ है तथा कोई नवीन लय-समन्वितियाँ अभी तक पाठक के हृदय में वह स्थान ग्रहण नहीं कर सकीं" जो कि प्राचीन लय समन्वितियों ने किया था ।

आज का कवि इतना जागरूक है कि वह अन्वय की समन्विति के किसी भी अवसर को अपने हाथ से जाने नहीं देना चाहता । अतः उसके पास इस अवसर को बनाए रखने का एक ही साधन रह जाता है -- लोक-छन्द या लोक-धुन, अथवा लोक-गीतों की लय । उसको इस साधन से दो लाभ हुए हैं -- एक ओर तो पाठकों का वह वर्ग जो जन सामान्य कहा जाता है भी उसकी कविता का आनन्द ले सकता है तथा दूसरी ओर वह शहरी प्रबुद्ध पाठक जो पाश्चात्य रंग में इतना रंगा है कि प्राचीन लय समन्वितियों के साथ - साथ लोक की लय समन्वितियों से भी कट चुका है, कुछ नावीन्य का अनुभव करके अनुरंजित हो लेता है ।

वर्तमान कविता में यह प्रवृत्ति इतनी बढ़ी कि कवियों ने न केवल लोक - धुनों का अनुकरण ही किया, अपितु उन्हें ज्यों का त्यों ग्रहण भी कर लिया । कहीं - कहीं तो पूरी पदावली ही लोक-गीतों से ले ली गई है ।

सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, मदनवात्स्यायन, भवानी प्रसाद मिश्र, नरेश मेहता, गिरिजाकुमार माथुर, केदारनाथ सिंह, बच्चन, केदारनाथ अग्रवाल, रामदरश मिश्र, शम्भुनाथ सिंह आदि कवियों ने लोक-गीतों के सुन्दर प्रयोग किये हैं । शम्भुनाथ सिंह ने सन्थाली लोक-गीतों की लय-भूमि पर अनेक गीत रचे हैं । बुन्देली लोक - गीतों की लय पर केदारनाथ अग्रवाल

ने अनेक सफल प्रयोग किये हैं। उनके "हवा हूँ हवा मैं बसन्ती हवा हूँ," [1] "तूफान," [2] तथा "धीरे उठाओ मेरी पालकी मैं हूँ सुहागिन गोपाल की" [3] आदि गीत इसी दिशा में सफल प्रयोग हैं। उनका एक गीत यहाँ द्रष्टव्य है -

"मांझी न बजाओ बंशी -
मेरा मन डोलता।
मेरा मन डोलता है जैसे जल डोलता
जल का जहाज जैसे -
पल - पल डोलता
मांझी न बजाओ बंशी मेरा मन डोलता।" [4]

नरेश मेहता का "पीले फूल कनेर के" [5] गीत भी लोक - गीतों की लय - ध्वनि पर ही लिखा गया है। इस गीत में पदों की आवृत्ति भी लोक - गीतों की ही भांति हुई है। जैसे -

"इस फागुन बेला में तूने
चौमासा क्यों किया पिया ?
क्यों किया पिया ?"

---

१ केदारनाथ अग्रवाल, फूल नहीं रंग बोलते हैं : पृ० ७, परिमल प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, अक्टूबर १९६५ ।

२ केदारनाथ अग्रवाल : सांप्रतिकी, पृ० २८-२९, बिहार ग्रन्थ कुटीर, पटना - ४, प्रथम संस्करण, १९६४ ।

३ केदारनाथ अग्रवाल : पांच जोड़ बांसुरी : पृ० ६६, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, १९६९ ।

४ -वही - पृ० ३० ।

५ नरेश मेहता : सांप्रतिकी, पृ० १०६, बिहार ग्रन्थ कुटीर, पटना -४, प्रथम संस्करण, १९६४ ।

प्रश्न की इस आवृत्ति में नायिका के मचल उठने की व्यंजना सहज ही हो उठी है। साथ ही शब्द भी इस गीत में लोक - भाषा के अनुरूप ही ढाल दिये गए हैं। इस दिशा में रामदरश मिश्र का "रात - रात भर मोरा पिहके बैरिन नींद न आए," [1] शम्भुनाथ सिंह का "टेर रही प्रिया तुम कहाँ" [2] आदि गीत भी विशेष उल्लेखनीय हैं। भवानी प्रसाद मिश्र का "पोके फूटे आज प्यार के पानी बरसा री," [3] तथा केदारनाथ सिंह के "रात पिया पिछवारे पहरू ठनका किया," [4] "टहनी के टूटे पत्ता गये" [5] तथा "आना जी बादल जरूर" [6] आदि गीत तो शुद्ध लोक गीतों की भावभूमि पर ही लिखे गए हैं। लोक गीतों जैसी सहजता ही इन गीतों की सबसे बड़ी विशेषता है। इसी प्रकार गिरिजा कुमार माथुर की "चाँदनी गरबा" [7] तथा "बसन्त : एक प्रगीत स्थिति" [8] शीर्षक कविताओं के छन्द भी लोक - गीतों पर ही आधारित हैं। इनके पहले गीत में जहाँ "मोटर" लोक छन्द से ग्रहण किया गया है, वहाँ दूसरे गीत में लोक - गीतों की ही भाँति टेक के पश्चात् दोनों

---

१ रामदरश मिश्र : पाँच जोड़ बाँसुरी, पृ० ६६, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, १९६९।

२ शम्भुनाथ सिंह : सांप्रतिकी, पृ० ५७, बिहार ग्रन्थ कुटीर, पटना-४, प्रथम संस्करण, १९६४।

३ भवानी प्रसाद मिश्र : दूसरा सप्तक, पृ० १७, प्रगति प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९५१।

४ केदार नाथ सिंह : तीसरा सप्तक, पृ० १२९, भारतीय ज्ञान पीठ, काशी, तृतीय संस्करण, १९६७।

५ -वही- पृ० १२७।

६ -वही - पृ० १२७।

७ गिरिजा कुमार माथुर, धूप के धान, पृ० ६७, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, तृतीय संस्करण, १९६६।

८ गिरिजा कुमार माथुर : शिला पंख चमकीले, पृ० ५३, साहित्य भवन प्रा० लि०, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, १९६१।

की परम्परा का अनुसरण किया गया है -

"" फूल रसके भरे ।
फूल रस के भरे ।।
देह कुसुमित मृणाल
जैसे गेहूँ की बाल
जैसे उमगे हैं बौरों से
रौंमिल रसाल ""

बच्चन के गीतों में लोक - गीतों की धुनें भी ज्यों की त्यों लेली गई हैं। वास्तव में कवि सम्मेलन में लोक - गीतों की धुन पर गाए गए उनके गीत एक समा बाँध देते हैं। उनका निम्नलिखित गीत, विवाह के अवसर पर गाई जाने वाली गालियों की धुन पर, लिखा गया है —

"" महुआ के नीचे मोती झरे
महुआ के
घड़ियाँ सुबरन
दुनियाँ महुवन
उसको पियको न पिया निहारे ।
महुआ के नीचे मोती झरे
महुआ के ""[1]

बच्चन की ही "" कवित्व बड़का भैया "" शीर्षक कविता भी आल्हा की ताल पर लिखी गई है।[2]

---

१ बच्चन : पाँच जोड़ बाँसुरी, पृ० १९, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, १९६६ ।
२ बच्चन : कटती प्रतिमाओं की आवाज़, पृ० १०४-१०५, राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९६८ ।

इसके अतिरिक्त मदन वात्स्यायन तथा सर्वेश्वर दयाल सक्सेना ने तो लोक - गीतों की धुनें ही नहीं पदावलि तक ज्यों की त्यों रखी है। मदन वात्स्यायन के इस गीत ---

"" गोरी मोरी गेहुँअन साँप मुरधर रे
गोरी मोरी गेहुँअन साँप ।
फागुन के गुलाबी महिने गैयापर आई जैसी चाँद
लहरे गात गात मन लहरे गोरी मोरी गेहुँन साँप । "" [1]

तथा ---

"" बुन की चाँद ये आई, आई गोरी रे याद तेरी । "" [2]

एवं सर्वेश्वर दयाल सक्सेना के ---

"" जमाई मारी दुलहिन मारा चाई कौआ "" [3]

आदि गीतों की टेक प्राय: भोजपुरी लोक-गीतों की यथावत् नकल है।

जिस प्रकार लोक गीतों में " रे " लगाने की परम्परा है उसी प्रकार इन गीतों में भी " रे ", " री " आदि का बहुतायत से प्रयोग हुआ है। मदन वात्स्यायन के पहले गीत की ही भाँति, सर्वेश्वर के इस गीत में भी एक " रे " का प्रयोग द्रष्टव्य है, जो इस गीत को लोकगीतों के और भी निकट ले जाता है ---

---

१ मदन वात्स्यायन : तीसरा सप्तक, पृ० ८८, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, तृतीय संस्करण, १९६७ ।

२ -वही - पृ० ८८ ।

३ सर्वेश्वर दयाल सक्सेना : काठ की घण्टियाँ, पृ० ४०२, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, १९५९ ।

"नीम की निबौली पकी
सावन की रुत आई रे ।
सर सर सर सर बहत बयरिया
उड़ि - उड़ि जात चुनरिया रे" [१]

लोकगीतों में टेक को गीत के प्रारम्भ में ही कभी - कभी दोहराया जाता है और इस दोहराव में टेक के पद को विभक्त करके एक बार सीधा तथा एक बार उल्टा पढ़ा जाता है । शमशेर बहादुर सिंह के इस गीत में यह प्रवृत्ति दृष्टव्य है —

" निंदिया सतावे मोहे सँझा ही से सजनी ।
सँझा ही से सजनी ।
निंदिया सतावे मोहे ।
प्रेम कहानी
तनक हू न भावे
साँझ ही से सजनी
निंदिया सतावे —— ।" [२]

वास्तव में कविता के लिये यह घटना कोई नई घटना नहीं है । इससे पहले भी लोक - गीतों का आश्रय कविता समय - समय पर लेती रही है । भारतीय हिन्दी साहित्य में भारतेन्दु युग में लावनी, छायावाद युग में

---

१ सर्वेश्वर दयाल सक्सेना : काठ की घण्टियाँ, पृ० ३४८, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, १९५९ ।

२ शमशेर बहादुर सिंह : कुछ और कविताएँ, पृ० ४१, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९६१ ।

आल्हा आदि छन्दों का प्रचलन रह चुका है। गीत के क्षेत्र में यह प्रयोग निराला ने सब से पहले प्रारम्भ किया था। वर्तमान हिन्दी कविता इसी प्रयोग का सुफल है।

बिम्ब और कल्पना -- विद्वानों ने काव्य में कल्पना पर बहुत बल दिया है तथा इसे काव्य का एक महत्वपूर्ण तत्व माना है। वास्तव में कल्पना ही वह शक्ति है जो कवि की अनुभूति या विचारणा को एक ठोस रूप प्रदान करती है तथा जिससे पाठक या श्रोता को काव्य का आनन्द प्राप्त होता है। कालरिज अपनी "बायोग्राफिया लिटरेरिया" में कवि की इस कल्पना-शक्ति के दो व्यापार मानता है -- १- ऐक्टिव, २- पैसिव।[१]

इस प्रकार कल्पना वह शक्ति है जो वस्तु को विचारों में और विचारों को पुन: वस्तु में परिवर्तित करती है। "वर्ड्सवर्थ" महोदय इनमें से पहली को "फैन्सी" तथा दूसरी को "इमेजीनेशन" कहते हैं।[२]

---

1. R.L. Brett : Quoted in Fancy and imagination, Ch. II, p. 45, Methuen & Co., Ltd. 11, New Fetter Lane, London, Ec. 4, 1973.

2. "Fancy, as she is an active, is also, under her own laws and in her own spirit, a creative faculty. In what manner Fancy ambitiously aims at a revalship with imagination, and imagination stoops to work with the materials of fancy, might be illustrated from the compositions of all eloquent writers, whether in prose or verse; and chiefly from those of our own country."

   Ibid. p. 49.

इसमें पहले प्रकार की कल्पना सामान्यत: सभी में होती है तथा दूसरे प्रकार की कल्पना केवल कवि में। इन्हीं को भारतीय आचार्यों ने क्रमश: भावयत्री और कारयत्री प्रतिभा कहा है। पहले प्रकार की कल्पना में जिस वस्तु का उपयोग होता है वह प्रत्यक्ष जगत की वस्तु "प्रस्तुत" होती है तथा दूसरे प्रकार की कल्पना में जिस वस्तु का प्रयोग होता है, वह मनोजगत से प्रहीत होती है अतः "अप्रस्तुत" होती है। इनमें से प्रस्तुत का अध्ययन विषयवस्तु तथा अप्रस्तुत का अध्ययन शिल्प के अन्तर्गत होना चाहिये। रैनेवैलेक तथा ऑस्टिन वारेन महोदय इन दोनों को "अर्थ" तथा "वाहन" कहते हैं।[१] इनमें से पहली कल्पना के द्वारा जो बिम्ब बनता है वह प्राय: वस्तु का यथातथ्य अंकन होता है तथा दूसरे प्रकार का बिम्ब वस्तु का अन्य के माध्यम से कथा प्रधान होता है। यह दूसरे प्रकार की अप्रस्तुत वस्तु जो मनोजगत से ग्रहण की जाती है, प्राय: तीन रूपों में प्राप्त होती है —— उपमान, प्रतीक तथा मिथ। किन्तु तीनों ही रूपों में यह कवि की कल्पना शक्ति के द्वारा बिम्ब-विधान करने में सक्षम है। यहाँ [ ]र्य महोदय कौन्सी द्वारा प्रस्तुत किये गये जिन उपकरणों की कल्पना के सन्दर्भ में चर्चा करते हैं, वे उपकरण यही तीन हैं जिन्हें रैनेवैलेक तथा ऑस्टिन वारेन महोदय ने क्रमश: रूपक, प्रतीक और मिथ नाम दिया है। हमने यहाँ "रूपक" के स्थान पर "उपमान" का प्रयोग इसलिये किया है कि भारतवर्ष में रूपक मात्र एक अलंकार है जबकि योरोप में रैनेवैलेक और ऑस्टिन वारेन महोदय ने रूपक के अन्तर्गत समस्त अलंकरण (फिगरेशन) या अलंकार शास्त्र (ट्रापालोजी) को समाहित

---

१ ऑस्टिन वारेन एण्ड रैनेवैलेक : साहित्य - सिद्धान्त, पृ० २७०, खण्ड-४, अ० १५, अनु० बी० एस० पालीवाल, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद।

कर लिया है। भारत में उपमान शब्द समस्त अलंकरण के लिये प्रयुक्त होने वाली " अप्रस्तुत " वस्तुओं के लिये प्रयुक्त होता रहा है अतः इसको " उपमान " शब्द " रूपक " के स्थान पर अधिक सार्थक लगता है।

जो भी हो उपमान, प्रतीक तथा बिम्ब -- कल्पना के इन तीनों उपादानों में मात्र स्थितियों का ही अन्तर है जैसा कि ऑस्टिन वारेन तथा रेनेवैलेक द्वारा उद्धृत " कालरिज " के उद्धरण से ध्वनित होता है -- "" कोई " बिम्ब " एक बार रूपक के रूप में प्रकट हो सकता है, परन्तु जब यह बिम्ब बार-बार प्रस्तुत और अप्रस्तुत रूप में दुहराया जायेगा तो यह प्रतीक बन जायेगा। यहाँ तक कि यह एक प्रतीकात्मक (या मिथक) तन्त्र का अंग तक बन सकता है।[१]

स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कविता में इन तीनों की क्या स्थिति रही है, यह देखने से पहले हमें यह जान लेना आवश्यक है कि हमारे मनोजगत् में निवास करने वाले ये " अप्रस्तुत " मूलतः इस भौतिक या प्रत्यक्ष जगत से ही एकत्रित किये जाते हैं। अतः किसी कविता में इनके प्रयोग से कवि की वास्तविक रुचि का भी पता लगाया जा सकता है। वह प्रत्यक्ष जगत् से एकत्र किये गए इन अप्रस्तुतों में से जिस क्षेत्र के उपमानों का प्रयोग अधिक करता है, निश्चय ही उस क्षेत्र के प्रति कवि की रुचि अधिक होगी। यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि कविता को कवि से पृथक नहीं आँका जा सकता।

---

१ ऑस्टिन वारेन एवं रेनेवैलेक : साहित्य - सिद्धान्त, पृ० २४८, खण्ड - ४, अ० १५, अनु० बी० एस० पालीवाल, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद।

कवि का रुझान जिधर होगा कविता का भी रुझान उधर ही होगा क्योंकि "" कवयतीति कवि : तस्य कर्म काव्यम् "" — विद्याधर ।

वर्तमान हिन्दी कविता में जिन उपमान और प्रतीकों का प्रयोग हो रहा है वे अधिकांशत: मनोजगत में पड़े लोक-जीवन के क्षेत्र से ही ग्रहण किये जारहे हैं । और जहाँ तक "मिथ" का प्रश्न है उसका तो सम्बन्ध ही लोक - जीवन से है ।

(क) <u>उपमान</u> – "उपमान" शब्द यों तो भारतीय आचार्यों ने उपमा के एक अंग के लिये ही प्रयुक्त किया है तथा इसमें सादृश्य तथा औपम्य का भाव निहित माना है । किन्तु आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इसके स्थान पर "अप्रस्तुत योजना" शब्द का प्रयोग किया है । विद्वानों का मत है कि "उपमान" की अपेक्षा "अप्रस्तुत योजना" शब्द अधिक व्यापक है । "रामदहिन मिश्र के शब्दों में "अप्रस्तुत योजना" बाहर से लायी जाने वाली सारी वस्तुओं को ग्रहण करती है, चाहे अप्रस्तुत का कैसा ही रूप क्यों न हो । अप्रस्तुत विशेष्य हो, विशेषण हो, क्रिया हो, मुहावरा हो, चाहे कुछ हो —— इसके भीतर सब समा जाते हैं ।"[१] किन्तु रीतिकालीन आचार्य कुलपति मिश्र ने "उपमान" को "अलंकार का प्राण" माना है । वास्तविकता यह है कि समस्त अलंकरण ही "उपमान" पर आधृत है तथा अलंकरण कल्पना की दूसरी शक्ति पर । अत: उपमान वास्तव में कल्पना की दूसरी शक्ति है । "अप्रस्तुत योजना" शब्द का

---

१ धिरेन्द्र वर्मा : हिन्दी साहित्य कोश, भाग - १, पृ० ४८, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी, द्वितीय संस्करण, सं० २०२० ।

प्रयोग हमने इसलिये नहीं किया क्योंकि प्रतीक और बिम्ब भी इसके अन्तर्गत आ जाते हैं। वस्तुत: कल्पना की दूसरी शक्ति अप्रस्तुत ही है। फिर यदि हम उपमान के लिये अप्रस्तुत शब्द का प्रयोग करते हैं तो प्रतीक और बिम्ब से उसके अन्तर को बनाए रखना कठिन हो जायगा। अत: हम को "उपमान" शब्द ही अधिक युक्ति - संगत लगता है। इसे हम यहाँ समस्त अलंकरण के लिये ही प्रयुक्त करेंगे। इस प्रकार "उपमान" अप्रस्तुत योजना का एक अंग है।

"उपमानों" का प्रयोग अधिकत: औपम्य या सादृश्य मूलक अलंकारों में ही होता है। वर्तमान हिन्दी कविता में कवियों ने अपने रूपक तथा उपमाओं के लिये जो उपमान अप्रस्तुत रूप में चुने हैं, वे सभी सामान्य जीवन के ही हैं, जो कि कवि के मन पर अपनी छाप छोड़ गए हैं। इस प्रकार वर्तमान कवियों की लोकोन्मुखी रुचि का पता लगता है। इन कवियों के रूपकों में प्राय: यादों को "घोड़े का बाल"[1] वायु को "कठला",[2] सितारों को "ज्योतिषी",[3] खेत को "चादर",[4] पलकों को "अलगनी",[5] तथा अन्धकार को "वैतुय", तेजस् को "आदित्य",[6] बर्बरता को "कंस", संस्कृति को "श्याम", जैसे

---

१ शिव रश्मि : नारों के अन्धे शहर में, पृ० ८४, हेमन्त प्रकाशन, प्रथम संस्करण, १९७० ।

२ गिरिजा कुमार माथुर : धूप के धान, पृ० ८६, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, तृतीय संस्करण, १९६६ ।

३ रमेश रंजक, हरापन नहीं टूटेगा, पृ० २७, अक्षर प्रकाशन प्रा० लि०, प्रथम संस्करण, १९७४ ।

४ -वही - पृ० २७ ।

५ चन्द्रदेव सिंह : पाँच जोड़ बाँसुरी, पृ० ९७, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, १९६९ ।

६ गिरिजाकुमार माथुर : धूप के धान, पृ० ११०-१११, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, तृतीय संस्करण, १९६६ ।

पौराणिक उपमानों के रूप में देखा गया है। ये सभी उपमान चाहे वे किसी भी सादृश्य पर आधारित हों, लोक - जीवन में दैनिक वस्तुओं की कवि के मन पर पड़ी हुई छाप ही हैं। लोक - जीवन के क्षेत्र से ग्रहण किये गए इन अप्रस्तुत उपमानों के माध्यम से इस कवि ने कहीं - कहीं तो बड़े सुन्दर बिम्ब प्रस्तुत करने में सफलता प्राप्त की है। यदि इन कविताओं का पाठक कुछ अधिक कल्पना प्रवण हुआ तो वह इन कविताओं से दृश्य-काव्य का भी आनन्द प्राप्त कर सकता है। एक बिम्ब देखिये —

"बूढ़े पीपल ने आगे बढ़ कर जुहार की
"बरस बाद सुधि लीन्ही"
बोली अकुलायी लता ओट हो किवार की।
हरषाया ताल लाया पानी परात भर के।
क्षितिज अटारी गहरायी दामिनि दमकी
"क्षमा करो गाँठ खुल गयी भरम की"
बाँध टूटा झर - झर मिलन अश्रु ढरके
मेघ आये बड़े बन-ठन के सँवर के।"[१]

इस कविता में कवि ने पीपल को एक बूढ़े के रूप में, लता और दामिनी को दो नारियों के रूप में ताल को एक पुरुष के रूप में तथा क्षितिज को एक अटारी के रूप में एवं बादलों को आए हुए अतिथि के रूप में देखा है। इन सब अप्रस्तुत उपमानों को मिलाकर हमारे सम्मुख जो बिम्ब बनता है वह बहुत दिन बाद गाँव में शहर से लौटे हुए लड़के के स्वागत

---

१ सर्वेश्वर दयाल सक्सेना : पाँच जोड़ बाँसुरी, पृ० ७०, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, १९६६।

में गाँव और परिवारी जनों की संवेदना को प्रकट करता है। यहाँ कवि ने पीपल, लता, दामिनि तथा बादलों पर मानवीय क्रियाओं का आरोप करके पाठक की संवेदना को उभारने का प्रयास किया है। लोक – जीवन में ऐसी अनेक घटनाओं के साथ पाठकों की संवेदनाएँ जुड़ी रहती हैं। इस प्रकार के उपमान जो अपने साथ लोक-संवेदना को भी धारण करते हैं कवि की "संवेदनात्मक" कल्पना " [१] का ही परिणाम है"।

इस प्रकार उपमानों में कवि ने जिस संवेदना का प्रवाह कर दिया है उससे एक सुन्दर गतिशील तथा लोक-संवेदना से युक्त बिम्ब प्रस्तुत हुआ है। इसी प्रकार इन कवियों ने अपने उपमा अलंकारों में भी जो औपम्य मूलक उपमान प्रस्तुत किये हैं वे भी लोक – जीवन से ग्रहण ही नहीं किये गए अपितु लोक-संवेदनाओं से युक्त भी बनाए गए हैं। इन कवियों ने कहीं "भीगे हुए आँगन को" "विरहिन के आँचल " [२] के समान बता कर विरह – व्यथित रोती हुई नारी का अतिशयोक्ति पूर्ण चित्र प्रस्तुत

---

१ "Sense – imagery means here the sensory content of imagery as it has been defined in the previous chapter. Thus the primary criterion for determining the individual image is the presence of comparison."

— Richard Harter Fogle : The imagery of Keats and Shelly, Ch. 2, p. 26, U.S.A.

२ उमाकान्त मालवीय : मेंहदी और महावर, पृ ४७, साहित्य भवन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, १९६३।

किया है, कहीं क्वार के शुक्ल पक्ष में विकसित होती हुई चाँदनी को कास के समान,[1] चाँदनी रात को किसी सुन्दर कली के समान खिलता हुआ[2] तथा कहीं तूफान की आवाज़ को चिरौटों की तीखी आवाज़ के समान[3] और कहीं नायिका को गेहुँअन साँप के समान[4] कहा है। ओम प्रभाकर की इस कविता में उपमाओं के माध्यम से ही कवि ने कुछ बिम्ब बड़े सुन्दर प्रस्तुत किये हैं —

" खिड़की की सलाखों से
नयी चाँदनी झरती ।
कमरे के फर्श को काट रही हो
पूरे ऐपन का चौक कोई जैसे ।
बात खामोशी से
नयी चाँदनी करती ।
हलकी नीली – काफी उजली होकर
आयी हो जैसे अभी नहा धो कर ।
ऐसी क्वारी कन्या
नयी चाँदनी लगती । "[5]

---

1 गिरिजा कुमार माथुर : धूप के धान, पृ० ६७, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, तृतीय संस्करण, १९६६ ।

2 -वही- पृ० ६७ ।

3 केदारनाथ अग्रवाल : सांप्रतिकी, पृ० २८, बिहार ग्रन्थ कुटीर, पटना-४, प्रथम संस्करण, १९६५ ।

4 मदन वात्स्यायन : तीसरा सप्तक, पृ० ८८, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, तृतीय संस्करण, १९६७ ।

5 ओम प्रभाकर : पुष्पचरित, पृ० ८, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७३ ।

इस कविता में खिड़की की शलाखों से छन कर कमरे के फर्श को विभाजित करती हुई चाँदनी को उस सफेद रेखा के समान देखा गया है जो ऐपन से कढ़े हुए चौक को काटती है। दूसरे बिम्ब में कवि ने सद्यः स्नाता क्वाँरी कन्या के समान चाँदनी को अनुभव किया है। यहाँ भी कवि की सम्वेदनात्मक कल्पना ही काम कर रही है। इसी प्रकार मदन वात्स्यायन के एक गीत में "गेहुअन" साँप जैसी नायिका का गोरा शरीर जहाँ रश्मि के समान लक्षित किया गया है, वहीं उसे "मधुर धर" (विषधारी) भी कहा है।[१]

इसी प्रकार लड़कियों के लिये बकरे[२] का उपमान जिसे शादी रूपी चाकू के बाल से काट दिया जाता है, सुनसान बीहड़ में झींगुरों की झनकार के लिये झनकती हुई झाँझ[३] का, स्तब्ध होकर ताकते रहने वाले स्वर्ग के लिये "धुँधलके में ढँके खेत की झोंपड़ी" में रखे "दिये"[४] का उपमान, सपनों के टूट जाने के लिये "विधवा स्त्री की चूड़ियों के टूटने"[५] तथा स्वप्नों की चंचलता के लिये "पारद"[६] का तथा

---

१ मदन वात्स्यायन : तीसरा सप्तक, पृ० ८८, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, तृतीय संस्करण, १९६७।

२ शिवरश्मि, नारों के अन्धे शहर में, पृ० ८४, हेमन्त प्रकाशन, प्रथम संस्करण, १९७०।

३ गिरिजाकुमार माथुर : धूप के धान, पृ० ६८, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, तृतीय संस्करण, १९६६।

४ वीरेन्द्र कुमार जैन : शून्य पुरुष और वस्तुएँ, पृ० १४६, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, अक्टूबर १९७२।

५ शिव रश्मि : नारों के अन्धे शहर में, पृ० ३२, हेमन्त प्रकाशन, प्रथम संस्करण, १९७०।

६ -वही- पृ० ३२।

"विन्ध्या" की आगतपतिका तथा "बादल" की पति एवं रेखा की "सौहर" गाती हुई स्त्री[1] की और खाली तथा वीरान मकान को "श्मशान"[2] की उत्प्रेक्षा देने वाले उपमान भी ऐसे ही उपमान हैं जो "लोकमानस" में निरन्तर बने रहते हैं।

(ख) प्रतीक — उपमानों में जहाँ औपम्य अथवा सादृश्य का भाव रहता है, वहाँ प्रतीक में इनके स्थान पर पुनर्निर्माण की प्रवृत्ति रहती है। उपमान में जहाँ प्रस्तुत की अभिव्यक्ति रहती है वहाँ प्रतीक में प्रस्तुत की व्यंजना देने वाले अप्रस्तुत शब्दों का प्रयोग होता है। वास्तव में प्रतीक वे शब्द हैं जिनके माध्यम से कवि समस्त विचार और भावों की अभिव्यक्ति देता है।[3]

ये प्रतीक कई प्रकार के हो सकते हैं, जैसे — परम्परित, मौलिक, लोक जीवन से गृहीत, शिष्ट जीवन से गृहीत, प्राकृतिक तथा शास्त्रीय आदि। इनमें परम्परित प्रतीक प्राय: अपनी परम्परा के कारण लोक-जीवन के ही एक अंग बन जाते हैं तथा मौलिक प्रतीक भी प्राय: कवियों द्वारा लोक-जीवन से ग्रहण किये जाते हैं। इसी प्रकार प्राकृतिक प्रतीकों का

---

१ नरेश मेहता : मेरा समर्पित एकान्त, पृ० ५३, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९६२।

२ कुँवर नारायण : तीसरा सप्तक, पृ० १६३, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, तृतीय संस्करण, १९६७।

3 Charles Chadwick : Symbolism, Ch. I, p. 2. The critical Idiom No. 16, Methuen & Co. Ltd., 11, New Fetter Lane, London Ec.4, Reprinted, 1973.

भी सामान्य जीवन से बड़ा ही निकट का सम्बन्ध है। उसकी अधिकांश कहावतों में इन प्रतीकों का प्रयोग मिलता है। जैसे — "करेला और नीम चढ़ा" या "नीम चबे कड़ुआ लगे ऊँट स्वाद से खाय।" इनमें नीम और करेला प्राकृतिक प्रतीक ही हैं जो अपने प्रयोग में किसी भी वस्तु के लिये प्रतीक बन जाते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि परम्परित, मौलिक तथा प्राकृतिक प्रतीक अधिकांशतः लोक-जीवन से संबंधित प्रतीक ही होते हैं। हाँ, शास्त्रीय प्रतीक तथा शिष्ट जीवन से ग्रहण किये जाने वाले प्रतीकों का अध्ययन लोक-जीवन से सम्बद्ध प्रतीकों के अन्तर्गत नहीं किया जा सकता।

सूअर की खोली,[1] साधक की कुटिया,[2] सखिया,[3] बुहारा,[4] थूकना,[5] लक्ष्मी,[6] कर्ण,[7] काली छाया[8] तथा संघाती[9] आदि

---

१ अज्ञेय : अरी ओ करुणा प्रभामय: पृ० १५८, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, १९५९।

२ -वही - पृ० १५८।

३ ओम प्रभाकर : पुष्प चरित, पृ० २७, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७३।

४ बच्चन : जाल समेटा, पृ० ६४, राजपाल एण्ड संस, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७३।

५ -वही - पृ० ६४।

६ उमाकान्त मालवीय : मेंहदी और महावर, पृ० २३, साहित्य भवन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, १९६३।

७ अजित कुमार : अकेले कण्ठ की पुकार, पृ० ५५, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९५८।

८ कीर्ति चौधरी : खुले हुए आसमान के नीचे, पृ० ८५, लोकभारतीय प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, १९६८।

९ नरेश मेहता : मेरा समर्पित एकान्त, पृ० ८, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९६२।

ऐसे ही प्रतीक हैं जो जो लोक – जीवन में बहुत गहरे बसे हुए हैं । सामान्य जीवन में " साधक की कुटिया " जहाँ पवित्रता, महानता, श्रेष्ठता आदि की प्रतीक है वहीं " सुअर की खोली " अपवित्रता, निम्नता, धृष्टता आदि की द्योतक है । जब कोय आलोक किरण का सुअर की खोली पर बरसना और साधक की कुटिया को अछूता छोड़ दिया जाना कहते हैं तो उसका सहज ही यह अर्थ लग जाता है कि सम्पन्नता मूर्खों के हिस्से में आई श्रेष्ठों के हिस्से में नहीं । यहाँ " आलोक किरण " ज्ञान, सम्पन्नता आदि का प्रतीक है । जन – सामान्य में इसे केवल ज्ञान के प्रतीक के रूप में ही ग्रहण किया जाता है । सम्पन्नता के अर्थ में उसका प्रयोग कवि का अपना मौलिक प्रयोग है, जो जन – सामान्य की पहुँच के बाहर है । फिर भी इन कविताओं में, कविता को संप्रेषणीयता प्रदान करने वाले कुछ प्रतीक लोक-जीवन से लिए गए हैं ।

सतिया या स्वास्तिक चिन्ह भारतीय लोक – जीवन में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखता है । यह चिन्ह प्राय: प्रत्येक शुभकार्य में प्रयुक्त होता है । मैकेन्जी ने इस चिन्ह को अनेक वस्तु और व्यापारों का प्रतीक माना है । उसके अनुसार यह लिंग पूजन, प्राचीन वाणिज्य, अग्नि, विद्युत, आभूषण, जल, ज्योतिष तथा भारत के चार वर्णों को द्योतित करने वाला प्रतीक है तथा यह प्राचीन समय में आदिम जातियों का चिन्ह था और ईसा पूर्व के अन्य अनेक प्रतीक चिन्हों की भांति ही यह प्राचीन ईसाइयों द्वारा भी अपना लिया गया और यह रोम में बड़ी स्वतन्त्रता पूर्वक प्रयुक्त होने लगा ।[1] यह भी संभव है कि इस चिन्ह का जन्म आदिम मानव

---

१ Mackenzie, D.A., The Migration of Symbols and their relations to belief and customs, pp. 2-5 (?)

की अंकरण प्रवृत्ति से हुआ हो तथा यह उसके कलात्मक अभिप्राय से संबंधित हो । किन्तु भारतवर्ष में इसे "श्री चिन्ह" भी कहते हैं । जो संपत्ति का प्रतीक है । भारत वर्ष में जहाँ स्त्री को घर की संपत्ति या लक्ष्मी (धन की देवी) कहा गया है, वहाँ यदि पुरुष को भी संपत्ति या "श्री चिन्ह" कहा जाय तो कुछ अन्यथा न होगा । वर्तमान कविताओं में लक्ष्मी और "सँतिया" इन्हीं अर्थों में प्रयुक्त भी हुए हैं । वास्तव में "सँतिया" (धन का प्रतीक) पति का या स्त्री के सौभाग्य का ही प्रतीक है, स्त्री का धन वही है जो उसका पति है । भोजपुरी के अनेक लोक - गीतों में पुरुष को धन तथा स्त्री को "धनि" कह कर सम्बोधित भी किया गया है ।

इसी प्रकार काली छायाएँ लोक- जीवन में भय को प्रदर्शित करती रही हैं । वास्तव में काली छायाओं में जो विकराल और बेडौल आकृति झलकती है, लोक अपनी अंध बुद्धि तथा मन में बैठा हुआ, अनेक राक्षस और दैत्य, भूत - प्रेत आदि की कल्पनाओं के कारण उनसे भयभीत होता रहा है । इसीलिये "काली छायाएँ" सदैव अशुभ करने वाली अदृश्य शक्तियाँ (जो वास्तव में मन का भय और भ्रम ही है) के अर्थ में प्रयुक्त होने वाला प्रतीक बन गया है ।

कर्ण और सम्पाती भी अपना प्रतीकात्मक अर्थ रखने लगे हैं । ये दोनों ही भारतवर्ष के पौराणिक पात्र हैं । इनमें कर्ण की कथा महाभारत में तथा सम्पाती की कथा रामायण में आती है । महाभारत में कर्ण, कुन्ती का औरस पुत्र है जो युद्ध में अर्जुन से अधिक शक्ति शाली प्रमाणित होता है । वह दानवीर भी है । अपनी दानशीलता के ही कारण वह कवच और कुण्डल इन्द्र को दे देता है । जिसकी वजह से उसे युद्ध में समाप्त हो जाना

पड़ता है। उसके युद्ध कौशल को देख कर कृष्ण अर्जुन के स्थान पर कर्ण की प्रशंसा करते हैं। इस प्रकार कर्ण योद्धा, पराक्रमी, बली तथा दान वीरता का शब्द प्रतीक बन गया है। इसी प्रकार संपाती के सम्बन्ध में यह कथा प्रचलित है कि वह सूर्य को छूने के लिये उड़ा था किन्तु मार्ग में डैने जल जाने के कारण तथा सूर्य के प्रकाश की चकाचौंध में अंधा हो जाने के कारण पृथ्वी पर गिर पड़ा।

वास्तव में रामायण और महाभारत भारत वर्ष के आदि महाकाव्य हैं। अतः इनके पात्रों का लोक-जीवन में प्रतीकात्मक अर्थ ग्रहण कर लेना स्वाभाविक ही है। संपाती भी ऊँचे चढ़कर नीचे गिरने वाले व्यक्ति का प्रतीक है। भारत के जन - जीवन में सन्त कवियों की कृपा से यह बात भली प्रकार बैठी हुई है कि मन स्थिर नहीं रहता इसकी उड़ान बहुत तेज है तथा समस्त दुःख जीवन में इसी मन के कारण प्राप्त होते हैं। तभी भारतवर्ष का सामान्य से सामान्य व्यक्ति भी मनको वश में करने का दार्शनिक उपदेश दे डालता है। संपाती को मन का प्रतीक इसी कारण बनाना पड़ता है :—

"तू उड़ा संपाति का अभिमान लेकर
सूर्य छूने का नया अरमान लेकर
तेजमय रवि व्योम जब आया निकटतर
पंख झुलसे गिर पड़ा बस प्राण लेकर।[1]

---

१ गिरिजा कुमार माथुर : धूप के धान, पृ० ७१ भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, तृतीय संस्करण १९५५।

इस कविता में संपाति उल्लसित मन और उसके उड़ने का, तथा सूर्य कल्पना या आकांक्षाओं की चकाचौंध का प्रतीक है। इन उड़ानों और आकांक्षाओं के पूरा न होने पर "झुलसे पंख वाला संपाती" आहत या कुण्ठित मन का प्रतीक बना है। भारतवर्ष के जन - सामान्य के लिये यह प्रस्तुत और अप्रस्तुत प्रतीक दोनों ही नये नहीं हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि वर्तमान हिन्दी कविता भाषा तथा शिल्प दोनों ही दृष्टियों से लोक-जीवन के निकट आयी है। उसके प्रतीक तथा उपमान दोनों ही लोक-जीवन से ग्रहण किये जा रहे हैं। जिससे वह अधिक संप्रेषणीय तथा सहज बनी है।

(ग) मिथ —— कवि - कल्पना में उपमान और प्रतीक के बाद की स्थिति "मिथ" कही जाती है। वस्तुत: कवि का काम जब उपमान और प्रतीकों से नहीं चलता है तो वह "मिथ" का सहारा लेता है। "........ "मिथ" जिसका प्रयोग अरस्तू के पोएटिक्स (काव्य शास्त्र) में कथानक, कथाबन्ध, "गल्पकथा" के रूप में हुआ है। उसका विलोम और पूरक शब्द है "लोगस" (तर्क)। तार्किक संलाप, या विमर्श के विपरीत, "मिथ" आख्यानात्मक होता है, कथा होता है, व्यवस्थित दार्शनिकता के विपरीत यह भावुकतापूर्ण और अन्त:प्रज्ञा से सम्बद्ध भी होता है — सुकरात की तर्कशीलता के विपरीत, यह एस्कीलस की त्रासदी होता है।"[1] "ऐतिहासिक दृष्टि से "मिथ" शब्द एक धार्मिक अनुष्ठान से पैदा हुआ है और उससे

---

१ रेनेवैलेक तथा ऑस्टिनवारेन : साहित्य सिद्धान्त, खण्ड - ४, अध्याय - १५, पृ० २४८, अनु० बी० एस० पालीवाल, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद।

जुड़ा हुआ है, यह धार्मिक अनुष्ठान का उच्चरित अंश है, ---- परन्तु व्यापक अर्थ में "मिथ" का अर्थ है गुमनाम ढंग से रची गयी कहानियाँ, जिनमें सृष्टि के उद्भव और नियति का वर्णन किया गया है, वह कैफियत जो कोई समाज अपने बच्चों को इस विषय में देता है कि यह विश्व क्यों बना है, हम जो कुछ करते हैं वही क्यों करते हैं। इसका अर्थ है प्रकृति और मनुष्यकी नियति के विषय में इसके चित्रणीय बिम्ब।"[1] ये व्याख्याएँ इस शब्द के धार्मिक या सामान्य अर्थ को ही स्पष्ट करती हैं। किन्तु जब इस शब्द का प्रयोग साहित्य सिद्धान्त के रूप में किया जाता है तो यह कुछ और ही रूप ग्रहण करता है। वास्तव में इसका धार्मिक अर्थ इसको रूढ़ बना देता है, जबकि साहित्य में यह शब्द मनोविज्ञान का सहारा लेकर अपना गतिशील अर्थ ग्रहण करता है। यहाँ यह शब्द एक ओर तो अपनी धार्मिक अर्थवत्ता बनाए रखता है दूसरी ओर धार्मिक मिथ (पुराण कथाओं) के अतिरिक्त लोक-विश्वास सम्पृक्त कथा - किंवदन्तियाँ तथा कवि समय भी इसके अन्तर्गत आ जाते हैं। इस दृष्टि से "रेनेवेलेक तथा ऑस्टिन वारेन महोदय इसके निम्नलिखित अभिप्राय बताते हैं ---

१- बिम्ब या चित्र, २- सामाजिक, ३- अति प्राकृतिक (या अप्रकृतिवादी या अतार्किक) तत्व, ४- आख्यान या कहानी, ५- आद्य या सार्वभौम तत्व, ६- हमारे कालातीत आदर्शों का कालबद्ध प्रतीकात्मक प्रस्तुतीकरण, तथा ७- कार्यक्रम सृष्टि या प्रलय या रहस्य का तत्व।[2]

---

१ रेनेवेलेक तथा ऑस्टिन वारेन : साहित्य सिद्धान्त, खण्ड-४, अध्याय - १५, पृ० २४८, अनु० बी० एस० पालीवाल, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद।

२ - वही - पृ० २४६।

वास्तव में मिथ कल्पना का वह स्तर है जहाँ कवि का काम प्रत्यक्ष जगत की वस्तुओं से नहीं चलता। यहाँ उसके काव्य में दो स्थितियाँ उत्पन्न होती हैं। एक तो वह, जो कविता के सौन्दर्य को रहस्यशील बना देती है तथा उसमें सभी रहस्य कवि की अपनी अन्तश्चेतना से उद्भूत होते हैं। दूसरे में कवि रहस्यशीलता के लिए लोक-प्रचलित विश्वासों से सम्बन्धित कथाओं ("मिथ") को ग्रहण करता है तथा यहाँ उसकी अनुभूति दार्शनिक की अनुभूति न होकर शुद्ध काव्यात्मक होती है। इनमें से पहली स्थिति को ही काण्ट महोदय "सौन्दर्यवादी कल्पना" कहते हैं।[१] इसमें पहले प्रकार की कल्पना रहस्यवादी की है तथा दूसरे प्रकार की कल्पना वस्तुवादी की। वास्तव में इस दूसरे प्रकार की कल्पना का सम्बन्ध कवि के अचेतन मन से है तथा पहले प्रकार की कल्पना आत्मा की अनुभूति है। किन्तु काव्य में इन दोनों में अन्तर करने के लिये विशेष सावधानी की अपेक्षा है। यही दूसरे प्रकार की कल्पना "मिथ" कहलाने की अधिकारिणी है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि यह "मिथ" केवल पौराणिक या आदिम ही नहीं, समसामयिक भी हो सकते हैं। "आधुनिक मनुष्य के भी अपने मिथ हैं, पर वे मिथ उथले, अपर्याप्त या शायद मिथ्या मिथ हैं, जैसे "प्रगति" या "समानता" या "सार्वभौम शिक्षा" या स्वास्थ्य विषयक या आम रूप से प्रचलित लोक-कल्याण के मिथ जिनका बहुत विज्ञापन किया जाता है। इन दोनों अवधारणाओं के बीच समानता इस अंश में पायी जाती है (जो संभवतः सच भी है) कि जब-जब "आधुनिकता" पुराने दीर्घ अनुभव पर

---

१ R.L. Brett: Fancy & Imagination, Ch. II, p. 46, Methuen & Co. Ltd., 11, New Fetter Lane, London EC 4, Printed, 1973.

आधारित जीवन की रीतियाँ (अनुष्ठान और उनसे जुड़े हुए मिथ) को विघटित कर देता है तो अधिकांश लोग (या कहें सभी) निरुपाय हो जाते हैं, चूँकि मनुष्य केवल अमूर्त संकल्पनाओं के सहारे नहीं जी सकता, अतः वे अपनी रिक्तता को अधकचरे, तुरत गढ़े विच्छिन्न मिथों (जो कुछ होना है या होना चाहिये उसकी तस्वीर है) से भरते हैं।"[१] इस प्रकार लोक - परंपरा और रूढ़ियों की ही भाँति "मिथ" भी समय - समय पर बनते - बिगड़ते रहते हैं तथा वे रहस्यवादी अमूर्त संकल्पनाओं के स्थान पर ठोस होते हैं। क्योंकि इन में केवल कवि के ही नहीं, जन सामान्य के भी पूरे - पूरे आस्था और विश्वास रहते हैं। इसीलिये ये सत्यपूर्ण भी हैं। रेनेवेलेक और ऑस्टिनवारेन महोदय इसी बात को इस प्रकार कहते हैं — " यदि "मिथक" का विलोम विज्ञान या दर्शन किसी को भी माना जाए तो यह मानना होगा कि यह चित्रित किए जा सकने वाले ठोस तत्वों का समर्थक और तर्कपूर्ण अमूर्तता का विरोधी है।"[२]

अतः हम कह सकते हैं कि ये सभी विश्वास जो किसी कार्य के कारण की ओर इंगित करने वाली कथा या किसी अभिप्राय रूढ़ि (जो लोक प्रसिद्ध होने के कारण कवि ने ग्रहण करली है) अथवा कवि प्रसिद्धि (प्रसिद्ध कवियों की कविताओं में बार - बार आवृत्त होने के कारण जिसे लोक ने सत्य रूप में स्वीकार कर लिया है) में निहित होते हैं।

---

१ रेनेवेलेक तथा ऑस्टिनवारेन : साहित्य-सिद्धान्त, खण्ड ४, अ० १५, पृ० २५० - २५१, अनु० बी० एस० पालीवाल, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद।

२ -वही - पृ० २५१।

"मिथ" कहे जाने के अधिकारी हैं। और ऐसे विश्वास सभ्य से सभ्य व्यक्ति के भी अचेतन में पाए जाते हैं। अस्तु हम "मिथ" के तीन भेद स्वीकार करते हैं —— १- पौराणिक, २- सामाजिक, ३- साहित्यिक।

भावनात्मक बिम्ब उकेरने के लिये इन कवियों ने जो "पौराणिक मिथ" प्रस्तुत किये हैं, उनमें अर्जुन, एकलव्य,[1] वैदिक यज्ञ[2], राम और रावण[3], मत्स्यावतार,[4] हिरण्यकश्यप और प्रह्लाद[5], आदि प्रमुख हैं। इन कवियों ने इन मिथों का उपयोग, प्रायः वर्तमान युग की विसंगतियों (विशेष कर नैतिकता और आदर्श सम्बन्धी) के बिम्ब प्रस्तुत करने के लिये ही किया है। कहीं - कहीं यह मिथ अपने प्रस्तुत विषय के कारण कुछ दुरूह भी हुए हैं। किन्तु इनके बिम्ब (चाहे वे प्रस्तुत को स्पष्ट करने में जन सामान्य के लिये असफल ही क्यों न रहे हों) अपने आप में सामान्य पाठक के सम्मुख स्पष्ट हैं :——

"धधक रहा अग्नि कुण्ड
महायज्ञ प्रस्तुत है

---

१ अज्ञेय : इन्द्रधनु रौंदे हुए ये, पृ० १२, सरस्वती प्रेस, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, १९५७।

२ गिरिजा कुमार माथुर : शिला पंख चमकीले, पृ० ७३, साहित्य भवन प्रा० लि०, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, १९६१।

३ शिशुरश्मि : नारों के अन्धे शहर में, पृ० ३६-३७, हेमन्त प्रकाशन, प्रथम संस्करण, १९७०।

४ सुरेन्द्र तिवारी : उभरते हुए, पृ० ६६, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७१।

५ शमशेर बहादुर सिंह : कुछ और कविताएँ, पृ० २०, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९६१।

शीघ्र अभी

सीता बनेंगी हवि

समवेत कूकेंगी

कुलकुल्याल कुलबोध

पृथ्वी पर स्वाहा की गूंज रह जायेगी । " १

इस कविता में " सीता " का स्वयं " हवि " बन जाना लोक - जीवन में यज्ञ और उसके प्रति अगाध आस्था के परिणाम स्वरूप होने वाली अनेक भावुकता पूर्ण क्रियाओं की ओर इंगित करता है । अत: यह अविश्वसनीय बिम्ब लोक - जीवन में विश्वसनीय है साथ ही यही " मिथ " के प्रति जन - सामान्य का विश्वास भी है । इन बिम्बों में, जो इन कवियों ने " मिथ " के द्वारा उकेरे हैं, प्रस्तुत या अमूर्त अशरीरी है —

" मेरी बैठकी में प्रह्लाद की तपस्याएँ दोनों दुनियाओं

की चौखट पर

युद्ध के हिरण्यकश्यप को चीर रही हैं । " २

वास्तव में ये " मिथक " कवि ने मन की अमूर्त भावनाओं (युद्ध विरोधी) के लिये ही प्रस्तुत किये हैं । सुरेन्द्र तिवारी की

---

१ गिरिजा कुमार माथुर : शिलापंख चमकीले, पृ० ७३, साहित्य भवन प्रा० लि०, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, १९६१ ।

२ शमशेर बहादुर सिंह : कुछ और कविताएँ, पृ० २०, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९६१ ।

"मत्स्यावतार" कविता भी इसी प्रकार की है। हाँ, कहीं - कहीं वर्तमान जीवन की विद्रूपताओं को प्रकट करने के लिये इन कवियों ने इन मिथों की कथा का सहारा लेकर थोड़ा सा अपने ढंग से मोड़ दिया है। लेकिन ऐसे स्थलों पर इनके मन्तव्य की अभिव्यक्ति सफल हुई है और मिथ तो स्पष्ट है ही। अज्ञेय की "इतिहास की हवा" शीर्षक कविता ऐसी ही कविता है।

इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे मिथ भी हैं जो पौराणिक न होकर लोक - कथाओं से गृहीत हैं तथा लोक की ऐतिहासिक सामाजिकता को प्रकट करने वाले हैं। ऐसे मिथों पर लोक की कोई धार्मिक आस्था तो नहीं होती, किन्तु उनकी सत्यता में उसका एक ऐतिहासिक विश्वास अवश्य होता है। चूँकि ये "मिथ" विभिन्न युगों की सामाजिकता को प्रकट करते हैं इसलिये इन्हें हम सामाजिक बिम्ब की श्रेणी में रखते हैं। इन "मिथों" में वे "मिथ" भी आजाते हैं जो किसी कार्य का तर्कहीन तथा विश्वास प्रधान कारण या कारण का कार्य प्रस्तुत करते हैं, जैसे - इन्द्र की आज्ञा से वर्षा का होना जबकि वैदिक दृष्टि से जल के देवता वरुण हैं। रघुवीर सहाय ने इस "मिथ" का उपयोग सीधे - सीधे केवल लोक भावना की गरज से अपनी "पहला पानी" शीर्षक कविता में किया है ——

"बिजली चमकी
सुरपति के लघु इंगित पर
लो वर्षा आकुली बादल नभ में ठहर गये
आशीष दे रहे मानो अपने हाथों से।" [1]

---

१ रघुवीर सहाय : दूसरा सप्तक, पृ० ५५, प्रगति प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९५१।

इसी प्रकार " पाप के घड़े का फूटना " [1] उसकी अनिवार्यता के अर्थ में तथा "" दो सिर, चार पैर वाले बच्चों को राक्षस मानना "" [2] या यों कहें कि राक्षसों की आकृति इस प्रकार की मानना आदि भी ऐसे ही " मिथ " हैं जिनका इस कविता में बहुतायत से प्रयोग हुआ है ।

इसी तरह लोक कथाओं से युक्त ऐतिहासिक सामाजिकता को प्रकट करने वाले मिथ भी हैं । स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कविता में मुख्य रूप से याकूब, [3] अलादीन के जादू [4], राजा विक्रमादित्य, [5] कारूँ के खजाने, [6] राजा सुलेमान की खदानों, [7] लैला के केश सौन्दर्य, [8] और जुलेखा के दामन, [9] तथा नल दमयन्ती [10] आदि की लोक कथाओं का उनके सत्य होने पर लोक जैसे पूर्ण विश्वास के साथ प्रयोग किया गया है ।

---

१ वीरेन्द्र मिश्र, ५५ की श्रेष्ठ कविताएँ, पृ० १०७ – ११०, नवसाहित्य प्रकाशन, नई दिल्ली-१, प्रथम संस्करण, १९५६ ।

२ मुक्तिबोध : चाँद का मुँह टेढ़ा है, पृ० १९७, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, १९७१ ।

३ प्रणवकुमार वंद्योपाध्याय : [illegible] के लिये प्रार्थना, पृ० ८ पाण्डुलिपि प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७३ ।

४ – वही – पृ० ९ ।

५ गिरिजा कुमार माथुर : शिला पंख चमकीले, पृ० ८, साहित्य भवन प्रा० लि०, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, १९६१ ।

६ वीरेन्द्र कुमार जैन : शून्य पुरुष और वस्तुएँ, पृ० १०५, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, अक्टूबर, १९७२ ।

७ –वही – पृ० १०५ ।

८ –वही – पृ० १०५ ।

९ –वही – पृ० १०५ ।

१० गिरिजा कुमार माथुर : धूप के धान, पृ० ९०, भा०ज्ञानपीठ,काशी,द्वि०सं०,१९६६।

ये लोक कथाएँ भी वास्तव में इन कविताओं के अन्तर्गत मिथ ही हैं । क्योंकि कवि तथा जन - सामान्य दोनों का ही इनकी सत्यता में पूर्ण विश्वास है । गिरिजा कुमार माथुर की " ढाकबनी " शीर्षक कविता में मध्य - प्रदेश की काली मिट्टी और तालाबों में काली मनहूस मछलियों के होने का रहस्य लोक-कथाओं के " मिथ " की ही भाँति एक कथा - प्रसंग के साथ प्रस्तुत किया गया है ---

"" भूख व्याकुल, ताल से ले
मछलियाँ थीं जो पकाईं
शाप के कारण जली हो
वे उछल जल में समाईं ।
हैं तभी से साँवली
सुनसान जंगल की किनारी
हैं तभी से ताल की
सब मछलियाँ मनहूस काली । "" [1]

इतना ही नहीं इन कविताओं में अनेक ऐसे " मिथ " कवियों ने भी गढ़ लिये हैं, जो लोक-कथाओं जैसे ही हैं तथा जिन पर कवि का विश्वास तो है ही जन - सामान्य का विश्वास भी सहज ही हो जाता है । अज्ञेय की " असाध्यवीणा " [2], प्रणव कुमार वन्द्योपाध्याय की " दिल्ली का राजा " [3], कुँवर नारायण की " शाहजादे की

---

१ गिरिजा कुमार माथुर : धूप के धान, पृ० ८०, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, तृतीय संस्करण, १९५५ ।

२ अज्ञेय : आँगन के पार द्वार, पृ० ७३-७८, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, १९६१ ।

३ प्रणव कुमार वन्द्योपाध्याय : मृत शिशुओं के लिये प्रार्थना, पृ० ३५, पाण्डुलिपि प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७२ ।

कहानी "[1] आदि कविताएँ इसी प्रकार की हैं। इनमें "शाहज़ादे की कहानी" शीर्षक कविता में "शिशु मनोरथों" को प्राचीन लोक-कथाओं के शाहज़ादों का रूपक दिया गया है। ये "शिशु मनोरथ" सपनों में तो पूरे हो जाते थे किन्तु व्यावहारिक जीवन में वह कहानी का नायक शाहज़ादा तिलस्म को तोड़ कर राजी-खुशी अब घर नहीं लौट पाता —

"कभी बचपन में सुनी थी
शाहज़ादे की कहानी
 याद आता है :
समुन्दर पार कैसे दानवी
माया नगर में वह बिचारा
 भूल जाता है,
भटकता, सोचता, पर अन्त में
राजी-खुशी घर —
 लौट आता है।
आज पर जब एक दानव
शिशु मनोरथ के घरौंदे
 रौंद जाता है
न जाने क्यों सदा को एक नाता
इस कथा का उस कथा से
 टूट जाता है।"

---

१ कुँवरनारायण : तीसरा सप्तक, पृ० १४१, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, तृतीय संस्करण, १९६७ ।

सामाजिक बिम्बों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण बिम्ब " जादू " सम्बन्धी हैं। अपनी अविश्वसनीयता में जन - सामान्य का विश्वास धारण करने वाले ये " बिम्ब " रहस्यात्मक प्रतीकों या रहस्यावादी अथवा सौन्दर्यवादी कल्पना से पृथक हैं। " मानव विज्ञानी जीवात्मवाद और जादू इन दोनों को ही आदिम संस्कृतियों में पाते हैं। इनमें से पहला मानवीय अवतारों तक — भूतों और देवताओं तक —— पहुँचने, उन्हें प्रसन्न करने, मानने और उनसे एकाकार होने का प्रयत्न करता है। दूसरा जो, विज्ञान का पूर्वरूप है, वस्तुओं द्वारा छूटने वाली शक्ति के नियमों का — पवित्र शब्दों, मंत्रों, शीशों और ताबीजों, प्रतिमाओं और अवशेषों का अध्ययन करता है। जादू के दो रूप हैं। एक है पुण्य आत्माओं का आह्वान —— और दूसरा है टोना - टोटका का जिसकी साधना दुष्ट प्रवृत्ति के लोग करते हैं। परन्तु इन दोनों के मूल में वस्तुओं की शक्ति में विश्वास का भाव है। .... यों भी तो, आदिम कवि उच्चाटन और मंत्र रच सकता था, और आधुनिक कवि येट्स की भाँति बिम्बों के जादुई उपयोग को, शुद्ध बिम्बों को, अपनी कविता में जादुई प्रतीक वाले बिम्बों का प्रयोग करने के माध्यम के रूप में अपना सकता है। " रहस्यवाद " की दिशा इसके विपरीत है :...... " १

" रहस्यवादी रूपक और जादू दोनों जीवात्मवाद (एनीमिज्म) के विरोधी हैं : ये दोनों एक गैर - मानवीय जगत् मनुष्य के अपने आरोप की विरोधी दिशाओं की ओर जाती है, ये एक 'अन्य' का — वस्तुओं के

---

१ रेनेवेलेक तथा ऑस्टिन वारेन : साहित्य सिद्धान्त, पृ० २४८, खण्ड – ४, अ० १५, अनु० बी० एस० पालीवाल, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद।

निर्वैयक्तिक जगत, पार्थिव कला, भौतिक नियम---आह्वान करते हैं। "[१] किन्तु रहस्यवादी रूपकों में एक प्रकार की अर्ध-पारदर्शिता होती है जिससे वे अप्रस्तुत वस्तु होने के साथ ही साथ प्रतीक भी हो जाते हैं। "" जादुई रूपकों में इस प्रकार की अर्धपारदर्शिता का अभाव होता है। वह मेडूसा (एक यूनानी पौराणिक राक्षसी) का मुखौटा है जो किसी चीज़ को जड़ बना दे। "[२]

इस प्रकार के जादुई रूपकों जो वास्तव में अपनी विश्वसनीयता के कारण "मिथ" हो हैं, के प्रयोग भी वर्तमान कविता में बहुतायत से मिलते हैं। वीरेन्द्र कुमार जैन की "परात्पर पुरुष"[३], "अकुंठा के प्रान्तर में"[४], मुक्तिबोध की "चाँद का मुँह टेढ़ा है"[५], भवानी प्रसाद मिश्र की "ऐसी ही रात गिरती है"[६] आदि कविताएँ इसके उल्लेखनीय उदाहरण हैं ——

---

१ रेनेवेलेक तथा ऑस्टिन वारेन : साहित्य सिद्धान्त, पृ० २६८-६९, खण्ड ४, अ० १५, अनु० बी० एस० पालीवाल, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद।

२ -वही- पृ० २६९।

३ वीरेन्द्र कुमार जैन : शून्य पुरुष और वस्तुएँ, पृ० १३, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, अक्टूबर, १९७२।

४ -वही- पृ० २९।

५ मुक्तिबोध : चाँद का मुँह टेढ़ा है, पृ० ३६, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, १९७१।

६ भवानी प्रसाद मिश्र : बनी हुई रस्सी, पृ० २८, सरला प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७१।

" रूप का जादू
सख्त धूप के तथ्यों पर
फूंक-सी मार देता है
कुछ की कुछ बन जाती हैं चीजें
चाँदी का हो जाता है हर कोई पत्ता
हर कोई गली पुखराज की। " [1]

इन पंक्तियों में रात्रि के आने पर धूप का समाप्त हो जाना, पत्तों पर चाँदनी का खिलना, गलियों में पीला अंधकार छा जाना, एक जादू के से ढंग से प्रस्तुत किया गया है। जिस प्रकार जादू में फूंक मार कर कोई जादूगर किसी वस्तु को गायब कर देता है तथा किसी वस्तु को किसी और वस्तु में परिवर्तित कर देता है, वैसे ही रात्रि के आगमन पर धूप का गायब हो जाना, पत्तों का चाँदी का हो जाना, गली का पुखराज की बन जाना आदि तथ्य हैं और ये सभी तथ्य जादू के "मिथ" के द्वारा रूपबिम्ब बना कर प्रस्तुत किये गए हैं।

इनके अतिरिक्त इन कविताओं में बहुत सी कवि प्रसिद्धियाँ (साहित्यिक मिथों) को भी ग्रहण किया गया है। वास्तविकता यह है कि इन साहित्यिक मिथों के माध्यम से भाषा में अभिव्यक्ति की शक्ति बढ़ती है। और वर्तमान कवि ने इस शक्ति को पहचाना है। इनमें "भूतों का डेरा" [2] "मायावी जुड़ैल का होना" [3] आदि 'मिथ' आते हैं।

---

1 भवानी प्रसाद मिश्र : बुनी हुई रस्सी, पृ० २८, सरला प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७१।

2 कुँवर नारायण : तीसरा सप्तक, पृ० १५४, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, तृतीय संस्करण, १९६७।

3 गिरिजा कुमार माथुर : शिलापंख चमकीले, पृ० ७, साहित्य भवन प्रा० लि०, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, १९६१।

"चातक का स्वाति की बूंद के लिये उद्ग्रीव रहना," [1] "चकवे-चकवी का दिन में मिलकर रात में बिछड़ जाना" [2] आदि कुछ ऐसी प्रकार के बिम्ब हैं। यहाँ ध्यातव्य है कि ये सभी बिम्ब भी कवियों ने लोक-जीवन से ही ग्रहण किये हैं।

निष्कर्ष

इस प्रकार हम देखते हैं कि वर्तमान कविता का सम्पूर्ण शिल्पपक्ष— चाहे वह भाषा हो, कल्पना हो, छन्द या लय हो, पर लोक - जीवन और लोक के साहित्य (जो लोक-जीवन की ही अभिव्यक्ति है) का बहुत बड़ा प्रभाव है। नयी कविता या स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कविता पर जो आलोचकों द्वारा प्रायः प्रश्न चिन्ह लगाया जाता रहा है वह स्पष्ट ही निराधार है। हाँ, इस कविता पर विस्मयादि बोधक चिन्ह अवश्य लगाया जा सकता है क्योंकि हिन्दी कविता जो कभी शासन, कभी धर्म, कभी केवल परिवार जैसी छोटी - छोटी सामाजिक या लोक की इकाइयों से ही जुड़ी रही, आज अकस्मात लोक - जीवन के साथ इतने गहरे और विस्तार में जुड़ गयी है। सभ्य नागरिक वर्गों जो पूँजीवादी औद्योगीकरण के कारण लोक - जीवन की अंतः सलिला से बहुत दूर पड़ गए हैं, की आँख में यह कविता यदि किरकिरी है तो इसमें उनका दोष नहीं, दोष कवियों का भी नहीं है। वस्तुतः यह दोष आलोचकों के अपनी मूल से कटे हुए संस्कारों का है। अन्यथा जितनी सम्भावना और दिशाएँ

---

१ अज्ञेय : बावरा अहेरी, पृ० ५२, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, द्वितीय संस्करण, फरवरी १९७३

२ -वही- पृ० ५५।

इस कविता ने प्रस्तुत की है, कदाचित ही किसी कविता ने की हो । इस कविता की सब से बड़ी विशेषता यही है कि यह अपनी निजी महत्ता बनाए रख कर भी लोक - जीवन से जुड़ी है । प्राचीन हिन्दी कविता की भांति न तो यह शुद्ध वेदान्त या दर्शन ही बन गई है और न ही लोक - गीत या लोक काव्य । अपनी इस दुहरी प्रक्रिया के कारण इसमें दुरूहता भी आई है किन्तु किसी भी साहित्य या काव्य का श्रेष्ठतम रूप यही शिष्ट और लोक का अद्वैत है । यही काव्य की पूर्णता की स्थिति है, जिसकी ओर वर्तमान हिन्दी कविता अपनी मन्थर गति से ही सही निरन्तर अग्रसर हो रही है । और हिन्दी कविता के लिये यह एक शुभ लक्षण है । जो लोग इसमें आए विदेशीपन के लिये चिन्तित हैं, उन्हें इस कविता की इस लोकोन्मुखी प्रवृत्ति को देखना चाहिये । उन्हें उस समय (जब वे इसकी लोकोन्मुखी प्रवृत्ति को देखेंगे) यह ज्ञात होगा कि इस कविता में विदेशीपन उतना नहीं, जितना कि यह स्वदेशी है । वास्तविकता यह है कि यह कविता जिस मानवतावादी भूमि की खोज कर रही है, वह लोक ही है जो यहां से वहां तक, भारत से यूरोप तक आसमुद्र इस पृथ्वी पर फैला है । इसके आलोचकों को चाहिये कि वे अपने हृदयों को भी कुछ वैसा ही विस्तार दें तभी वे इस उत्कण्ठता के साथ न्याय कर सकेंगे ।

तृतीय खण्ड
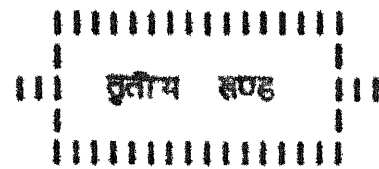
— लोक का बाह्य जीवन —

सामान्य जन के जीवन में उसके आपसी संबंधों को प्रकट करने वाले जितने भी क्रिया - व्यापार निष्पादित होते हैं तथा उनके लिये वह भिन्न - भिन्न उपकरणों का प्रयोग करता है - जिनमें उसके रहन - सहन और युगीन विचारधाराओं की भी अभिव्यक्ति होती है —— लोक के बाह्य जीवन के अन्तर्गत आते हैं।

अध्ययन की सुविधा के लिये लोक के बाह्य जीवन को हम मुख्यत: छ: भागों में बाँट सकते हैं — १- सामान्य जीवन, २- जातीय जीवन, ३- पारिवारिक जीवन, ४- धार्मिक-सांस्कृतिक जीवन, ५- आर्थिक जीवन, तथा ६- राजनीतिक जीवन। वस्तुत: लोक के बाह्य जीवन के ये विभाग केवल अध्ययन की सुविधा के लिये हैं, अन्यथा मनुष्य एक साथ ही धार्मिक - सांस्कृतिक, आर्थिक तथा राजनीतिक प्राणी है। साहित्य में सदैव मनुष्य के इस सम्पूर्ण रूप की ही अभिव्यक्ति मिलती है। चूँकि मनुष्य का चिन्तन और व्यवहार बहुत कुछ उसके युग के अनुरूप चलता है, इसलिये साहित्य में मनुष्य के माध्यम से उसके युग की भी अभिव्यक्ति होती है।

इस प्रकार जीवन के वे सभी क्रिया - व्यापार, जिनमें जन सामान्य के आपसी सम्बन्धों चाहे वे राजनीतिक, आर्थिक या धार्मिक - सांस्कृतिक —- किसी भी प्रकार के हों, की अभिव्यक्ति मिलती है। तथा उसकी युगीन चेतना भी उसके क्रिया - व्यापारों की अभिव्यक्ति

किये रहती है" – दोनों का ही अध्ययन लोक के वाङ्मय जीवन में आता है। इतना ही नहीं, जन सामान्य अपने जीवन में अनेक उपकरणों का भी उपयोग करता है जो उसके रहन-सहन में सहायक होते हैं तथा जिनसे उसके रहन - सहन और जीवन - विधियों का पता लगता है। इन उपकरणों का अध्ययन भी लोक - जीवन के अन्तर्गत ही आता है। इन उपादानों को लोक अपने व्यवहार के लिये स्वतः ही बनाता है। भारतवर्ष में यह उपादान समय - समय पर बनते - बिगड़ते रहे हैं। आज जिस रूप में और जो जीवन के उपादान हमें उपलब्ध हैं, उनके पीछे इस देश का सम्पूर्ण सांस्कृतिक इतिहास छिपा है। "जब हम जन जीवन के उपादानों की विविधता की बात सोचते हैं तो हमारे आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहता। जगत में जितनी भिन्न आकृतियाँ इस भारतभूमि में पड़ी हैं उतनी संसार के किसी अन्य देश में नहीं। कहा' - कहाँ से कितनी तरह की मिट्टियाँ काली, साँवली, गोरी, गेरुआ, पीली, भूरी आदि आदि भारतीय जन के काय निर्माण में सन कर एक में मिली हैं। आर्य, द्राविड़, निषाद, किरात, शक, पल्लव, पारद, यवन, हूण, तुषार, कम्बोज, चीन, खस, शब, असुर राक्षस, शबर, कोल, मुण्डा, टोडा, भील, कुकुर, पुलकस, नाग आदि अगणित जातियाँ उपजातियाँ भारतीय जन में मिली हुई हैं। इतिहास उनके आवागमन रहन सहन और घटने बढ़ने की रोमांचकारी कथाएँ कहता है।"[1] यहाँ हमारा उद्देश्य उन कथाओं को कहना नहीं है। अपितु वर्तमान कविता के सन्दर्भ में उन उपादानों का अध्ययन ही हमारा ध्येय है।

---

१ वासुदेव शरण अग्रवाल : भारत की मौलिक एकता, अ० ७, पृ० १२७, भारती भंडार, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, सं० २०११।

सामान्य जीवन

१- भोज्य पदार्थ

२- पात्रादि उपकरण

३- वस्त्राभूषण तथा शृंगार-प्रसाधन

४- आमोद-मनोरंजन के साधन

५- यात्रा

६- प्रकृति

७- निष्कर्ष

प्रथम अध्याय

सामान्य - जीवन

सामान्य जीवन में प्रयुक्त होने वाले उपकरणों में मुख्यत: पात्रादि उपकरण, वाहन, मनोरंजन के साधन, वस्त्र, आभूषण तथा भोज्य पदार्थ आदि सामग्रियाँ आती हैं, जिनका लोक के जीवन में दैनन्दिन महत्व है। इनके साथ ही लोक का दैनिक जीवन, उसमें प्रचलित सामान्य व्यवहार, प्रकृति से लोक - जीवन का सम्बन्ध, यात्राएँ आदि भी इसी के अन्तर्गत आती हैं। आवास व्यवस्था भी इसी का एक अंग है किन्तु उसका उल्लेख हम लोक का आन्तरिक जीवन में "लोक - कलाएँ" नामक अध्याय के अन्तर्गत कर चुके हैं।

कहना न होगा कि उपर्युक्त सभी बातें जीवन के विभिन्न भागों राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक आदि से पृथक् अपना अस्तित्व रखती हैं। यह भी कह सकते हैं कि जीवन की ये सभी धाराएँ लोक व्यवहार और उपकरणों की सीमाओं में बँध कर चलती हैं। अत: इस खण्ड में लोक के सामान्य जीवन के अध्ययन का अपना महत्व है जो लोक - जीवन की समस्त धाराओं के अध्ययन में पृष्ठभूमि का कार्य करता है।

१- भोज्य पदार्थ

लोक-जीवन के विभिन्न उपकरणों में भोजन सबसे पहला और आवश्यक उपकरण है। भारतवर्ष एक बहुत विभिन्नताओं वाला देश है किन्तु इन सभी विभिन्नताओं में कहीं न

कहीं एकता का एक सूत्र विद्यमान है। यहाँ प्रत्येक प्रान्त के भोजन की अपनी कुछ अलग विशेषताएँ हैं किन्तु फिर भी प्रायः सम्पूर्ण भारत शाकाहारी है।

लोक-जीवन में प्रचलित भोज्य पदार्थों को मोटे तौर पर पाँच भागों में विभक्त किया जा सकता है —— (1) पक्वान्न, (2) कच्चा भोजन, (3) रबिस (4) पुड़ीन, (5) सौंधरी। यह विभाजन निर्माण के आधार पर है। इसके अतिरिक्त खाने के आधार पर भी भोज्य पदार्थों को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है — ((1)) सहभोज्य, ((2)) अल्पाहार के भोज्य। स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कविता में थोड़ा-बहुत लगभग सभी प्रकार के भोज्य पदार्थों का उल्लेख हुआ है।

<u>पक्वान्न</u> : सामान्यतः वे सभी पदार्थ जो कढ़ाही पर बनते हैं अथवा जिनमें केवल घी का प्रयोग होता है, "पकी" (चूल्हे की अंगार वाली सीधी आग का नहीं, पक्वान्न कहलाते हैं। विशिष्ट उत्सवों पर, विवाह आदि आयोजनों पर तथा अभिजात वर्गों में प्रायः इनका निर्माण और प्रयोग होता है। इनमें पूड़ी, कचौड़ी, पुआ, हलवा तथा अन्य सभी प्रकार की मिठाइयाँ आ जाती हैं। लोक-जीवन में "छप्पन भोग" या "छत्तीसों व्यंजन" का मुहावरा इन्हीं पक्वान्नों के लिये प्रचलित है। ये ऐसे भोज्य पदार्थ हैं जिन्हें जाति भेद बाधित नहीं करता। भारत की सर्वाधिक अभिजात जाति — ब्राह्मण, जो अपनी शुद्धता के कारण किसी भी जाति के यहाँ कच्चा भोजन नहीं करती, वह भी पक्वान्न ब्राह्मणेतर जातियों के बनाए खा लेती है। लोक-जीवन में इन पदार्थों की महत्ता इसी बात से सिद्ध हो जाती है।

इसके ये अर्थ नहीं कि लोक - जीवन में प्रत्येक व्यक्ति प्रति — दिन पकवान्न ही खाता है। ये सभी पदार्थ गरिष्ठ होते हैं, इनको पचा सकना आसान नहीं। इसका अर्थ केवल इतना है कि ये अभिजात पदार्थ लोक की परिष्कृत रुचि को प्रकट करते हैं। अन्यथा भारत जैसे गरीब देश की जनता को ये पदार्थ प्रतिदिन उपलब्ध नहीं हैं। विशेष अवसरों पर इनका बनना इस बात को सूचित करता है कि लोक - जीवन में ये पदार्थ बड़ा महत्व की दृष्टि से देखे जाते हैं।

स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कविता में अपने सही रूप में ये चित्रित भी हुए हैं। लोक की भोजन सम्बन्धी महत्वाकांक्षा के प्रतीक ये पकवान्न आज के कवि की दृष्टि से भूखे व्यक्ति के स्वप्न हैं ——

"" मैं भूखा हूँ,
तरह - तरह के खानों का,
रंगीन तश्तरियों में
हुजूम लगा है,
पेड़े, बर्फी, गुलाबजामुन। "" [1]

इनके अतिरिक्त आलू के पराठे [2], पिट्ठी की कचौड़ियाँ, [3] पूड़ियाँ [4]

---

१ विनोद नन्दिनी : छवि : पृ० ४४, राजपाल एण्ड संस, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७२।

२ शकुन्त माथुर : चाँदनी चूनर, पृ० १५, साहित्य भवन, प्रा० लि० इलाहाबाद - ३, प्रथम संस्करण, १९६०।

३ —वही — पृ० १५।

४ मदन वात्स्यायन : तीसरा सप्तक, पृ० ८४, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, तृतीय संस्करण, १९६७।

सरसा,[१] आलूकाली,[२] गुझिया,[३] आदि भोज्य पदार्थों को भी इस कविता में स्थान मिला है। किन्तु इन पदार्थों के कविता में चित्रित होने मात्र से लोक - जीवन की सच्ची तस्वीर हमारे सामने नहीं आती है। और नहीं इन पक्वान्नों का कविता में अधिक चित्रण हुआ है।

<u>कच्चा भोजन</u> : यह शब्द प्राय: रोटियों के लिये प्रयुक्त होता है। इनके निर्माण में तवे के साथ - साथ घी का भी उपयोग होता है। इसके अतिरिक्त दालें, कढ़ी, भात आदि भी कच्चे भोजन के अन्तर्गत गिने जाते हैं। वस्तुत: ये पदार्थ भी अपने निर्माण में चूल्हे से उतार कर घी पर रख दिये जाते हैं। लोक में सामान्यत: इस कच्चे भोजन का ही अधिक प्रयोग होता है। उत्तरी भारत वर्ष के पश्चिमी भाग में दैनिक जीवन में प्राय: कच्चा और पक्का दोनों ही प्रकार का भोजन प्रचलित है। किन्तु पूर्वी भाग में कच्चे भोजन की ही अधिक प्रधानता है। वहाँ दोनों समय कच्चा भोजन रोटियाँ, चावल, दाल आदि बनते हैं जबकि पश्चिम में प्राय: प्रात: के भोजन में कच्चा खाना तथा सायं काल के भोजन में पराठे ।पक्का खाना। बनता है। इसी के आधार पर सम्भवत: उत्तर भारत के घरों में सखरे - निखरे[४] का विचार किया जाता है। पक्वान्न को भारत में विशेष महत्व की दृष्टि से देखने का एक प्रमाण यह भी है कि उसे "निखरा" भोजन समझा जाता है। कच्चे भोजन को छूकर पक्के भोजन को छूने के लिये पुन: हाथ धोने पड़ते हैं। इस प्रकार पक्का भोजन

---

१ शिव मंगल सिंह "सुमन", मिट्टी की बारात, पृ० ३५, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण।

२ गोपाल प्रसाद व्यास : अनारी नर, पृ० ३५, नेशनल पब्लिशिंग हाउस दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९६८।

३ -वही- पृ० ३५।

४ कच्चा खाना "सखरा" और पक्वान्न "निखरा" कहा जाता है।

अधिक पवित्र समझा जाता है। किन्तु भारतीय लोक - जीवन में यह अत्यन्त पवित्र भोजन, जो अभिजात वर्ग की विलासिता के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, अधिक प्रचलित नहीं है। कच्चा भोजन ही लोक - जीवन में विशेष प्रचलित है। रोटी, फुलका, फुलकिया, चपाती, सोंधिया, अँगा और बाटी आदि इसके अन्तर्गत आती हैं। इनमें अँगा और बाटी आरण्यक भोज्य हैं। इनमें तवे की बिल्कुल आवश्यकता नहीं पड़ती। मुख्य भोज्य इनमें रोटी ही है।

रोटी सामान्यत: गेहूँ की बनती है। वैदिक काल में "यव" शब्द के प्रयोग से[1] प्राचीन समय में जौ की रोटियों के प्रचलन का पता लगता है। वर्तमान भारत में, जिसे लगभग १००० वर्ष की गुलामी में बहुत कुछ लूट लिया गया है, जन सामान्य चुनी (दाल के छिलके) - भुसी (आटे की फटकन), बेझड़, मडुआ, मक्का, बाजरा आदि की रोटियाँ भी खाता है। इनमें मक्का, बाजरा, चना की रोटियाँ तो गेहूँ के समान ही सामान्य भोजन है। किन्तु कहीं - कहीं अधिक गरीब लोगों में मडुआ या बेझड़ तथा चुनी भुसी की रोटियाँ खाने के लिये भी सामान्य जन विवश है:-

"खाती नमक - तेल और रे मडुआ की रोटी कड़ी।"[2]

मडुए की कड़ी रोटियाँ हैं भी नमक और तेल है, सब्जी का अभाव, सामान्य से भी निम्न भोज्य ..... यही है भारतीय भोज्य पदार्थ जिस पर लोक-जीवन की इमारत खड़ी है। किन्तु भारतीय लोक-जीवन

---

१ वासुदेव शरण अग्रवाल : वैदिक साहित्य और संस्कृति, पृ० ४२६।

२ मदन वात्स्यायन : तीसरा सप्तक, पृ० ८६, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, तृतीय संस्करण, १९६७।

कार्य करता है । उनका सम्पूर्ण ज्ञान चूल्हे – चौके में सिमट कर रह जाता है । इस स्थिति पर व्यंग करते हुए रघुवीर सहाय की एक कविता में प्रतिदिन भात [१] के बनाने का भी उल्लेख हुआ है ।

इनमें सभी अन्न को कूट छर कर बनाए जाते हैं । इस प्रकार से भोज्य बनाने की परिपाटी भारत की बहुत प्राचीन परिपाटी है । पाणिनी के समय में इस विधि से "यावक" नामक यवान्न बनाये जाने का उल्लेख भी मिलता है । [२]

<u>भुजैन</u> : अन्न को भून कर बनाए जाने वाले भोज्य पदार्थों को ब्रज में भुजैन कहा जाता है । इसे चबैना भी कहते हैं । वर्तमान कविता में इनका उल्लेख नहीं है ।

<u>कौमरी</u> : अन्न को केवल पानी में भिगोकर या उबाल कर कौमरी बनाते हैं । ये प्राय: विशेष अवसरों पर स्त्रियों द्वारा गीत गाते हुए बाँटी जाती है । वर्तमान कविता में प्राय: इनका भी उल्लेख नहीं हुआ ।

<u>सह भोज्य</u> : जो भोज्य पदार्थ अकेले नहीं खाये जाते उन्हें सह भोज्य कह सकते हैं । जैसे दही, अचार, दाल, साग, चटनी, रायता, कढ़ी आदि । वर्तमान हिन्दी कविता में इनकी भी चर्चा हुई है।

---

१ रघुवीर सहाय : सीढ़ियों पर धूप में, पृ० १४८, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, १९६० ।

२ डा० वासुदेव शरण अग्रवाल : पाणिनी कालीन भारत वर्ष, पृ० १२६ । मोती लाल बनारसी दास, बनारस, २०१७ वि० ।

वास्तव में कविता सम्पूर्ण मनुष्य की अभिव्यक्ति करती है। कोई भी भाव या विचार इस बाह्य जीवन में लिप्त कर ही बाहर आता है। अस्तु भावों की अभिव्यक्ति में तथा प्राय: यथातथ्य अंकन में वर्तमान कवियों ने भोज्य पदार्थों का भी अंकन किया है। इनमें मुख्यत: कढ़ी,[1] अचार,[2] चटनी[3] आदि का उल्लेख वर्तमान कविता में मिलता है।

<u>अल्पाहार के भोज्य</u> — हिन्दी प्रदेश में अनेक ऐसे भोज्य पदार्थों का प्रचलन है जो अल्पाहार में लिये जाते हैं। पूरी के बड़े,[4] नानपाओ,[5] चाय, छोले, आलू, कुलचे, बिस्कुट,[6] बरी - मंगौरी, शिकंजी - लस्सी, कुल्फी - आइसक्रीम[7] आदि अत्यन्त लोक - प्रचलित अल्पाहार हैं। स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कविता में इन सभी का उल्लेख हुआ है। इनमें नानपाओ, बिस्किट, आइसक्रीम आदि यौरोपीय सभ्यता की देन हैं। इन्हीं में "लेमनचूस" जिसे बच्चे "लैमनचूस"[8] भी कहते हैं, भी आता है जो बच्चों का प्रिय खाद्य है। लैमनचूस की विभिन्न प्रकार की गोलियां बच्चे बड़े चाव से खाते हैं। अल्पाहार के इन भोज्यों

---

१ शकुन्त माथुर : चांदनी चूनर, पृ० १४, साहित्य भवन प्रा० लि० इलाहाबाद - ३, प्रथम संस्करण, १९६० ।

२ मदन वात्स्यायन : तीसरा सप्तक, पृ० ८४, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, तृतीय संस्करण, १९६७ ।

३ गोपाल प्रसाद व्यास : अजारी नर, पृ० ३४, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९६८ ।

४ शकुन्त माथुर : चांदनी चूनर, पृ० १५, साहित्य भवन प्रा० लि० इलाहाबाद - ३, प्रथम संस्करण, १९६० ।

५ - वही - पृ० ६ ।

६ उदयशंकर भट्ट : यथापर, पृ० १२७, आत्मा राम एण्ड संस, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९६३ ।

७ शकुन्त माथुर : चांदनी चूनर, पृ० १४, साहित्य भवन प्रा० लि० इलाहाबाद - ३, प्रथम संस्करण, १९६० ।

८ सर्वेश्वरदयाल सक्सेना : काठ की घंटियां, पृ० ३०३, भा०ज्ञा०काशी, प्र० सं०, १९५९ ।

का सर्वाधिक उल्लेख शकुन्त माथुर की कविताओं में हुआ है। लगभग सभी प्रकार के भोज्यों का उल्लेख इनकी कविताओं में मिलता है। इनके अतिरिक्त मदन वात्स्यायन, उदयशंकर भट्ट, दिनेश नन्दिनी, वीरेन्द्र कुमार जैन, रघुवीर सहाय आदि की कविताएं भी इस दृष्टि से उल्लेखनीय हैं। "नागार्जुन" की एक कविता में "तालमखाना"[1] खाने की भी चर्चा हुई है।

<u>अन्य भोज्य</u> : उपरोक्त भोज्य पदार्थों के अतिरिक्त कुछ ऐसे भी भोज्य हैं जो उपर्युक्त वर्गीकरण के अन्तर्गत नहीं आते। जैसे — गुड़,[2] डबलरोटी, केक[3] आदि। कुछ फल भी ऐसे हैं जो लोक-जीवन में प्रायः खाये जाते हैं। जैसे — बेर, महुआ, जामुन, आम, आँवला,[4] गन्ना[5], केला, अमरूद, मूँगफलियाँ, गरी[6] आदि।

भोजन में मसालों का सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान है। किन्तु इस कविता में इनका उल्लेख या तो केवल "मसाला"[7] पर कह कर

---

१ नागार्जुन : पाँच जोड़ बाँसुरी, पृ० ४३, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, १९६६।

२ सोम ठाकुर का एक प्रसिद्ध गीत।

३ गिरिजा कुमार माथुर : धूप के धान, पृ० २८, भारतीय ज्ञानपीठ काशी, तृतीय संस्करण, १९६६।

४ गोपी कृष्ण गोपेश : माध्यम, जनवरी १९६५, पृ० ४९, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग।

५ नागार्जुन : पाँच जोड़ बाँसुरी, पृ० ४३, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, १९६६।

६ गिरिजा कुमार माथुर : धूप के धान, पृ० २८, भारतीय ज्ञानपीठ काशी, तृतीय संस्करण, १९६६।

७ भवानी प्रसाद मिश्र, बुनी हुई रस्सी, पृ० ६१, सरला प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७१।

किया गया है या कहीं - कहीं "नमक" और "तेल"[1] की भी चर्चा हुई है। मिर्च का उल्लेख भी इस कविता में हुआ है[2]।

पूर्वी उत्तर प्रदेश और बिहार में ताड़ बहुत होता है। प्राय: लोग कच्ची व ताजा ताड़ी पीते हैं। वर्तमान कवि की दृष्टि में प्रात: काल आने वाली हवा भी मानो कच्ची ताड़ी पीकर आती है।[3] सुरती,[4] पान-बीड़ा[5] तथा सुपारी[6] भी घरों में खाई जाती है।

इस प्रकार स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कविता में अनेक लोक - प्रचलित भोज्य पदार्थों का उल्लेख हुआ है। ये भोज्य पदार्थ जहाँ पूर्णत: कुछ लोक के अपने हैं, वहीं कुछ भोज्य पदार्थ अभिजात वर्ग के भी हैं जो लोक में प्रचलित हुए हैं। साथ ही कुछ योरोप के प्रभाव से जो भोज्य पदार्थ भारत में लोक प्रचलित हुए हैं वे भी वर्तमान हिन्दी कविता में उल्लिखित हैं। स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कविता में भोज्य पदार्थों के इस अध्ययन से एक आश्चर्यजनक निष्कर्ष यह भी निकलता है कि महिला कवियों (कवयित्रियों)

---

१ उमाकान्त मालवीय : पाँच जोड़ बाँसुरी, पृ० १२७, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, १९६६।

२ शिव मंगल सिंह "सुमन" : पृ० ५४, राजपाल एण्ड संस, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७२।

३ नवीन : कविताएँ, १९६५ : पृ० ७१, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९६६।

४ शिवमंगल सिंह "सुमन" : पृ० ५४, राजपाल एण्ड संस, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७२।

५ सर्वेश्वर दयाल सक्सेना : काठ की घण्टियाँ, पृ० ४०४, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, १९५९।

६ -वही- पृ० ४०७।

की कविताओं में अधिकतः पक्वान्नों तथा पुराने कवियों की कविताओं में अधिकतः कच्चे भोजन का उल्लेख हुआ है। कितना बड़ा साम्य है कि लोक - जीवन में भी सभी उत्सव और त्योहारों पर जिन में महिलाओं की प्रधानता रहती है पक्वान्न बनते हैं तथा पुरुषों के त्योहारों पर कच्चा भोजन बनता है। जैसे दशहरा, रक्षाबन्धन आदि पर कच्चा भोजन तथा दीपावली, होली आदि पर पक्वान्न ही बनते हैं। यहां ध्यातव्य है कि भारतवर्ष के अधिकांश उत्सव महिलाओं से ही सम्बद्ध हैं। और इसका कारण यहां की समाज - व्यवस्था है।

२- पात्रादि उपकरण

दैनिक जीवन में काम आने वाले अनेक उपकरणों को भी इस कविता में स्थान मिला है। इन उपकरणों को अध्ययन की सुविधा के लिये हम तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं - (१) खान-पान से सम्बद्ध - पात्र (२) आसन और शयन सम्बन्धी उपकरण (३) दैनिक उपयोग की छोटी - छोटी वस्तुएं।

खान-पान से सम्बन्धित उपकरण : पात्रादि उपकरण का उल्लेख अधिकतः उन्हीं कविताओं में है जहां किसी दृश्य का यथातथ्य अंकन किया गया है। केवल घड़े[1] का प्रयोग रूपक के रूप में या मुहावरे के रूप में किया गया है —

---

१ रामदरश मिश्र : पांच जोड़ बांसुरी, पृ० ६७, भारतीय ज्ञानपीठ काशी, प्रथम संस्करण, १९६६।

"घड़े के घड़े "[१] । मिट्टी के घड़े का ही एक रूप "गगरी "[२] भी होता है। जो आकार में घड़े से छोटा होता है। "गगरिया " भी इसी को कहते हैं। कहीं - कहीं इन्हें "मटकियां " भी कहा जाता है। इनके अतिरिक्त धातु के बने घड़े जैसे ही बर्तनों को "टोकनी "[३] कहते हैं, यह भी पानी भरने के काम आती है। किन्तु पूर्णतः घड़े के आकार के धातु निर्मित पात्र को "कलश "[४] कहा जाता है जिसे बोलचाल में "कलसा " और छोटा होने पर "कलसी "[५] कहते हैं। इसके अतिरिक्त डोल, गिलास, प्याले, कटोरियां, पतीली, हँडिया, कठौते, परात आदि का भी लोक के दैनिक जीवन में अनिवार्य रूप से प्रयोग होता है। इनमें "डोल "[६] लोहे की एक भारी बाल्टी को कहते हैं जिसके द्वारा कुंए से पानी भरा जाता है। शीशे के गिलासों[७] का भी प्रयोग अब जन - साधारण में पानी पीने के लिये होने लगा है। चीनी मिट्टी की बनी प्यालियां, जिनमें पकड़ने के लिये टोंटियां बनी रहती हैं,[८] और जो कभी - कभी टोंटी टूटने पर कटोरी जैसी हो जाती है। स्वातन्त्र्योत्तर

---

१ अज्ञेय : अरी ओ करुणा प्रभामय, पृ० १५६, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, १९५९ ।

२ शिवमंगल सिंह "सुमन " : पृ० ५४, राजपाल एण्ड सं०, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७२ ।

३ शकुन्त माथुर : चांदनी चूनर, पृ० ६५, साहित्य भवन प्रा० लि०, इलाहाबाद - ३, प्रथम संस्करण, १९६० ।

४ भवानी प्रसाद मिश्र : बुनी हुई रस्सी, पृ० ७०, सरल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७१ ।

५ वीरेन्द्र कुमार जैन : शून्य पुरुष और वस्तुएं, पृ० ७८, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, अक्टूबर, १९७२ ।

६ भवानी प्रसाद मिश्र : गांधी पंचशती, पृ० १८५, सरल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९६९ ।

७ वीरेन्द्रकुमार जैन: शून्य पुरुष और वस्तुएं, पृ०१३१, भा०ज्ञा०काशी, प्र०सं० १९७२।

८ नीलमसिंह : पांच जोड़ बांसुरी, पृ०१५५, भा०ज्ञा०काशी, प्र०सं० १९६९ ।

कवि की दृष्टि से " कान टूटी प्यालियाँ "[१] ही नहीं अपितु दीनता पूर्ण विवशता को प्रकट करने वाली टूटी हुई पतीलियाँ भी ओझल नहीं हो सकी हैं —

"" चकत्ते को रगड़ कर
मिटा देने के लिये
सिर्फ उबलते शरीर ही काफी नहीं हैं
जब कि हमारा चेहरा
रसोई घर की फूटी पतीलियों के ठीक
सामने है और रात
उस वक्त रास्ता नहीं होता । ""[२]

ये पतीलियाँ प्रायः पीतल की बनी होती हैं तथा रसोई में दाल बनाने तथा " भात पकाने "[३] के काम आती हैं । " हँड़िया "[४] मिट्टी का बना पात्र होता है जो प्रायः घरों में दूध रखने तथा गरम करने के काम

---

१ मदन वात्स्यायन : तीसरा सप्तक, पृ० ८७, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, तृतीय संस्करण, १९६७ ।

२ धूमिल : संसद से सड़क तक, पृ० ३०, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७२ ।

३ रघुवीर सहाय : सीढ़ियों पर धूप में, पृ० १४८, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, १९६० ।

४ गिरिजा कुमार माथुर : धूप के धान, पृ० ६१, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, तृतीय संस्करण, १९५५ ।

जाता है। " कठौती "[1] लकड़ी के बने कुछ गहरे तथा चौड़े बर्तन होते हैं। ये लोक - जीवन में सर्वाधिक प्रचलित पात्र हैं। " परात "[2] भी लोक - जीवन में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखती है। ये कांसे (फूल) अथवा पीतल की बनी होती हैं। इनको घरों में जल भरने, आटा गूंधने आदि के काम में लिया जाता है। यही पात्र लोहे का बना होने पर " तसला "[3] कहलाता है। इसमें बरतन साफ़ करने के लिये पानी रखा जाता है, कभी कभी इसमें पानी भी पिलाया जाता है, रातब - दाना भी पशुओं को इसमें दिया जाता है। भोजन रखने के लिये घरों में जिस ढक्कनदार बर्तन का प्रयोग होता है उसे " कटोरदान "[4] कहते हैं। भोजन करने के लिये थाली का प्रयोग होता है उसे कभी - कभी पूजा में आरती आदि के लिये भी प्रयुक्त किया जाता है। बड़े आकार की थाली को " थाल "[5] कहा जाता है। जल पीने के लिये गाँवों में अधिकतर लोटे[6] का प्रयोग होता है। लोटा लोक - जीवन में जल - भरने और पीने आदि के लिये एक आवश्यक पात्र है।

---

1 गिरिजा कुमार माथुर : धूप के धान, पृ० ६१, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, तृतीय संस्करण, १९५५।

2 सर्वेश्वर दयाल सक्सेना : पाँच जोड़ बाँसुरी, पृ० ७०, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, १९६९।

3 शकुन्त माथुर : चाँदनी चूनर, पृ० ६६, साहित्य भवन प्रा० लि०, इलाहाबाद - ३, प्रथम संस्करण, १९६०।

4 गिरिजा कुमार माथुर : धूप के धान, पृ० २६, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, तृतीय संस्करण, १९५५।

5 सर्वेश्वर दयाल सक्सेना : काठ की घण्टियाँ, पृ० ३६०, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, १९५९।

6 शिवमंगल सिंह " सुमन " : पृ० ५४, राजपाल एण्ड संज़, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७२।

स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कविता में इन पात्रों का ही नहीं अपितु इनके सहायक उपकरणों का भी उल्लेख हुआ है। पनघट से पानी भर कर लाने के लिये गाँवों में रस्सी [1] के साथ - साथ बहँगियाँ [2] भी बहुत उपयोगी होती हैं। रस्सी जहाँ कुएँ से पानी खींचने में सहायक होती है वहाँ " बहँगियों " में पानी के अनेक भरे हुए बर्तन एक साथ ढोये जा सकते हैं। इनका प्रयोग कहार, धीमर आदि पानी भरने वाली जातियाँ ही अधिक करती हैं। रस्सी के पतले रूप को " डोर " [3] कहा जाता है। इससे बड़े बर्तनों को तो नहीं किन्तु छोटे और हल्के बर्तनों को फँसा कर कुएँ से पानी खींचा जा सकता है। स्त्रियाँ कुओं से घर तक पानी भर कर लाने के लिये चैथड़ों की या सन की बनी हुई " इँडुली " या " गेंडुरी " [4] का भी प्रयोग करती हैं। सर पर अनेक भरे हुए घड़ों को रखकर चलने में यह बहुत सहायक होती है। इसके कारण सर पर घड़ों का संतुलन नहीं बिगड़ पाता।

<u>आसन तथा शयन के उपकरण</u> — आसन या बैठने के लिये तथा शयन के के लिये लोक-जीवन में अनेक उपकरणों का प्रयोग होता है। स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कविता में " मचिया " [5]

---

१ गिरिजा कुमार माथुर : धूप के धान, पृ० ६२, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, तृतीय संस्करण, १९६६।

२ शकुन्त माथुर : चाँदनी चूनर, पृ० ६६, साहित्य भवन प्रा०लि०, इलाहाबाद - ३, प्रथम संस्करण, १९६०।

३ अम्बाशंकर नागर : चाँद चाँदनी और कैक्टस, पृ० ३८, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७१।

४ शिवमंगल सिंह " सुमन ", पृ० ५८, राजपाल एण्ड संज़, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७२।

५ गिरिजा कुमार माथुर : धूप के धान, पृ० ६१, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, तृतीय संस्करण, १९६६।

(छोटी खाट या खटोला), पलंग[1], कुर्सी[2] आदि का उल्लेख हुआ है।

शयन के लिये बिछाने तथा ओढ़ने के वस्त्रों में कम्बल,[3] चादर[4], तकिया[5], रजाई[6] आदि लोक-जीवन के दैनिक प्रयोग में आते हैं। "रजाई" को "लिहाफ़"[7] भी कहा जाता है। स्वयं कविगण जाड़े के दिनों में कविता लिखते समय भी रजाई का त्याग नहीं करते —

"लिपटा रजाई में
मोटे तकिये पर धर कविता की कापी
ठंडक से अकड़ी उँगलियों से कलम पकड़
मैं यह जीवन की गली-गली नापी।"
— सर्वेश्वर।

---

1 भवानी प्रसाद मिश्र : गांधी पंचशती, पृ० १५६, सरल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९६९।

2 — वही — पृ० १०३।

3 गिरिजा कुमार माथुर : धूप के धान, पृ० ५१, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, तृतीय संस्करण, १९६६।

4 त्रिपुरारि रमन : नारों के अन्धे शहर में, पृ० ४८, हेमन्त प्रकाशन, प्रथम संस्करण, १९७०।

5 शमशेर बहादुर सिंह : कुछ और कविताएँ, पृ० ४७, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९६१।

6 सर्वेश्वर दयाल सक्सेना : काठ की घण्टियाँ, पृ० ३२८, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, १९५९।

7 वीरेन्द्र कुमार जैन : शून्य पुरुष और वस्तुएँ, पृ० १६६, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, अक्टूबर १९७२।

<u>दैनिक उपयोग की वस्तुएं</u> — अनेक दैनिक उपयोग की वस्तुओं का भी उपर्युक्त आवश्यक उपकरणों के अतिरिक्त है, स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कविता में उल्लेख हुआ है। टोकरी तथा टोकनी भी प्राय: अरहर की लौद से बनाई जाती है, दैनिक जीवन में गोबर ढोने तथा फूल एकत्रित करके रखने के काम आती हैं। किन्तु घर में इनका प्रयोग करनेवाली यदि न हो तो ये किस प्रकार व्यर्थ ही घर के कोनों में पड़ी रहती हैं इसका वर्णन वीरेन्द्र कुमार जैन की " याद गई है फूल बीनने " शीर्षक कविता में हुआ है —

> " गोबर की टोकरी सुन्न पड़ी है कोने में
> निर्माल्य संध्या के फूल हैं सूखी टोकनी में "।[1]

इनके अतिरिक्त सन्दूक,[2] खैंचा,[3] लट्ठ - मुगद - रास - गोबर,[4] दीपक - दीवट,[5] दरपन[6] आदि भी दैनन्दिन प्रयोग की वस्तुएं हैं।

---

1 वीरेन्द्र कुमार जैन : शाश्वतिकी, पृ० ७६, बिहार ग्रन्थ कुटीर, पटना - ४, प्रथम संस्करण, १९६६ ।

2 मुक्तिबोध : चाँद का मुँह टेढ़ा है, पृ० १८, भारतीय ज्ञानपीठ काशी, प्रथम संस्करण, १९७१ ।

3 अजितकुमार : कविताएं १९५४, पृ० ३२, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९५५ ।

4 गिरिजा कुमार माथुर : धूप के धान, पृ० ६१-६२, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, तृतीय संस्करण, १९६६।

5 दीपक रखने के लिये लकड़ी का बना एक उपकरण ।

6 रमेश कुमार शर्मा : एक अपरिचित आकाश, पृ० ५३, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७३ ।

लोक में "सूप"[1] एक अनिवार्य उपकरण है जो मूंज की डण्ठी जिस पर फूल लगता है (इसे "तुरी" कहते हैं) से बनता है। यह उपकरण घरों में नाज फटकने के काम आता है। सामान लाने ले जाने के लिये घरों में कपड़े के "थैलों"[2] का भी प्रयोग होता है। इतना ही नहीं स्वातन्त्र्योत्तर कवियों ने उपर्युक्त उपकरणों के साथ - साथ चूल्हा,[3] लकड़ी,[4] अँगीठी[5] आदि का भी उल्लेख अपनी कविताओं में किया है।

३- वस्त्राभूषण तथा श्रृंगार - प्रसाधन

वस्त्राभूषण तथा श्रृंगार प्रसाधनों के माध्यम से लोक की अभिरुचि प्रकट होती है। साथ ही तत्सम्बन्धी उसकी परम्पराओं का भी उनसे पता लगता है।

वस्त्र — अभिजात और नागरिक जीवन में नित्य बदलते हुए फैशनों के परिणाम स्वरूप जो विभिन्नता वस्त्रों में दीखती है, लोक-जीवन में वह दिखाई नहीं देती। हाँ, कभी - कभी कोई विशेष वस्त्र भी

---

१ सर्वेश्वर दयाल सक्सेना : काठ की घण्टियाँ, पृ० ३२८, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, १९५९।

२ -वही - पृ० ३२८।

३ -वही - पृ० ३१६।

४ रघुवीर सहाय : सीढ़ियों पर धूप में, पृ० १४८, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, १९६०।

५ शकुन्त माथुर : चाँदनी चूनर, पृ० १४, साहित्य भवन प्रा० लि०, इलाहाबाद - 3, प्रथम संस्करण, १९६०।

किसी अन्य प्रदेश के लोक - जीवन में प्रचलित होता है, अवश्य दूसरे प्रदेश के लोक - जीवन में स्थान बना लेता है । स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कविता में जिन वस्त्रों का उल्लेख हुआ है उनको अध्ययन की सुविधा के लिये हम दो भागों में बाँट सकते हैं -- ।१। पुरुषों के वस्त्र, ।२। स्त्रियों के वस्त्र ।

।१। पुरुषों के वस्त्र - इन में साधारणतः कुर्ता, धोती का ही अधिक प्रचलन लोक - जीवन में देखा जाता है । लोक में साधारणतः मोटे और सूती वस्त्र ही पहने जाते हैं । कभी - कभी विशेष अवसरों पर असाधारण वस्त्र भी पहने जाते हैं । भवानी प्रसाद मिश्र लोक - जीवन में प्रचलित कुर्ता - धोती को अपने शरीर से उतारना नहीं चाहते । ये उनकी सांस्कृतिक परम्परा के प्रतीक हैं :-

"" मैं उतारना नहीं चाहता आखिर अपने बाने
धोती कुरता बहुत दौर से लिपटाये हूँ जाने ।। ""[१]

स्नान के उपरान्त प्रायः जन सामान्य धोती पहन लेता है किन्तु आजकल यौरोपीय सभ्यता के परिणाम स्वरूप चड्ढी, बनियान,[२] तथा तौलिया[३] का प्रचलन भी हो गया है । इसके अतिरिक्त बहुत से आदिवासी कबीलों

---

१ भवानी प्रसाद मिश्र : गांधी - पंचशती, पृ० १७७, सरला प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९६९ ।

२ भवानी प्रसाद मिश्र : बनी हुई रस्सी, पृ० ३५, सरला प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७१ ।

३ शिव मंगल सिंह "सुमन", पृ० ५८, राजपाल एण्ड सं०, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७३ ।

में " कन्था " (एक बहुत मोटा भगुला जैसा कुर्ता) नामक वस्त्र भी पुरुष पहनते हैं। सन्यासी भी इसे पहनते हैं। सामान्यत: भारत का गरीब ग्रामीण थिगलियाँ लगे कन्थे पहनता है। अज्ञेय की एक कविता में शैलों में दूर - दूर उगे कुशों को थिगली लगे कन्थे का रूपक दिया गया है —

" कितनी हैं थिगलियाँ पुराने इस कन्थे पर।
सिलीं
मूँज की या पगडंडी की जर्जर डोरी से
उपयोगी थिगलियाँ। " १

जाड़े के दिनों में अब गाँवों तक में कोट पहना जाने लगा है। पहले प्राय: कालकम्बी, या रूई की फतोई पहनी जाती थी। किन्तु योरोपीय प्रभाव के कारण अब कोट भी जन सामान्य में प्रचलित हो गया है। गरीब ग्रामीण नया कोट नहीं सिलवा पाता अत: वह पिता का ही फटा-पुराना कोट पहन लेता है —

" ऐ मेरी सन्तान। मैं तुमको सौंपता हूँ
एक बूढ़ा कोट अनगिन थेगलियों वाला
जिसे मैं पहन कर
गुजर आया हूँ निरर्थक वेदना के जंगलों से। " २

---

१ अज्ञेय : बावरा अहेरी, पृ० ३२, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, द्वितीय संस्करण, फरवरी, १९७२।

२ कुमार विकल : कविताएँ १९६५, पृ० २८, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९६६।

यहाँ "बुर्का ओट" परम्परा से चली आती हुई सामाजिक मर्यादाओं के प्रतीक रूप में प्रस्तुत हुआ है। किन्तु कहीं - कहीं जहाँ दुःखों का यथार्थ अंकन हुआ है वहाँ बिना प्रतीकों के इन लोक - प्रचलित वस्त्रों का उल्लेख हुआ है। भारत का गरीब मजदूर फटी हुई "मिरजई" [1] कभी - कभी केवल लँगोटी या धोती ही पहने रहता है। [2]

(२) <u>स्त्रियों के वस्त्र</u> — भारत वर्ष के प्रत्येक प्रान्त में स्त्रियों का प्रमुख वस्त्र "साड़ी" [3] है। जिसे अनेक कविताओं में स्थान मिला है। सामान्यतः स्त्रियाँ धोतियाँ ही पहनती हैं किन्तु विशेष अवसरों पर साड़ियों का ही प्रचलन है। [4] लड़कियाँ प्रायः विशेष अवसरों पर सलवार - दुपट्टा, अथवा कभी - कभी "गरारा" [5] भी पहनती हैं। वास्तव में ये पंजाब के लोक - जीवन में प्रचलित वस्त्र हैं, किन्तु पूरे उत्तर भारत में अब इनका प्रचलन विशेष वस्त्रों के रूप में हो गया है। वीरेन्द्र कुमार जैन की एक कविता में एक बालिका का रूप इस प्रकार चित्रित हुआ है —

---

१ "बगलबन्दी" का दूसरा नाम है।

२ शिवमंगल सिंह "सुमन", पृ० ४८, राजपाल एण्ड संस, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७२।

३ मुक्तिबोध : चाँद का मुँह टेढ़ा है, पृ० १९८, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७१।

४ भवानी प्रसाद मिश्र : गांधी - पंचशती, पृ० २३५, सस्ता प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९६९।

५ गोपाल प्रसाद व्यास, [illegible], पृ० ८०, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९६८।

" तीसरे पहर की धूप - छाँव में
बादामी हरा सलवार - दुपट्टा पहने
एक बालिका चली आ रही अकेली
कमर पर कलसी धरे । " [1]

मुसलमानों में भी सलवार, दुपट्टा या चुस्त पायजामा स्त्रियों के बहुत प्रचलित वस्त्र हैं । औरतों में लहंगा तथा घाघरा [2] भी है । नीले रंग के लहंगे पर लाल चुनरी ओढ़े हुए शिव मंगल सिंह "सुमन" अपनी नायिका के सम्बन्ध में कहते हैं —

" चुनरी लाल, नीला लहंगा
बिखरे कुन्तल, उभरे उरोज
किस चपल कन्हैया को उनकी
कजरारी आँखें रहीं खोज । " [3]

गिरिजा कुमार माथुर "साँझ" को एक लहंगा - फरिया पहने गुजरी के रूप में देखते हैं —

---

१ वीरेन्द्र कुमार जैन : शून्य पुरुष और वस्तुएँ, पृ० ७८, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, अक्टूबर, १९७२ ।

२ सर्वेश्वर दयाल सक्सेना : काठ की घंटियाँ, पृ० ७०, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, १९५९ ।

३ शिवमंगल सिंह "सुमन" : पृ० ५७, राजपाल एण्ड संस, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७२ ।

"साँझ पिघलती दिन ढुरे
फरिया सल्मों के तार की
+ +
लँहगा स्याह अम्बर में पहने
स्याम वरन की गूजरी ।" [1]

कवियों ने कहीं - कहीं कुछ आँचलिक वस्त्रों को लेकर भी गीत लिखे हैं —

" मालवा के घाघरे
मेरा मन घेर गये ।
आँचल चुनरिया के जादू सा फेर गये ।" [2]

उत्तरीय वस्त्रों में चुनरिया, फरिया, दुपट्टा की चर्चा बिल्कुल सिर्फ "सुमन", गिरिजा कुमार माथुर तथा वीरेन्द्र कुमार जैन के उपर्युक्त उदाहरणों में आ ही चुकी है। इनका एक रूप "ओढ़नी" [3] और होता है यह भी इन कविताओं में आया है। इनमें चुनरिया प्रायः रेशमी और झीनी होती है किन्तु "फरिया" अपेक्षाकृत मोटी और सूती होती है। "ओढ़नी" विवाह आदि पर पहनी जाती है। इसका रंग प्रायः पीला या लाल होता है। इसका मारवाड़ियों में मुख्य रूप से

---

१ गिरिजा कुमार माथुर : शिलापंख चमकीले, पृ० ३, साहित्य भवन प्रा० लि०, इलाहाबाद – ३, प्रथम संस्करण, १९६१ ।

२ नईम : पाँच जोड़ बाँसुरी, पृ० १४५, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, १९६९ ।

३ वीरेन्द्र कुमार जैन : शून्य पुरुष और वस्तुएँ, पृ० ८६, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, अक्टूबर, १९७२ ।

प्रचलन है। दुपट्टा प्राय: मलमल का होता है और सफेद होता है। इनके अतिरिक्त केवल स्तनों पर पहने जाने वाले वस्त्रों में चोली,[1] अँगिया,[2] जम्पर, ब्लाउज, का उल्लेख भी इन कविताओं में हुआ है। वस्त्रों के पहनने की "प्राक"[3] भी इन कवियों की दृष्टि से ओझल नहीं हो सकी है। गिरिजा कुमार माथुर की "शाम की धूप" शीर्षक कविता में इन वस्त्रों के अलगनी पर सूखने का सुन्दर चित्रण हुआ है।

स्त्री पुरुषों के इन वस्त्रों के अतिरिक्त अन्य वस्त्रों का भी इन कविताओं में उल्लेख हुआ है। रूमाल,[4] दुशाले,[5] चादर या चदरी आदि कुछ ऐसे वस्त्र हैं जिन्हें स्त्री तथा पुरुष दोनों ही धारण करते हैं। इनमें चादर प्राय: पुरुषों का ही उत्तरीय है। बच्चे (लड़के और लड़कियाँ दोनों ही) ठण्ड से बचने के लिये प्राय: इसे पहनते हैं।

भारतवर्ष में इसका सम्बन्ध कृष्ण से जुड़ गया है। वे भी इसी जाति के थे। अत: इसके साथ लोक की एक धार्मिक आस्था भी है। इसीलिये भारत में प्राय: पुरुष इसे ओढ़ते हैं। क्योंकि तन के साथ, मन से भी वह इसीलिये लिपटती है -

---

1 नईम : पाँच जोड़ बाँसुरी, पृ० १४५, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, १९६९ ।

2 शकुन्त माथुर : चाँदनी चूनर, पृ० १५, साहित्य भवन प्रा० लि०, इलाहाबाद - ३, प्रथम संस्करण, १९६० ।

3 गिरिजा कुमार माथुर, धूप के धान, पृ० २४, भारतीय ज्ञानपीठ काशी, तृतीय संस्करण, १९६६ ।

4 -वही - पृ० २५ ।

5 माखनलाल चतुर्वेदी : पाँच जोड़ बाँसुरी, पृ० ७ भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, १९६९ ।

सौंधी जिसकी सौंधी
चूनर
भीगी - भीगी
भारी - भारी
उसके तन से मन से लिपटी ।[1]

विवाह के अवसर पर उत्तर भारत में सिधोरी - सिंधोरा की प्रथा है। यह प्राय: लाल वस्त्र के कपड़े में शृंगार - प्रसाधन लपेट कर तैयार किया जाता है। लड़के वाला भाँवरों के समय लड़की वाले को इसे देता है। प्राय: बड़े - घरों में यह और भी सुन्दर वस्त्र में लपेटा जाता है। कभी - कभी जन सामान्य भी " बड़ी - बड़ाई " (अपनी रईसी और कभी - कभी मन की खुशी प्रकट करने के लिये भी) इसके लिये मखमल आदि का उपयोग करता है। सर्वेश्वर दयाल सक्सेना की एक कविता में इसे भी स्थान मिला है। वे आकाश को नीले रंग के चाँद सितारों वाले मखमली कपड़े में लिपटे सिंधोरा के रूप में देखते हैं।[2]

इस प्रकार वर्तमान हिन्दी कविता में लोक - प्रचलित वस्त्रों का भी पूर्ण उल्लेख एवं चित्रण हुआ है। भवानी प्रसाद मिश्र की " जाकिट मेरे नाने ", नरेश की " मालवा के घाघरे, " कुमार विकल की " कुर्ता कोट ", बच्चन की " चूनर " आदि कविताओं के तो

---

१ बच्चन : जाल समेटा, पृ० ६६, राजपाल एण्ड संस, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७३ ।

२ सर्वेश्वर दयाल सक्सेना : तीसरा सप्तक, पृ० २१६, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, तृतीय संस्करण, १९६७ ।

नाम ही वस्त्रों के नाम पर रखे गए हैं। इनके अतिरिक्त गिरिजा कुमार माथुर, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, वीरेन्द्र कुमार जैन, शिवमंगल सिंह "सुमन", अज्ञेय, आदि की कविताओं में भी लोक-प्रचलित वस्त्रों का वर्णन हुआ है। यह वर्णन कहीं सीधे यथातथ्य अंकन के रूप में और कहीं उपमान या प्रतीकों के रूप में हुआ है। अधिकतः यह वर्णन सीधे और यथातथ्य अंकन के ही रूप में हुआ है।

<u>आभूषण</u> – आभूषणों का प्रचलन प्राचीन काल से ही लगभग सम्पूर्ण विश्व में रहा है। ये आभूषण प्रायः स्त्रियों के लिये ही होते हैं किन्तु भारतवर्ष में पुरुष भी आभूषण पहनते थे। वेदों में पुरुषों के पहनने के "ओपश",[1] खादिका,[2] निष्कग्रीव[3] आदि आभूषणों का उल्लेख मिलता है। इसके अतिरिक्त लोकगीतों में भी पुरुष वर्ग के अनेक आभूषण – जंजीर, तोड़ा, पचलड़ी एवं हार आदि का उल्लेख मिलता है। किन्तु आजकल पुरुषों में आभूषणों का प्रचलन लगभग समाप्त सा है। इसका कारण आर्थिक है। लम्बी परतन्त्रता में भारत का निरन्तर शोषण होता रहा है। जिससे भारत की आर्थिक स्थिति गिरी है तथा बहुत सी परम्पराएँ अर्थाभाव के कारण भी समाप्त हुई हैं। किन्तु स्त्रियों में अभी भी आभूषणों के प्रति मोह है। इसके

---

१ पुरुषों का मस्तक पर पहना जाने वाला आभूषण ।ऋग्वेद १०-८५-८।

२ कंकण जैसा आभूषण जिसे पुरुष पहनते थे ।ऋग्वेद ५-५८-२।

३ गले से सटा हुआ जंजीर जैसा आभूषण जिसे पुरुष पहनते थे । ।ऋग्वेद ५-१९-३।

दो कारण है — एक तो आभूषणों को सौन्दर्य का प्रसाधन माना जाता है। दूसरा आभूषण धन संचय का भी साधन है। अधिक आभूषण अधिक सम्पत्ति हो[?] है। ये आभूषण प्राय: सोने या चाँदी के होते हैं। कहीं - कहीं काँसे और ताँबे के भी पहने जाते हैं। निर्धनकर [illegible] तो बहुत से परिवारों में काँसे के ही पहने जाते हैं। काँसा, पीतल और ताँबे को मिलाकर बनायी गई एक मिश्रित धातु है। किन्तु अधिकतर सोने तथा चाँदी के ही आभूषण बनते हैं तथा इनमें अनेक मणियाँ भी जड़ी जाती हैं जिससे ये आभूषण और भी मूल्यवान हो जाते हैं। अपने मूल्य और सौंदर्य प्रसाधक होने के कारण स्त्रियों में इनका प्रचलन सर्वाधिक है। वर्तमान साहित्य में पुरुषों के आभूषणों का उल्लेख नहीं मिलता है। फिर भी आभूषणों का प्रचलन इस देश में बहुत प्राचीन है। पाणिनी के समय में चार प्रकार के — अंगुलीय, कर्णिका, ललाटिका, ग्रैवेयक —— आभूषणों का उल्लेख प्राप्त होता है।[1] वेदों में भी जहाँ पुरुषों के लिये आभूषणों का उल्लेख है, वहाँ स्त्रियों के भी कुम्ब,[2] रुक्मवक्ष,[3] निष्क[4] आदि आभूषणों का उल्लेख है।

स्वातन्त्र्योत्तर काव्य में जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं पुरुषों के आभूषणों का उल्लेख नहीं है किन्तु स्त्रियों के अनेक आभूषणों की चर्चा इसमें हुई है। ये आभूषण दो प्रकार के हैं —— १- वे जो केवल सौन्दर्य

---

१ वासुदेव शरण अग्रवाल : पाणिनी कालीन भारत वर्ष, पृ० १३८,

२ बालों में पहनने का आभूषण।

३ "वक्ष:सु रुक्मा उपशिश्रियाणा:" - ऋग्वेद ७।५६।१३ ।

४ ऋग्वेद २।३३।१० तथा ५।१९।३ ।

प्रसाधक समझी जाती है, ~ ये जो सौन्दर्य प्रसाधन के साथ - साथ सौभाग्य सूचक भी मानी जाती हैं तथा जिनका पहनना विवाहित स्त्रियों के लिये अनिवार्य समझा जाता है। वस्तुत: भारतवर्ष में नारी का पुरुष के प्रति पूर्ण समर्पण ही श्रेयस्कर माना जाता है जिसके अनुसार स्त्री का रूप सौन्दर्य, शृंगार आदि सभी कुछ पुरुष से और पुरुष के लिये है। अत: अनेक आभूषणों का सम्बन्ध नारी के सौभाग्यवती होने से हो गया है। वर्तमान हिन्दी कविता में हाथ (मणिबन्ध), उंगलियां, भुजा, शीश, माथा, कान, कण्ठ, पैर आदि में पहने जाने वाले नारी के अनेक आभूषणों का उल्लेख है।

पैरों में पहने जाने वाले आभूषणों में पायल सर्वाधिक प्रचलित आभूषण है। यह प्राय: नृत्य के समय पहना जाता है तथा चाँदी का बना होता है। ये चाँदी के भी होते हैं। पैरों में पहनी जाने वाली तोड़िया के समान यह भी होती है किन्तु इसमें बड़े-बड़े घुंघरू होते हैं, जो चलने के साथ बजते हैं। तोड़िया में घुंघरू नहीं होते। पायल को प्राय: नयी बहुएं ही पहनती हैं। सास-ननद के परिवार में अभिसारिका की बजती हुई पायल उसके लिये समस्या बन जाती है।[1] किन्तु इस आभूषण का सम्पूर्ण सौन्दर्य इसकी ध्वनि में ही है। सुमित्रानन्दन "पन्त" के एक गीत में पायल की रुनझुन सुनने की इच्छा व्यक्त की गई है।[2] "पायल" और तोड़िया के बीच का स्वरूप "पैजनिया"[3]

---

1 उमाकान्त मालवीय : मेंहदी और महावर, पृ० २०, साहित्य भवन, इलाहाबाद - ३, प्रथम संस्करण, १९६३।

2 सुमित्रानन्दन पन्त : पाँच चौड़ बाँसुरी, पृ० १९, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, १९६९।

3 उमाकान्त मालवीय : मेंहदी और महावर, पृ० ३८, साहित्य भवन, इलाहाबाद - ३, प्रथम संस्करण, १९६३।

मणिबन्ध से भी ऊपर भुजा में पहना जाने वाला आभूषण "बाजूबन्द"[१] या भुजबन्द[२] कहलाता है। स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कविता में इसके इन दोनों ही नामों का प्रयोग किया गया है।

गले में पहना जाने वाला अत्यन्त मूल्यवान और लोकप्रिय आभूषण "हार" है। यह अपनी लम्बाई में वक्षस्थल को छूता रहता है। सोने की लड़ियों में मोती, हीरा, पन्ना, माणिक्य आदि किन्हीं भी या सभी रत्नों को पिरोकर यह तैयार किया जाता है। इनमें हीरे और मोती के हार[३] अपनी मूल्यवत्ता के कारण भारतीय नारी की महत्त्वाकांक्षा के प्रतीक बन गये हैं। गले के ही आभूषणों में हँसुली[४] भी एक है। जो ठोस सोने की अथवा सोने के पत्र की अत्यन्त कलात्मक बनी होती है। ग्रामीण स्त्रियों का यह अत्यन्त प्रिय और परम्परित, प्राचीन कण्ठाभरण है। इनके अतिरिक्त अनेक जड़ाऊ गहने[५] (मणियों को सोने में गढ़ कर बनाए गए आभूषण) भी लोक में प्रचलित हैं जिनका इन कविताओं में उल्लेख हुआ है। इन आभूषणों में जड़े जाने वाले रत्नों में मूंगा, माणिक (इसे लोक-भाषा में "लाल" कहा जाता है), मोती, हीरा आदि का विशेष

---

१ रमेश रंजक : गीत विहग उतरा, पृ० २५, आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९६९।

२ गिरिजा कुमार माथुर : धूप के धान, पृ० ७८, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, तृतीय संस्करण, १९६६।

३ भवानी प्रसाद मिश्र : गांधी पंचशती, पृ० २३५, सरला प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९६९।

४ सर्वेश्वरदयाल सक्सेना : काठ की घण्टियाँ, पृ० ४०५, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, १९५९।

५ भवानीप्रसाद मिश्र:गांधीपंचशती,पृ०२३५,सरला प्रकाशन,नईदिल्ली,प्र०सं०१९६९।

प्रचलन है।[1] ये कड़ाऊ गहने कभी - कभी (प्राय: निम्न वर्ग में) चाँदी के भी बनते हैं।

कानों के आभूषणों में कुण्डल,[2] झुमका,[3] झुमक-तरकी,[4] बालियाँ[5] तथा कनफूल[6] (कर्णफूल) आदि का उल्लेख भी इन कविताओं में प्रयुक्त हुआ है। ये सभी आभूषण सोने के बनते हैं। गिरिजा कुमार माथुर की एक कविता में झुमकों में लगे हुए फुंदनों (लटकन) का भी उल्लेख हुआ है —

"लाल फुँदने लगे झुमके
बेसरों से लगी
गोरिया बन सही।"[7]

माथे और सिर पर पहने जाने वाले आभूषणों में चम्पाकली - टीका,[8] टिकली - बिन्दी को भी इन कविताओं में स्थान मिला है।

---

१ बच्चन: पाँच चोट बाँसुरी, पृ० ९०, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, १९६६।

२ गोपाल प्रसाद व्यास: अजारी नर, पृ० ५६, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९६८।

३ वीरेन्द्र कुमार जैन : कुम्भ पराग और फसलें, पृ० ११, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, अक्टूबर, १९७२।

४ सर्वेश्वर दयाल सक्सेना : काठ की घंटियाँ, पृ० ३५९, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, १९५९।

५ अज्ञेय : बावरा अहेरी, पृ० ३९, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, द्वि०सं०, १९७२।

६ गिरिजा कुमार माथुर : धूप के धान, पृ० ७९, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, द्वितीय संस्करण, १९६६।

७ गिरिजा कुमार माथुर : कविताएँ १९६५, पृ० ५७, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, प्र० सं० १९६६।

८ गिरिजा कुमार माथुर : शिलापंख चमकीले, पृ० ५६, साहित्यभवन, प्रा० लि० इलाहाबाद-३, प्रथम संस्करण, १९६१।

कुँवर नारायण की "गुड़िया" शीर्षक कविता में नायक का नायिका से यह कथन द्रष्टव्य है --

"कपड़ा लाऊँ, जेवर लाऊँ
बिन्दी लाऊँ टिकली -
बीच बजार आज तू गुड़िया
मेरे हाथों बिकली :" [1]

वस्तुत: लोक - जीवन में नारियों के लिये आभूषणों का इतना महत्व है कि वे प्राय: उसी पुरुष को प्रेम कर पाती हैं जो उन्हें अधिकाधिक आभूषण लाकर या बनवाकर दे सकता है। इसका कारण उनकी लोभ और संचय की प्रवृत्ति के साथ - साथ सौन्दर्य प्रसाधनों के प्रति लगाव भी हो सकता है।

लोक - जीवन में स्वर्ण - आभूषणों के अतिरिक्त अन्य सस्ते आभूषणों का भी प्रचलन है। इनमें फूलों के बने हुए आभूषण अपने आकर्षक सौन्दर्य और सुगन्ध के कारण विशेष प्रचलित हैं। फूलों के बने हुए गजरे [2], झुमके [3] आदि इसी प्रकार के आभूषण हैं जिनका स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कविता में चित्रण और उल्लेख हुआ है।

---

1. कुँवर नारायण : तीसरा सप्तक, पृ० ५८, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, तृतीय संस्करण, १९६७।
2. गिरिधर गोपाल : [illegible] और बाँसुरी, पृ० ८०, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, १९[illegible]।
3. वीरेन्द्र कुमार जैन : शून्य पुरुष और वस्तुएँ, पृ० १९, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, अक्टूबर, १९७२।

शृंगार प्रसाधनों में आभूषणों के अतिरिक्त भी बहुत सी सामग्री आती है। वर्तमान भारत के शृंगार प्रसाधनों पर यौरोप का प्रभाव बहुत अधिक देखा जा सकता है। किन्तु शृंगार के पीछे भावना वही भारतीय है। साथ ही वर्तमान शृंगार प्रसाधन भी भारत में किसी न किसी रूप और नाम से पूर्व प्रचलित रहे हैं।

किसी भी शृंगार के लिये शीशे का होना अनिवार्य है। इसमें अपनी मुखाकृति देखकर शृंगार करने में सुविधा रहती है। भारत में इसे "आरसी" कहा जाता था। कर्णफूलों में "आरसी"[1] लगवाने का प्रचलन इस देश में बहुत प्राचीन है। वर्तमान युग में प्राय: फैशनेबल युवतियाँ इसके स्थान पर अपने पर्स में शीशे रखती हैं।[2] वास्तव में दोनों ही पद्धतियाँ मूलत: एक हैं। दोनों में ही कभी भी अपना मुख देख सकने की भावना निहित है। स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कविता में इन दोनों ही पद्धतियों का वर्णन हुआ है। इनके अतिरिक्त जूड़ा,[3] लिपस्टिक, पाउडर, रूज, तथा नेलपालिश[4] का भी इन कविताओं में उल्लेख है। ये वर्तमान शृंगार प्रसाधन यौरोप के प्रभाव से इस देश में चल निकले हैं।

---

१ शमशेर बहादुर सिंह : कुछ और कविताएँ, पृ० ३२, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९६१।

२ सर्वेश्वर दयाल सक्सेना : काठ की घण्टियाँ, पृ० ३०८, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, १९५९।

३ वीरेन्द्र कुमार जैन : शून्य पुरुष और वस्तुएँ, पृ० ११, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, अक्टूबर १९७२।

४ सर्वेश्वर दयाल सक्सेना : काठ की घण्टियाँ, पृ० ३०८, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, १९५९।

ग्रामीण – जीवन में भी इनका प्रयोग देखा जा सकता है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि इस प्रकार के शृंगार प्रसाधन प्राचीन समय में प्रचलित नहीं थे। बाणभट्ट की कादम्बरी में उल्लिखित उशीर, अंगराग आदि ऐसे ही शृंगार प्रसाधन थे।

शृंगार प्रसाधन तथा आभूषण नारी के "सौभाग्य" चिन्हों के रूप में मानने की परम्परा भी भारत में बहुत पुरानी है। सिन्दूर से रची हुई माँग अथवा पैरों में बिछुए[१] आज भी सम्पूर्ण भारत में विवाहिता स्त्री की पहचान है। माँग के सिन्दूर को एक पवित्र और सौभाग्य सूचक शृंगार माना जाता है —

"उनकी सिन्दूर रची माँग है भली
बादल के बीच ज्यों गुलाब की कली।"[२]

जहाँ सर में सिन्दूर लगाया जाता है वहीं पैरों में महावर लगाया जाता है। महावर का पुराना नाम "अलक्तक" है। विशेष अवसरों, त्योहारों, संस्कारों के समय सुहागिन स्त्रियाँ पैरों में महावर रचाती हैं। रीतिकाल के शृंगारी कवियों ने इसका बहुत चित्रण किया है। विशिष्ट अवसरों पर जहाँ महावर लगाया जाता है वहाँ पैरों में बिछुए भी डाले जाते हैं। वर्तमान कवि की दृष्टि से महावर लगे पैरों में बिना घुंघरू वाले बिछुओं का सौन्दर्य भी छिप नहीं सका है —

---

१ वीरेन्द्र कुमार जैन : शून्य पुरुष और वस्तुएँ, पृ० २७, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, अक्टूबर, १९७२।

२ उमाकान्त मालवीय : मेंहदी और महावर, पृ० १०८, साहित्य भवन, इलाहाबाद – ३, प्रथम संस्करण, १९६३।

" आलक्तक पाँवों में वो बिछुए मौन
देह सकल कम्पन सिहरन से भरपूर । "[1]

बिछुओं जैसा ही किन्तु उससे कुछ आकार में बड़ा, चाँदी का एक आभूषण पैर के अँगूठे में पहना जाता है । इसे अनवट[2] कहते हैं । विवाह में भाँवरों के समय कन्या का मामा अनवट तथा बिछुए कन्या को स्वयं उसके पैरों में पहनाता है । लगभग समस्त उत्तर भारत में यह प्रथा प्रचलित है । यह आभूषण भी सौभाग्य सूचक ही है । इसके अतिरिक्त माथे पर लाल रंग की बिन्दी[3] लगाना भी सौभाग्य सूचक शृंगार माना जाता है । यह बिन्दी विवाहित स्त्रियों के लिये प्राय: अनिवार्य मानी जाती है तथा माँग के सिन्दूर की ही भाँति यह एक पवित्र चिह्न माना जाता है । बिन्दी के अतिरिक्त हाथों में पहनीजाने वाली चूड़ियाँ[4] भी सौभाग्य का चिह्न मानी जाती हैं । हरी या लाल काँच की चूड़ियाँ प्रत्येक अवसर पर तथा विवाहादि शुभ कार्यों के अवसर पर अत्यन्त शुभ मानी जाती हैं । साथ ही इनसे हाथों का सौन्दर्य भी बढ़ता है । वर्तमान कविता में जहाँ चूड़ियों का एक शृंगार प्रसाधन और आभूषण के रूप में चित्रण हुआ है वहीं उसे वर्तमान कवियों ने प्रतीक के रूप में भी ग्रहण किया है ।

---

१ ओम प्रभाकर : पुष्प चरित, पृ० ३२, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७३ ।

२ गोपाल प्रसाद व्यास : अजारी भर, पृ० ७८, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९५८ ।

३ वीरेन्द्र कुमार जैन : शून्य पुरुष और वस्तुएँ, पृ० ५४, भारतीय ज्ञानपीठ काशी, प्रथम संस्करण, अक्टूबर, १९७२ ।

४ [illegible] : नारों के अन्धे शहर में, पृ० २१, हेमन्त प्रकाशन, प्रथम संस्करण, १९७० ।

इस प्रकार स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कविता में लोक - प्रचलित लगभग सभी वस्त्रों और आभूषणों तथा शृंगार - प्रसाधनों का उल्लेख हुआ है ।

५- वाहन-मनोरंजन के साधन

आज राकेट और हवाई जहाज के युग में भी भारतवर्ष के प्राचीन वाहनों के प्रयोग में किसी प्रकार की कमी नहीं आई है । राजस्थान में ऊँट, पहाड़ी इलाकों में घोड़े,[1] मैदानों में बैल तथा बैलगाड़ियाँ[2] तथा रथ[3] आज भी प्रयुक्त होते हैं । इनके अतिरिक्त जलमार्गों पर नाव[4] तथा सड़कों पर [illegible] की रेल - साइकिल[5] जैसे अनेक वाहन लोक - प्रचलित हैं । आज भी पूर्वी उत्तर प्रदेश तथा बिहार के गाँवों में लढ़िया "पालकी"[6]

---

१ शकुन्त माथुर : चाँदनी चूनर, पृ० ६६, साहित्य भवन प्रा० लि०, इलाहाबाद - ३, प्रथम संस्करण, १९६० ।

२ सर्वेश्वर दयाल सक्सेना : काठ की घण्टियाँ, पृ० ३१६, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, १९५९ ।

३ शकुन्त माथुर : चाँदनी चूनर, पृ० ३३, साहित्य भवन, प्रा० लि०, इलाहाबाद - ३, प्रथम संस्करण, १९६० ।

४ भवानी प्रसाद मिश्र : बुनी हुई रस्सी, पृ० २०, सरल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७१ ।

५ गिरिजा कुमार माथुर : धूप के धान, पृ० ७६, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, तृतीय संस्करण, १९६६ ।

६ केदार नाथ अग्रवाल : पाँच जोड़ बाँसुरी, पृ० ३१, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, १९६९ ।

या डोली में किया होती है। बस[1] तथा रेलगाड़ी[2] भी अब इतने लोक-प्रिय वाहन हो गए हैं कि भारत सरकार की अधिकाधिक व्यवस्था के उपरान्त भी इनमें बैठ पाने के लिये स्थान पाना कठिन है। लोक-जीवन में सामान ढोने तथा स्वयं व्यक्तियों को ढोने वाले अनेक वाहनों का स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कविता में वर्णन हुआ है। शकुन्त माथुर की एक कविता में घर आकर बैलगाड़ी से बैलों को खोल देने पर उनका सुस्ताना देखिये -

अब घर की सीमा
गाड़ी को घेर लिया
बैल सुस्ताए
औंघाए
सांझ
छप्पर की छाँव।[3]

रेलगाड़ियों से भी आज हर वर्ग का व्यक्ति यात्रा करता है। सर्वेश्वर की "प्लेटफार्म"[4] तथा गिरिजा कुमार माथुर की "तूफान एक्सप्रेस की रात"[5] शीर्षक कविताओं में क्रमशः रेलगाड़ी में लोक -

---

१ शकुन्त माथुर : चाँदनी चूनर, पृ० ७२, साहित्य भवन प्रा० लि०, इलाहाबाद - ३, प्रथम संस्करण, १९६० ।

२ कीर्ति चौधरी : खुले हुए आसमान के नीचे, पृ० ६९, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, १९६८ ।

३ शकुन्त माथुर : चाँदनी चूनर, पृ० ४०, साहित्य भवन प्रा० लि०, इलाहाबाद - ३, प्रथम संस्करण, १९६० ।

४ सर्वेश्वर दयाल सक्सेना : काठ की घण्टियाँ, पृ० ४२०-४२१, भारतीय ज्ञान पीठ, काशी, प्रथम संस्करण, १९५९ ।

५ गिरिजा कुमार माथुर : शिलापंख चमकीले, पृ० ३३-३८, साहित्य भवन प्रा० लि० इलाहाबाद - ३, प्रथम संस्करण, १९६१ ।

जीवन के महत्व तथा रेलगाड़ी से यात्रा के आनन्द का बड़ा सुन्दर चित्रण हुआ है। नगरों के आन्तरिक मार्गों में आने - जाने के लिये रिक्शे तथा तांगों [१] का प्रयोग होता है। स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कविता में इन सभी वाहनों का चित्रण तथा वर्णन हुआ है।

मनोरंजन के साधनों में अनेक लोक - प्रिय खेलों का उल्लेख तथा वर्णन इन कविताओं में हुआ है। चौपड़ [२], शतरंज [३], चौसर, [४] ताश, बाजीगरी, [५] चकरी, [६] भौंरा, [७] गुल्ली डण्डा, लंगड़ लड़ाना, [८] पतंग उड़ाना, [९] तथा पेंच लड़ाना, [१०] आदि लोक - जीवन में सर्वाधिक प्रचलित खेल हैं। इसके अतिरिक्त बच्चों के मनोरंजन के लिये प्रचलित अनेक

---

१ शकुन्त माथुर : चाँदनी चूनर, पृ० ७२, साहित्य भवन प्रा० लि०, इलाहाबाद - ३, प्रथम संस्करण, १९६० ।

२ शिवरश्मि : नारों के अन्धे शहर में, पृ० ३८, हेमन्त प्रकाशन, प्रथम संस्करण, १९७० ।

३ - वही - पृ० ३८ ।

४ शकुन्त माथुर : चाँदनी चूनर, पृ० [illegible], साहित्य भवन प्रा० लि०, इलाहाबाद - ३, प्रथम संस्करण, १९६० ।

५ कैलाश वाजपेयी : तीसरा अँधेरा, पृ० १०८, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७२ ।

६ - वही - पृ० १०८ ।

७ - वही - पृ० १०८ ।

८ - वही - पृ० १०८ ।

९ सर्वेश्वर दयाल सक्सेना : काठ की घण्टियाँ, पृ० ४०६, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, १९५९ ।

१० कैलाश वाजपेयी : तीसरा अँधेरा, पृ० १०८, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९६० ।

खिलौनों का भी उल्लेख तथा वर्णन इन कविताओं में हुआ है, जैसे — फिरकी,[1] गुब्बारे, गुड़िया,[2] डेबा - टैंक,[3] बच्चों की कूकवाली रेल[4] गाड़ी आदि। "सरकण्डे की गाड़ी"[5] भी बच्चों के खेल का एक उपकरण है। दीपावली पर बच्चों के लिये "फुलझड़ियाँ,"[6] विशेष मनोरंजन करने वाली सिद्ध होती हैं। इन मनोरंजन के साधनों में से अनेक सर्वेश्वर दयाल सक्सेना की कविताओं के शीर्षक तक बने हैं। इन कविताओं में कवि का प्रतिपाद्य चाहे कुछ भी रहा हो किन्तु इन खेलों के सजीव और यथातथ्य अंकन बड़े सुन्दर ढंग से किये गये हैं। सर्वेश्वर की "आटे की चिड़िया" शीर्षक कविता की ये पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं —

> " खरगोश, मुर्गाबी, तीतर
> बटेर, कैली - कबूतर
> रस्सी में बंधी झूलती देखकर
> बच्चा रसोई घर में भाग
> माँ की पीठ से चिपक गया

---

१ अज्ञेय : आँगन के पार द्वार, पृ० २८, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, १९६१ ।

२ -वही - पृ० २८ ।

३ सर्वेश्वर दयाल सक्सेना : काठ की घण्टियाँ, पृ० २०३, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, १९५९ ।

४ -वही - पृ० ३०३ ।

५ -वही - पृ० ३९३ ।

६ -वही - पृ० ३८६ ।

आटे की चिड़िया उसने मुट्ठी में डाली
और सहमे स्वर में धीमे से बोला —
माँ क्या पापा मेरी भी चिड़िया मारेंगे ? "[1]

शिकार के शौकीन पिता के पुत्र का यह बाल सुलभ बिम्ब केवल उसकी आटे की चिड़िया के ही कारण बन सका है जो कि उसके मनोरंजन का एक साधन है। स्वातन्त्र्योत्तर कविताओं में अनेक मनोरंजन के उपकरणों का उपमान तथा प्रतीकों के रूप में प्रयोग हुआ है। बच्चों में प्रचलित गुड़िया के ब्याह का खेल शिशु रश्मि की एक कविता में उनकी अभिव्यंजना का सफल माध्यम बन गया है —

" सारी रातें
जो कलियों की गलियों में
गुड़िया का ब्याह रचाया करती थीं। "[2]

इनके अतिरिक्त ग्रामीण जीवन में अवकाश के क्षणों में अधिक ग्रामीण जन, कीर्तन, भजन तथा लोक-गीत गाकर भी अपना मनोरंजन करते हैं। वर्तमान कवि की दृष्टि से यह भी ओझल नहीं हो सका है। वास्तव में उसकी दृष्टि जहाँ नगरों के सामान्य जीवन पर रही है, वहाँ ग्रामीण जीवन भी उसकी कविता में रच-बस गया है।

---

१ सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, काठ की घण्टियाँ, पृ० ३७५, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, १९५९।

२ शिशु रश्मि : नारों के बन्दी शहर में, पृ० ५४, हेमन्त प्रकाशन, प्रथम संस्करण, १९७०।

५- यात्रा

लोक में यात्राओं का बड़ा महत्व है। यात्राएँ जहाँ व्यक्तिगत कार्यों, व्यावसायिक उद्देश्यों या पारिवारिक मिलन के लिये की जाती हैं, वहीं सामूहिक यात्राओं का आयोजन भी लोक-जीवन में होता है। अनेक धार्मिक अवसरों, मेलों, त्योहारों तथा पर्वों आदि पर सामूहिक यात्राएँ भी की जाती हैं। सामूहिक यात्राओं के लिये बड़ी - बड़ी तैयारियाँ पहले से की जाती हैं। नये वस्त्र पहने जाते हैं, साथ में थोड़ा सा "तोशा" (टोशा या पाथेय) भी रखा जाता है। फिर भी कभी - कभी जब सब लोग तैयार हो कर आ जाते हैं तो जल्दी में ऐसे ही बिना तैयार हुए चल देना पड़ता है।[1] सामूहिक रूप से की जाने वाली धार्मिक यात्राएँ लोक में "जात्रा"[2] कही जाती हैं। ब्रज में इनके लिये "जात" शब्द का प्रयोग होता है। इन जात्राओं में, जहाँ पर ये होती हैं, मेला सा लग जाता है। अनेक दुकानदार, खोंचे वाले वहाँ कुछ कमाने की इच्छा से एकत्रित हो जाते हैं। धार्मिक यात्राओं के अतिरिक्त शोक यात्राएँ भी कभी - कभी सामूहिक रूप से होती हैं किन्तु इनके शोक का कारण प्रायः पारिवारिक ही होता है। जातीय स्तर पर हिन्दुओं में "शोकोत्सव" नहीं मनाए जाते। स्त्रियाँ, परिवार में किसी के मरणोपरान्त घर के बाहर किसी कुएँ या बावड़ी पर स्नान के लिये रोती हुई या "सियापा" (छाती पीट-पीट कर गाते हुए रोना), करती हुई जाती हैं। ब्रज प्रदेश में यह प्रायः मरण के

---

१ भगवती प्रसाद मिश्र : जली हुई रस्सी, पृ० ३५, सरला प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७१।

२ नरेश मेहता : मेरा समर्पित एकान्त, पृ० ३३, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९६२।

नवमें दिन होता है तथा इसे "गौन्हान" कहा जाता है।
कभी - कभी यह यात्रा एक गाँव से दूसरे गाँव तक सामूहिक रूप में भी होती है। ऐसा प्राय: अन्य गाँव में किसी निकट के व्यक्ति की मृत्यु पर संवेदना प्रकट करने के लिये होता है। वस्तुत: ऐसे दुखद अवसरों पर मार्ग में साथ के लिये, तथा अलग - अलग अपनी संवेदना व्यक्त करने के लिये स्त्रियाँ एकत्रित होकर जाती हैं --

"दूर ठूँठों के अन्तहीन जंगल रोती जा रही
स्त्रियों की
एक अन्तहीन शोकयात्रा हो रही।"[1]

ब्रज में अग्रवाल जाति में किसी वयोवृद्ध के निधन पर लड़की की अथवा लड़के की ससुराल से स्त्रियों का समूह गुड़िया मचाने के लिये आता है। कभी - कभी ये सामूहिक यात्राएँ ईश्वरीय विपत्ति के कारण भी करनी पड़ती हैं। प्राय: बाढ़, सूखा अथवा किसी महामारी के कारण गाँव के गाँव खाली हो जाते हैं और लोग अन्य सुरक्षित स्थानों की यात्रा पर निकल पड़ने के लिये विवश हो जाते हैं। बाढ़ के कारण की गई यात्रा पर भवानी प्रसाद मिश्र की प्रतिक्रिया उनकी प्रतीकात्मक भाषा में इस प्रकार प्रकट हुई है —

---

१ वीरेन्द्र कुमार जैन : शून्य पुरुष और वस्तुएँ, पृ० १४२, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, अक्टूबर, १९७२।

" पंचवर्षीय योजनाओं के बाँध पहले नहीं थे
मगर बरसों में सब लोग एक गाँव से दूर-दूर के गाँवों तक
सिर पर सामान रख कर यों टहले नहीं थे। " १

दैवीय विपत्ति के कारण हुई यात्रा का इन्हीं की एक अन्य कविता में यों चित्रण हुआ है —

" किनारे की तरफ़ चली आ रही है
कालिमा सी
क्या लदा है इनमें
शायद रौंदे हुए घरौंदे
मुरझाई कलियाँ सूखे फूल
टूटे इन्द्रधनुष
अशान्त आत्मायें पीढ़ियों की। " २

सामूहिक यात्राओं के अतिरिक्त व्यक्तिगत कारणों से अकेले भी यात्राएँ की जाती हैं। बीते हुए दिनों के लिये रेल की यात्रा का चित्रण कीर्ति चौधरी की " वे ऐसे दिन थे " शीर्षक कविता में बड़ा सुन्दर बन पड़ा है। [३] इसकी यात्रा में एक गाँव से दूसरे गाँव में जाते हुए ग्रामीण का यह दृश्य कभी भी, और कहीं भी देखा जा सकता है -

---

१ भवानी प्रसाद मिश्र : गांधी पंचशती, पृ० २७५, सस्ता प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९६९।

२ -वही- पृ० ७०।

३ कीर्ति चौधरी : खुले हुए आसमान के नीचे, पृ० ६१, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, १९६८।

" कभी एक ग्रामीण धरे कंधे पर लाठी
सुख दुख की मोटी सी गठरी
लिये पीठ पर
भारी जूते फटे हुए
जिनमें से झाँक रही गाँवों की आत्मा
जिन्दा रहने के कठिन यतन में
पाँव बढ़ाये आगे जाता । " [1]

कभी - कभी ग्रामीण जन बैल गाड़ियों पर भी यात्रा कर लेते हैं। इस यात्रा में यात्री स्वयं गाड़ी हाँकते हैं तथा मार्ग में सो भी लेते हैं। शकुन्त माथुर की " यात्री के विश्रामक्षण " शीर्षक कविता में इस प्रकार के एक दृश्य का बड़ा सुन्दर अंकन हुआ है। [2]

६- प्रकृति

आदिकाल से ही प्रकृति मानव की जीवन सहचरी रही है। मनुष्य के सुख - दुख, हास-विलास में, जहाँ वह कारण भूत है, वहीं उनमें वह सहायक भी है। भारतवर्ष एक कृषि प्रधान देश है साथ ही प्रकृति की इस पर कुछ विशेष कृपा भी है। एक - एक कर छै ऋतुएँ वर्ष भर में आती हैं और इस देश की धरती का शृंगार करती हैं। इन्हीं के साथ मानव-जीवन भी बहुत कुछ परिचालित होता है। चाहे या

---

१ शकुन्तला माथुर: दुहरा सत्य, पृ० ३७, प्रगति प्रकाशन, प्रथम संस्करण, १९५१।

२ शकुन्त माथुर : चाँदनी चूनर, पृ० ४०, साहित्य भवन प्रा० लि०, इलाहाबाद - ३, प्रथम संस्करण, १९६०।

आँधी अथवा तूफा जैसे प्राकृतिक कोप जहाँ मनुष्य को त्रास देते हैं वहीं आवश्यक वर्षा और शरद शीत आदि उसे उल्लसित भी करते हैं। इसका यह अर्थ नहीं कि प्रकृति का सम्बन्ध केवल मनुष्य के मन से ही है। उसके दैनिक व्यवहार को भी वह प्रभावित करती है। वर्षा के दिनों में जब अनायास वर्षा आ जाती है तो घरों में छत पर सूखते कपड़ों को समेटने की शीघ्रता देखते बनती है।[1] रात पड़ते पड़, मनुष्य शीघ्र ही कुटों की छाया ग्रहण करते हैं।[2] रात की अनायास वर्षा आँगन से पलंग ले कर कमरे में भागने को विवश कर देती है और पुनः कुछ देर के लिये बन्द होकर पलंग बाहर निकलवा देती है। कभी - कभी तो वह रात भर मनुष्य के साथ यही आँख मिचौली ही करती रहती है।[3] किन्तु भारतीय ग्रामीण-जन " जितनी हुई उतने जौ के दाने होंगे इस आशा में चुपचाप " चौपालों पर बैठे जल का गिरना देखते हैं।[4] इन पहली वर्षा के बादलों के साथ ही कृषक अपने कृषि कर्म को प्रारम्भ कर देता है। वर्षा के प्रथम आगमन पर माखन लाल चतुर्वेदी ने कृषक जीवन का चित्रण इस प्रकार किया है —

> "" हल हलके हो गये बैल हरियाली भर कर डोल उठे हैं
> दैतिकर वर्षा की भारी कुली गाड़ियाँ डोल उठे हैं।""[5]

---

१ रमेश रंजक : हरापन नहीं टूटेगा, पृ० ८८, अक्षर प्रकाशन प्रा० लि०, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७४।

२ रघुवीर सहाय : सांप्रतिकी, पृ० १४१, बिहार ग्रन्थ कुटीर, पटना-४, प्रथम संस्करण, १९५५।

३ भवानी प्रसाद मिश्र : गांधी पंचशती, पृ० १५८, सस्ता प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९६९।

४ रघुवीर सहाय : सांप्रतिकी, पृ० १४२, बिहार ग्रन्थ कुटीर, पटना - ४, प्रथम संस्करण, १९५५।

५ माखनलाल चतुर्वेदी : बीजुरी काजल आँज रही, पृ० ३०, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, १९६४।

"सावन के बादल", [1] "सावन की रात", [2] तथा रघुवीर सहाय की "पानी" [3], "पानी के संस्मरण", [4] "अभी पानी बरसता है" [5] आदि कविताओं में वर्षा के एक से एक सुन्दर चित्र प्रस्तुत किये गये हैं।

वर्षा के अतिरिक्त स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कविता में जिस ऋतु का सर्वाधिक चित्रण हुआ है - वह है बसन्त। बसन्त में "हिम से सत संकुचित प्रकृति" "रूप - राग - रस - गंध - भार भर" फूलने लगती है। [6] और यह बसन्त "धूप,हवा, मैदान, खेत, खलिहान, बाग में निराकार मन्मथ महान्थ सा रास-विलास रचा लेता है।" [7] इन दिनों "विकराल वनखण्डी" भी "रूपवती दुलहिन" बन जाती है। [8] इसी ऋतु में "रस के भरे" फूलों को देखकर विरहिणियों को अपने प्रवासी पति की याद सताने लगती है। [9] माघ शुक्ल पंचमी को भारत में "बसन्त पंचमी" के रूप में मनाया जाता है। इस दिन घर - घर में स्त्री - पुरुष और बच्चे पीले वस्त्र पहनते हैं। [10] किन्तु

---

१ गिरिजा कुमार माथुर : धूप के धान : पृ० ३७, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, तृतीय संस्करण, १९६६।

२ -वही- पृ० १०२।

३ रघुवीर सहाय : सीढ़ियों पर धूप में, पृ० १००, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, १९६०।

४ -वही- पृ० १०१।

५ -वही- पृ० १३२।

६ केदार नाथ अग्रवाल : फूल नहीं रंग बोलते हैं, पृ० ३७, परिमल प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, अक्टूबर १९६५।

७ -वही- पृ० ३९।

८ -वही- पृ० ११०।

९ गिरिजा कुमार माथुर : शिला पंख चमकीले, पृ० ५३, साहित्य भवन प्रा० लि०, इलाहाबाद - ३, प्रथम संस्करण, १९६१।

१० बालकृष्ण राव, आधुनिक कवि (१३), पृ० १०१, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, प्रथम संस्करण, १९६७।

नगरों में बसन्त पंचमी के दिन बसंतागम का पता नहीं लग पाता । यहाँ वैसी प्राकृतिक सुषमा प्राय: नहीं होती जो भारतीय ग्रामों में होती है । और कहीं यदि होती भी है तो व्यस्त नागरिकों को उसको देखने का अवसर ही नहीं मिलता । वहाँ केवल कलैण्डर से ही पता लगता है कि बसन्त आ गया । इस दिन वहाँ भी दफ्तरों में, कालिजों में छुट्टी घोषित कर दी जाती है ।[1] और इस प्रकार बसन्तागमन के उल्लास को मनाने की परम्परा का अपनी भाव से ही सही निर्वाह कर दिया जाता है ।

बसन्त के साथ - साथ स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कविता में ग्रीष्म के भी सुन्दर चित्र प्रस्तुत हुए हैं । उसका भी मानव जीवन पर प्रभाव पड़ता है । ग्रीष्म ऋतु के तूफानों और आँधियों में लोग जल्दी-जल्दी घर के दरवाजे, खिड़कियाँ बन्द कर देते हैं, हर दरार, हर चौखट मूँद दी जाती है ।[2] प्रकृति के कोप के कारण जब वर्षा में भी अतिशय ग्रीष्म का दृश्य उपस्थित हो जाता है तो पेड़ सूखने लगते हैं, धरती में दरारें पड़ने लगती हैं ।[3] और जन - सामान्य का मन मानो ईश्वर से पूछने लगता है — "

"" नहीं कम मधुर है मन
भरेगा कब यह नील गगन जलों से बादल के

\+ + +

---

1 रघुवीर सहाय : सीढ़ियों पर धूप में, पृ० १४६, भारतीय ज्ञानपीठ काशी, प्रथम संस्करण, १९६० ।

2 जगदीश गुप्त : शब्द दंश, पृ० ४३ , भारती भण्डार, प्रयाग, प्रथम संस्करण, सं० २०१६ ।

3 ओम प्रभाकर : पुष्पचरित, पृ० ४२, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७३ ।

प्यार में भरी अनोखे बोल
क्यारियों की टेकों पर टेर लगाकर
फिर कब भूलोगी " [1]

दोपहर में जब धरती किसी तपस्विनी सी तपने लगती है [2] तो छोटे - छोटे धान के पौधे बादलों को निमन्त्रण देते हुए गा उठते हैं - "आना जी बादल ज़रूर ।"

स्पष्ट है कि स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कवि का प्रकृति से बहुत निकट का सम्बन्ध है और साथ ही प्रकृति के साथ - साथ जुड़े हुए लोक-जीवन से भी वह अभिन्न है । वर्षा, वसन्त, ग्रीष्म ही नहीं इन कवियों ने शिशिर, हेमन्त और शरद के भी सुन्दर चित्रण प्रस्तुत किये हैं । इनमें केदारनाथ अग्रवाल की "विदा शरद के," [3] गिरिजा कुमार माथुर की "रात हेमन्त की" [4] और "हेमन्ती पूनो" [5] आदि ऐसी ही कविताएं हैं । इनके अतिरिक्त विभिन्न महीनों पर भी कविताएं लिखी गई हैं । वास्तव में भारत का ग्रामीण - जीवन इन बारह महीनों में ही, बंटा हुआ है । विभिन्न महीनों में उसके विभिन्न कार्य, उत्सव आदि सुनिश्चित से हैं ।

---

१ भवानी प्रसाद मिश्र : गांधी पंचशती, पृ० १३८, सरला प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९६९ ।

२ कमल प्रकाश चतुर्वेदी : ताप की छाया में, पृ० ४०, सहकारी प्रकाशन, आगरा, प्रथम संस्करण, मई १९५९ ।

३ केदारनाथ अग्रवाल : फूल नहीं रंग बोलते हैं, पृ० ६२, परिमल प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, अक्टूबर १९६५ ।

४ गिरिजा कुमार माथुर : धूप के धान, पृ० ४८, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, तृतीय संस्करण, १९५५ ।

५ वही - पृ० १०४ ।

इस प्रकार की कविताओं में, जिनमें कि महीनावार लोक-जीवन का चित्रण किया गया है — "चैत का गीत"[१], (अजितकुमार), जेठी घाम,[२] (शिव मंगल सिंह "सुमन"), बैसाख की आंधी[३] (अज्ञेय), आषाढ़ का पहला दिन[४] (सुमन), "सावन की रात[५], "सावन के बादल"[६] (गिरिजा कुमार माथुर) तथा सावन का गीत[७] (सर्वेश्वर दयाल सक्सेना), "भादों की पूर्णिमा"[८] (बाल कृष्ण राव), एवं "क्वार पर"[९] (बाल कृष्ण राव) आदि प्रमुख हैं। इनके अतिरिक्त फागुन के भी अनेक चित्र इस कविता में देख पड़ते हैं। इनके अतिरिक्त इन कविताओं में प्रात:,[१०] दोपहर तथा सन्ध्या[११] के भी विभिन्न चित्र प्रस्तुत हुए हैं तथा अनेक कविताओं के नाम विभिन्न ऋतु और पुष्पों के नाम पर रखे गए हैं।

---

१ अजित कुमार : अंकित होने दो, पृ० १३८, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, १९६२।

२ शिव मंगल सिंह "सुमन" : मिट्टी की बारात, पृ० २२, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण ।

३ अज्ञेय : इन्द्रधनु रौंदे हुए ये, पृ० २८, सरस्वती प्रेस, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, १९५७ ।

४ शिव मंगल सिंह "सुमन" : मिट्टी की बारात, पृ० १८, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण ।

५ गिरिजा कुमार माथुर : धूप के धान, पृ० १०२, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, तृतीय संस्करण, १९६६ ।

६ -वही- पृ० ३७ ।

७ सर्वेश्वर दयाल सक्सेना : काठ की घण्टियाँ, पृ० ३४८, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, १९५९ ।

८ बालकृष्ण राव : आधुनिक कवि (१३), पृ० ३८, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, प्रथम संस्करण, १९६७ ।

९ -वही- पृ० २२ ।

१० सर्वेश्वर दयाल सक्सेना : काठ की घण्टियाँ, पृ० ३७८, भा० ज्ञानपीठ, काशी, प्र० संस्करण, १९५९ ।

निष्कर्ष

इस प्रकार स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कविता में लोक - जीवन के लगभग सभी उपकरण और उपादानों का चित्रण एवं उल्लेख हुआ है। इनमें खाद्य पदार्थ, पात्रादि उपकरण, वस्त्राभूषण तथा शृंगार प्रसाधन, वाहन तथा मनोरंजन के साधन आदि सभी की समुचित चर्चा हुई है। वस्तुतः इन सब को लोक - जीवन से पृथक् नहीं किया जा सकता। लोक - जीवन में कहीं बाजरा, मक्का और मडुआ की रोटी का स्वाद है तो कहीं जाड़ों में रजाई ओढ़ने का आनन्द, घरों में कहीं लोटा, थाली, गिलास, कटोरी आदि पात्रों और अन्य उपकरणों को व्यवस्थित करने की लालसा है तो कहीं कंगन, हँसली, झुमका, झूमर या चम्पाकली - टीका आदि जड़ाऊ गहने पहनने का गर्व भरा संतोष, कहीं उसमें रिक्शा, तांगा या रेलगाड़ी पर बैठ कर जाने की जल्दी है तो कहीं अवकाश के क्षणों में सैर करने, चौपड़, सलाई, ताश, कबड्डी आदि खेलने का शौक है, कहीं उसमें वर्षा में भीगने का सुख है तो कहीं जाड़ों में वस्त्र न होने का दुख भी है। इस प्रकार लोक - जीवन अनेक विविधताओं से भरा हुआ है। लोक - जीवन की ये विविधताएं जीवन में काम आने वाले उपादानों पर ही निर्भर करती हैं। स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कविता में वर्णित इन उपादानों की समीक्षा से लगता है कि भारत का लोक - जीवन विलासी जीवन नहीं है। यहाँ जन - साधारण को केवल वही वस्तुएं उपलब्ध हैं जो उसके जीवन के लिये आवश्यक और अनिवार्य हैं। यह दूसरी बात है कि कहीं - कहीं इनके

---

२१ रवीन्द्र भ्रमर : रवीन्द्र भ्रमर के गीत, पृ० ६७, साहित्य भवन, इलाहाबाद - ३, प्रथम संस्करण, १९६३।

पर्याप्त होने या अभाव होने के भी संकेत मिलते हैं। इस बात से यही निष्कर्ष निकलता है कि स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कविता ने लोक-जीवन के समृद्ध और अभावग्रस्त दोनों किनारों को छुआ है। इन कविताओं से यह भी पता चलता है कि बाहर से गरीब हो जाने पर भी भारतीय जन का मन अभी भी समृद्ध है। उसके मनोरंजन के साधन इस बात के प्रमाण हैं कि वह दुःख में पूरी तरह डूब नहीं गया है अपितु उसमें हंसने की क्षमता अभी शेष है। आभूषणों का मोह उसकी उदारता तथा उच्च अभिरुचि को भी प्रकट करता है। इस प्रकार स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कविता में वर्णित जीवन के उपादानों के अध्ययन से भारतीय लोक-जीवन का वैविध्य जाना जाता है यह बहुत ही स्पष्ट है।

तृतीय अध्याय

जातीय - जीवन

१- ग्रामीण जीवन

२- आर्थिक सम्बन्ध
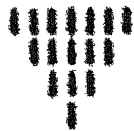
३- नारी - जीवन

४- वर्ण - व्यवस्था और जाति-भेद

५- सामाजिक नीति और शिक्षा

६- मेले और सामाजिक उत्सव

७- अपराध और नशा

८- जातीय शौक और विषाद

९- निष्कर्ष

द्वितीय अध्याय

जातीय - जीवन

अरस्तू ने बहुत पहले ही यह घोषणा की थी कि "" मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है "" । उसका अध्ययन उसे समाज से पृथक् करके नहीं किया जा सकता है । वह जो कुछ है, समाज की देन है । उसका प्रत्येक कार्य समाज के द्वारा प्रभावित होता है । फिर भी समाज में व्यक्ति का अपना पृथक् अस्तित्व और व्यक्तित्व जीवित रहता है । किन्तु " लोक " में व्यक्ति की अपनी कोई सत्ता नहीं होती । उसके अपने नैतिक मानदण्ड, व्यक्तिगत तर्क तथा व्यक्तिगत ज्ञान नहीं होते हैं । लोक - प्रचलित रूढ़ियाँ, परम्पराएँ, अंधविश्वास, मान्यताएँ, मर्यादाएँ आदि ही उसे उसके जीवन में क्रियाशील रहने की प्रेरणा प्रदान करती हैं । उसका संपूर्ण ज्ञान लोक - ज्ञान है, जिसमें तर्क के लिये कोई स्थान नहीं । यहाँ सब कुछ भावना के स्तर पर स्वीकार किया जाता है । और इसी लिये उस ज्ञान पर उसकी आस्था रहती है । तथा अपने जीवन में वह उससे परिचालित होता है । उसकी इच्छाएँ भी इसी लोक - ज्ञान तक सीमित रहती हैं, जिनके अनुसार वह अपने जीवन में कार्य करता है ।

इस प्रकार व्यक्ति को समाज जो कुछ देता है वह उसकी जातीय परम्पराएँ और मान्यताएँ ही होती हैं । लोक भी व्यक्ति को उसकी जातीय परम्पराएँ और मान्यतायें ही प्रदान करता है । किन्तु समाज में

व्यक्ति की व्यक्तिगतता भी लोक की अपेक्षा कम लक्षित होती है। अतः लोक में जातीयता का भाव समाज की अपेक्षा अधिक होता है। यही कारण है कि लोक में उसकी परम्पराएं और व्यवस्थायें समाज की अपेक्षा अधिक सशक्त और स्थायी होती हैं।

१ - ग्रामीण जीवन

स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कविता में व्यक्तिवादी मनोवृत्ति के परिणाम स्वरूप जहाँ नगर के सुरुचि संपन्न, फैशन परस्त, अनेक साधनों से युक्त जीवन का चित्रण हुआ है, वहीं समाजवादी प्रवृत्ति के कारण ग्रामीण जीवन का चित्रण भी हुआ है। द्वितीय महायुद्ध के उपरान्त हिन्दी कविता जिस औद्योगीकरण के प्रभाव से केवल नागरिक जीवन का ही स्पर्श कर पाती थी, वह अब ग्रामीण जीवन में भी प्रवेश करने लगी। यों तो कवियों का ग्रामीण जीवन के प्रति लगाव फिर भी बना रहा था। कवि - सम्मेलन के मंच पर और यदा - कदा पुस्तकों के रूप में भी ग्रामीण जीवन का उल्लेख कविताओं में हो ही जाता था। किन्तु सन् १९५२-५३ के आस-पास से कविता पुनः गांवों की ओर लौटने लगी। नयी कविता के आन्दोलन में जहाँ एक ओर नागरिक जीवन और उसकी विषमताओं से उद्भूत निराशा, कुण्ठा, पीड़ा आदि का चित्रण हो रहा था वहीं कुछ कवि भारतीय ग्रामीण जीवन की ओर भी मुड़ने लगे थे। किन्तु चीन के आक्रमण (सन् १९६२) के उपरान्त कवियों ने इस दिशा में विशेष उत्साह प्रकट किया है। वास्तव में अनेक कवि ग्रामीण जीवन से ही नागरिक जीवन में पहुंचे हैं। उनकी दृष्टि में ग्रामीण जीवन अभी भी उनका

अपना जीवन है। नगरों में भी उसकी याद उन्हें सताती है। ये नगर से जब कभी अपने गाँव लौटने का अवसर पाते हैं तो बड़े प्रसन्न होते हैं। इन्हें बहुत दिनों के बाद गन्ना चूसने को मिलता है, तालमखाना खाने को मिलता है, गाँव के अनेक दृश्य जो नगरों में अलभ्य हैं, देखने को मिलते हैं और उनका मन खूब लगता है। और यह स्वाभाविक भी है। यही नहीं वर्तमान कवियों में नागरिक जीवन के प्रति ऊब भी उत्पन्न हुई है। आज का कवि अनुभव करता है कि महानगरों के मशीनी जीवन, तड़क-भड़क और उसकी विसंगतियों के बीच, कुण्ठा, निराशा, वेदना में डूबा व्यक्ति कहीं खो गया है। भीड़भाड़, बेईमानी, चोरबाजारी के साथ-साथ महानगरों में सर्वाधिक खल देने वाली बात है - लोगों की अपनी-अपनी अलग-अलग दुनिया। कोई किसी को नहीं जानता। इन सब से ऊब कर भी वर्तमान कवि गाँवों की ओर चला है। चीन के आक्रमण से भी देश की आँखें खोलीं, और देश में हरित क्रान्ति की बात की जाने लगी। और जैसे-जैसे स्वतन्त्र भारत को अपने पड़ोसियों से युद्ध करना पड़ा वैसे-वैसे लोगों का गाँवों की ओर ध्यान जाने लगा। क्योंकि औद्योगिक क्षेत्र में विकास के पथ पर चलने वाला भारत वर्षों अभी भी विदेशों से माँग कर गेहूँ ला रहा था। और इसके एक मात्र कारण, कृषक की दयनीय स्थिति, तथा बढ़ती हुई नागरिक सभ्यता थे। हमारा देश नागरिक और ग्रामीण दो भागों में बंट गया था और दोनों के बीच का अन्तर निरन्तर बढ़ता जा रहा था। इस अन्तर को तत्कालीन प्रधानमंत्री श्री लाल बहादुर शास्त्री ने बड़ी तीव्रता से अनुभव किया। प्रधानमन्त्री बनने के कुछ ही दिन बाद १५ नवम्बर १९६४ को कपासन ग्राम, राजस्थान में उन्होंने अपने भाषण में कहा था - "" यह दोनों दिन रात है

और आज है एक पवित्र दिन है, शुभ दिन है और कल बड़े शहर में, नगर में दिल्ली में रहा । आज इस तरह के गाँव में जहाँ रेत है, जहाँ पहाड़ी है, जहाँ जंगल है इस बीच में आने का मौका मिला । यह एक बात को बताता है कि अभी भारत किस रूप में है और कैसे उसको बढ़ाना है । एक तरफ दिल्ली की बिजली, दिल्ली के सड़क, नई दिल्ली की इमारत, मकान, कोठी, मोटर दूसरी तरफ यह बालाबास, ये सीकर के आस - पास के गाँव और काशी का बास, ये भी गाँव है जहाँ सड़कों की कमी, जहाँ रोशनी की कमी, जहाँ पानी की कमी और जहाँ खेत की तरक्की देने का, उन्नति करने का अवसर कम, मौका कम, यह एक खाई है, बीच में जैसे एक गड्ढा है जिसको भरना है । जिसको पूरा करना है । ''[1]

वास्तविकता यह है कि पं० जवाहर लाल नेहरू ने सन् १९४८ में जिस स्वतन्त्र और आदर्श भारतवर्ष के निर्माण के स्वप्न देखे थे[2], वे स्वप्न टूटने लगे । भारत स्वतन्त्र तो हुआ किन्तु आदर्श नहीं बन सका, उनके स्वप्नों का भारत नहीं बन सका ।[3] और परिणामतः भारतीय साहित्यकार

---

१ लाल बहादुर शास्त्री : व्यक्तित्व और विचार, पृ० ५००, चिन्मय प्रकाशन, जयपुर, प्रथम संस्करण, जनवरी १९६७ ।

२ "Although Many of my dreams have been shattered by recent events, yet the basic objective still holds and I see reason to change it. That objective is to build up a free India of high ideals and noble endeavour...... "

—Jawahar Lal Nehru's speeches, Vol. I, p. 335, Publication Division, Ministry of Information & Broadcasting, Govt. of India, (India) Reprinted 1963.

३ रघुवीर शरण "मित्र" : मानवेन्द्र, पृ० १२८, २९ तथा ५५३, भारतीय साहित्य प्रकाशन, मेरठ, प्रथम संस्करण, नवम्बर १९६५ ।

मुस्कानें नहीं दीखती : खड़ी साकुर्र का
मुंह है ।
इधर खिले हैं ढेर नाज के
टीले खलिहानों के
सोने के मन - लोभन पारे । " १

किन्तु ऐसे ग्राम वर्णन में केवल " सपाट वर्णन " ही है । ग्रामीण जीवन के प्रति उसमें कोई विशेष लगाव नहीं दीख पड़ता । फिर भी यह मानना होगा कि इस युग में अनेक ऐसे महानगरीय कवियों की दृष्टि ग्रामीण जीवन की ओर आकर्षित हुई है । और जिन कवियों का मानस से गहरा नाता है उन्होंने अनेक मनभावन दृश्य और बिम्ब ग्रामीण जीवन से लेकर चित्रित किये हैं । केदारनाथ अग्रवाल, शमशेर, भवानी प्रसाद मिश्र आदि की कविताओं में यह बात सर्वाधिक देखी जा सकती है । इन कवियों की दृष्टि से — गाँव में सन्ध्या के समय, चरवाहों, खेत - मड़ैयों के रखवालों, किसानों और पास - पड़ोसियों का बैलों की जोड़ी हाँकते हुए घर जाना,[2] चौपायों के पीछे - पीछे पलक मूँदकर, सर पर गट्ठर लादे, तेजकदम चलते हुए, गीत गाते हुए ग्रामीण व्यक्ति का चलते चले जाना[3], तथा भूखे बछड़े का मुँह सहलाता हुआ, बैलगाड़ी में अकेला होकर रामभजन की चौपाइयाँ का गाना,[4] चौपालों पर हुक्का पीते हुए बूढ़े, चूल्हों से निकल कर आकाश में उड़ता हुआ धुआँ और पनिहारिनों के बिना स्वच्छ मुस्कान

---

१ अज्ञेय : बावरा अहेरी, पृ० १२, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, द्वितीय संस्करण, फरवरी, १९५२ ।

२ कीर्ति चौधरी : तीसरा सप्तक, पृ० ३८, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, तृतीय संस्करण, १९६७ ।

३ सर्वेश्वर दयाल सक्सेना : काठ की घण्टियाँ, पृ० ३१५, भा० ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, १९५९ ।

४ वही - पृ० ३१६ ।

"मालवा का कृषक संभाले कांधे पर हल ।
अनुभव करता बैलों पर बैलों का बल ।
कि अजब ठाठ है जाता है मस्ताना
वैभव उसके श्रम पर बलि है, अब जाना ।" [1]

इन कवियों ने भारतीय कृषक के अनेक चित्र अपनी कविताओं में प्रस्तुत किये हैं। संध्या समय हल से बैलों को खोलता हुआ किसान, खेत की मेड़ों पर सीकर लौटती हुई औरतें [2] —— सभी कुछ इस कविता में है। ग्रामीण जीवन और विशेष कर कृषक जीवन का ऐसा सुन्दर और सजीव चित्रण कदाचित हिन्दी कविता में इससे पहले कभी नहीं हुआ। वर्तमान कवि केवल इस कृषक को देखकर मात्र प्रसन्न ही नहीं होता अपितु उसकी दयनीय स्थिति देखकर दुखी भी होता है ——

"सभी जगह
जो उपजाता है अन्न, पालता सबको
उसकी भूखी कमर है।" [3]

ऐसा किसान जो सब को भोजन देता है, वह, इस औद्योगिक उन्नति के युग में ग्रामीण, गँवार और असभ्य की संज्ञा भारतीय समाज से पाता है —— उस भारतीय समाज से जो कृषि प्रधान है। वर्तमान कवि उसकी वेदना को अनुभव करता है, उसकी महत्ता को भी समझता है। वह ईश्वर से उसके लिये प्रार्थना करता है ——

---

१ भवानी प्रसाद मिश्र : गांधी पंचशती, पृ० १५७, सरला प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९६९।

१ माखनलाल चतुर्वेदी : बीजुरी काजल आँज रही, पृ० १०६, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, १९६४।
२ भवानी प्रसाद मिश्र : अंधेरी कविताएं, पृ० ७८, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, १९६८।
३ अज्ञेय : अरी ओ करुणा प्रभामय, पृ० ३६, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, १९५९।

" मगर, कुछ ऐसे हैं जिन्हें नहीं आता पढ़ना
जो नहीं जानते लिखना या बातें गढ़ना
वे सुबह किरण फूटी बिस्तर से उठ जाते
और अपने आपको काम में मानो भूल जाते
वे दिन उगने से दिन डूबे तक व्यस्त सदा
वे वर्षा, जाड़ा, घाम, भूख से त्रस्त सदा
वे खेत, क्यार, बीनी, कटनी में लगे हुए
वे इस धरती पर सबसे ज्यादा जगे हुए। "[1]

वह उसकी असभ्यता के प्रति पूर्ण सहानुभूति रखता है —

" मैं असभ्य हूँ क्योंकि खुले नंगे पाँवों चलता हूँ
मैं असभ्य हूँ क्योंकि धूल की गोदी में पलता हूँ
मैं असभ्य हूँ क्योंकि चीर कर धरती धान उगाता
मैं असभ्य हूँ क्योंकि ढोल पर बहुत जोर से गाता। "[2]

फिर भी यह खेत के समान झुलसने वाला किसान, जीवन रूपी फसल के लिये स्वयं खाद बन जाता है और लोक - मंगल का साक्षात अवतार बन कर प्रकट होता है।[3]

इस प्रकार प्रस्तुत कविता में ग्रामीण जीवन और उसमें भी विशेष कर कृषक जीवन के अनेक चित्र और वास्तविकताएँ उभर कर इन कविताओं में सामने आई है। इस युग की अधिकांश कविताएँ हल, बैल, कृषक, से

---

१ भवानी प्रसाद मिश्र : गांधी पंचशती, पृ० १६६, सरला प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९६९।

२ -वही - पृ० १७६।

३ गिरिजा कुमार माथुर : धूप के धान, पृ० ६३, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, तृतीय संस्करण, १९५५।

भरी पड़ी हैं। वर्षा के समय किसान और उसका परिवार कितना प्रसन्न होता है, कहना कठिन है। मानो उसको जीवन ही मिल गया हो —

"कोई सुधी गगन में बैठा कितने मोती बाँट रहा है
हर्षित आज कृषक ललनाएँ, कृषक ग्वाला ठाठ रहा है
हल काँधे हो गये बैल हरियाली लखकर डोल उठे हैं।"[1]

वास्तव में किसान का वर्षा से बहुत गहरा संबंध रहा है। किन्तु गाँव में ऐसे दृश्य यदा-कदा ही देखने को मिलते हैं। जिस ग्राम-जीवन के संबंध में मैथिलीशरण गुप्त का कहना था कि इसे देखकर सब का मन इसे प्राप्त करने को होता है, वह ग्राम्य जीवन अब वास्तव में केवल "रेल की खिड़की से देखने की चीज है।"[2]

किन्तु जैसा कि हम पीछे स्पष्ट कर आये हैं, वर्तमान भारतीय जन-जीवन में बढ़ती हुई नागरिक प्रवृत्ति, पश्चिम का अनुकरण, औद्योगिक विकास आदि से उत्पन्न विसंगतियों के कारण बहुत कुछ उथल-पुथल हुई है। स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कविता में इस उथल-पुथल को भी चित्रित किया गया है जिसकी चर्चा हम अन्यत्र पृथक् से करेंगे।

२- आपसी सम्बन्ध

लोक-व्यवहार में आपसी सहयोग और विरोध का होना स्वाभाविक है। सहयोग मनुष्य की एक प्रवृत्ति है तथा विरोध उसकी प्रतिक्रिया। लोक-जीवन में इस सहयोग और विरोध से ही मनुष्य

---

१ माखनलाल चतुर्वेदी : बीजुरी काजल आँज रही, पृ० २०, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, १९६४।

२ सुरेन्द्र तिवारी : कुआरी धूप, पृ० २८, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९६९।

के आपसी सम्बन्धों का विकास होता है। ये सम्बन्ध कभी सहयोग के कारण मधुर तथा कभी विरोध के कारण कटु भी होते हैं।

सामान्यतः मनुष्य के आपसी सम्बन्ध प्रायः मधुर ही होते हैं। उनमें यदि किसी भी प्रकार की कटुता आती है तो वह प्रकट रूप में ही रहती है। वहाँ कपटपूर्ण आचरण नहीं होता। इसीलिये आपसी संबंधों में वहाँ प्रायः कुण्ठाओं का अभाव रहता है। वर्तमान सभ्य जीवन में जहाँ बढ़ती हुई भौतिकता और वैयक्तिकता के कारण संबंधों में दिखावे की प्रवृत्ति और कटुता आई है, वहाँ लोक - जीवन में अभी भी वास्तविक सरस संबंध जीवित हैं, जिनका प्रभाव कहीं - कहीं नागरिक जीवन पर भी देखा जा सकता है। गाँव में कुएँ पर पानी भरती हुई मुनिया को बहुत दिन बाद नगर से लौटा हुआ युवक, देखकर आज भी उससे कह देता है "लाओ मैं भर दूँ" और उसका हँस कर उत्तर मिलता है "तुम रहने दो"।[1] इतना ही नहीं बाढ़ - सूखा या किसी अन्य आपद के समय भी जब कि सभी को अपनी - अपनी पड़ी रहती है लोग एक दूसरे की सहायता कर देते हैं। किसी गाँव में बाढ़ आती है और वहाँ से जो लोग निर्वासित होते हैं उन्हें बड़ी खुशी के साथ दूसरे गाँवों में बसा लिया जाता है। क्यों वे सोचते हैं —

"बसो, तुम यहीं
खुली - खुली उतरवाओ यह सब
क्योंकि आखिर ये सब प्रवासी
हमारे हैं
हम इन्हें सिर - माथे लें"[2]

---

१ शिव मंगल सिंह 'सुमन' : पृ० ५६, राजपाल एण्ड संज़, प्रथम संस्करण, १९७२।

२ भवानी प्रसाद मिश्र : [illegible], पृ० ३०, सरला प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७१।

इस प्रकार भारतीय सामाजिक - जीवन में महानगरीय विसंगतियों के परिणाम स्वरूप संबंधों के खोखलेपन के बावजूद अभी भी मनुष्य के हृदय में स्नेह, प्रेम और सौहार्द्र विद्यमान है। जो समय - समय पर प्रकट होता है। विभाजन के समय मुसलमानों का भारत में रहना तथा पूर्वी पाकिस्तान (अब बंगला देश) के शरणार्थियों को हर प्रकार की सहायता देना इसी उदात्त प्रेम भावना के प्रमाण हैं। महानगरीय सम्बन्धों में प्राय: यह विशेषता नहीं देखी जाती किन्तु यह प्रसन्नता का विषय है कि भारतीय समाज में से प्रेम अभी लुप्त नहीं हुआ और हो भी नहीं सकता। क्योंकि लोक की प्राकृत धारा औद्योगीकृत महानगरीय कृत्रिम धारा से अधिक सशक्त है।

वर्तमान हिन्दी कविता ने जहाँ लोक - जीवन के विभिन्न पक्षों को भली भाँति चित्रित किया है वहीं सामाजिक सम्बन्धों पर भी उसकी सूक्ष्म दृष्टि है। लोक में व्याप्त सभी प्रकार के सम्बन्धों को उसने उभार कर सामने रखा है। और सम्पूर्ण स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कविता के अध्ययन से निष्कर्ष निकलता है कि वर्तमान कविता का मानवीय सम्बन्धों में फिर से अटूट विश्वास जमने लगा है। बीच में प्रयोगवादी कविता और कहीं - कहीं नई कविता ने मानवीय संबंधों की विषमता को ही अधिक उभारा था। किन्तु लाल बहादुर शास्त्री के शासन काल के बाद से कृषक वर्ग पर और ग्रामीण लोगों के विकास पर जब से ध्यान दिया गया है तब से उसमें सामाजिक सम्बन्धों के प्रति पुन: आस्था का भाव लौट आया है।

सम्बन्धों में निभाव और सफलता बनाए रखने के एक प्रमुख कड़ी माध्यम के रूप में "पत्र" अधिक महत्वपूर्ण माध्यम है। वर्तमान कवि की दृष्टि से ये भी ओझल नहीं हो सके हैं —

" ये पुराने पत्र जीवन के सफर के
मील के पत्थर समझ लो ।

* * *

आप, तुम, या तू
इन्हीं सम्बोधनों ने स्नेह का आँचल बुना है ।
स्नेह यह समझो नहीं तो
क्या लिखा है, क्या पढ़ा है ; क्या गुना है ; " [1]

वास्तविकता यह है कि व्यक्ति स्वयं एक दूसरे से मिल कर जिस स्नेह का निर्माण करता है वह स्नेह दूर रहने पर भी पत्र द्वारा उत्पन्न हो जाता है । अन्यथा दूर रह रहे व्यक्ति से प्राय: सम्बन्ध कट जाता है । ये पत्र अपने निकटतम व्यक्तियों के समाचार लाते हैं । और भारतीय घरों तथा परिवारों में इनकी उतनी ही आतुरता से प्रतीक्षा होती है जितनी आतुरता से प्रिया अपने प्रिय की प्रतीक्षा करती है और जिस प्रकार अपने प्रिय के कुशल-मंगल की कामना की जाती है उसी प्रकार पत्र के भी कुशल - मंगल की कामना रहती है ——

" खत एक संदेशवाहक है
घर घर में निजी सुख-दुख कहानी
लिए आता है
प्यार मन चाहता है
वह कभी आए
गमी लाए
खुशी लाए । [2]

---

१ रामकुमार चतुर्वेदी : ५५ की श्रेष्ठ कविताएँ, पृ० १३-१४, मयूर साहित्य प्रकाशन, नई दिल्ली ६, प्रथम संस्करण १९५६ ।

२ गिरिजा कुमार माथुर : शिला पंख चमकीले, पृ० २८, साहित्य भवन प्रा० लि०, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, १९६१ ।

लोक-जीवन में इन मधुर सम्बन्धों के पीछे मनुष्य की आदिम वृत्ति जहाँ काम करती है वहाँ उसके तात्कालिक स्वार्थ भी काम करते हैं। प्राय: अपनी व्यस्तताओं में घिरे रहने वाले व्यक्ति तथा जीवन में धन का मूल्य समझने वाले व्यक्ति, बेसहारा और धनहीन व्यक्ति की सहायता करने से कतराते हैं। वे किसी प्रकार का त्याग करके सहायता नहीं करना चाहते। यहाँ तक कि अपने रिश्ते तक भी सहायता देने से बचने के लिये तोड़ देते हैं। गरीबी में कोई किसी की सहायता प्राय: नहीं करता —

> "टूटते सारे सहारे
> दूर पर जब पास के रिश्ते
> जब नहीं महसूस होते हैं
> धूप के धनवान भी तो
> बेसहारों के लिये
> कंजूस होते हैं"[1]

वास्तव में इस प्रकार के सहयोग हीन किन्तु तटस्थ सम्बन्धों के पीछे व्यक्ति की व्यापारिक प्रवृत्ति काम करती है। यहाँ सम्बन्ध ग्राहक और दुकानदार जैसे होते हैं। एक चमार की दृष्टि में "हर आदमी एक जोड़ा जूता है। जो उसके सामने मरम्मत के लिये खड़ा है"।[2] किन्तु फिर भी इन व्यापारिक सम्बन्धों से परे व्यक्ति अपने व्यावहारिक जीवन में "अपनी सीमित सही परिधि" के भीतर "जो भी परिजन प्रियजन" आते हैं उन्हें बिसराता नहीं है।[3]

---

१ रमेश रंजक : दरपन नहीं टूटेगा, पृ० ५२, अनार प्रकाशन प्रा० लि०, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७४।

२ धूमिल : संसद से सड़क तक, पृ० ४९, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७२।

३ कीर्ति चौधरी : खुले हुए आसमान के नीचे, पृ० २२, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, १९६८।

इस प्रकार स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कविता में जन - सामान्य के आपसी सम्बन्धों तथा उसके पीछे काम करने वाली शक्तियों की पूर्णत: अभिव्यक्ति मिली है। किन्तु इसके अर्थ यह नहीं कि लोक - जीवन में "आपसी सम्बन्धों" में किसी प्रकार की जटिलता नहीं है। वास्तव में बढ़ती हुई सभ्यता, बौद्धिकता और व्यक्तिवादिता के कारण समाज में व्यक्ति के आपसी सम्बन्धों में कुछ जटिलता आई है जिसका प्रभाव लोक के आपसी सम्बन्धों पर भी पड़ा है किन्तु भारतीय लोक - जीवन इन जटिलताओं में पूरी तरह से अभी ग्रस्त नहीं हुआ है। फिर भी नागरिक जीवन के इस प्रभाव ने ग्रामीण जीवन में कुछ कुछ विष घोल दिया है — "फासलों के साथ बढ़ गया, गाँवों में शहर का कुहर।"[1] आपसी सम्बन्धों की इस जटिलता को हम वर्तमान संक्रान्ति युग का परिणाम मानते हैं।

३ - नारी-जीवन

"यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते ------ " का नारा लगाने वाले भारतवर्ष में एक समय ऐसा भी आया था जब नारी केवल उपभोग की वस्तु समझी जाती थी। किन्तु पुन: राष्ट्रीय आन्दोलनों के समानान्तर चलने वाले सामाजिक सुधार आन्दोलनों ने नारी को पुन: उसके प्राचीन पद पर प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया। द्विवेदी युगीन इतिवृत्तात्मक कविता ने तो एक प्रकार से नारी - प्रेम का निषेध सा ही कर दिया था। उनका नारी के सम्बन्ध में आदर्शवादी दृष्टिकोण यथार्थ

---

१ रमेश रंजक : हरापन नहीं टूटेगा, पृ० ५८, अक्षर प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७४।

से बहुत दूर हटा गया था। और इस क्रान्ति की पूर्ति छायावादी कविता ने की। नारी की उस गरिमा और महिमा को बनाए रखते हुए उसने नारी को प्रेम की मूर्ति भी कहा, वह उसके सौन्दर्य पर रीझा भी। किन्तु दोनों ही कविताओं में एक स्पष्ट अन्तर यह रहा कि उनमें नारी के प्रति जो भी दृष्टिकोण अपनाए गए थे वे एकांगी थे। स्वतन्त्रता के उपरान्त यह बात अब साफ हो चुकी है कि सामाजिक सुधार आन्दोलनों के परिणाम स्वरूप केवल नगरों में ही नारी की स्थिति कुछ सुधरी है किन्तु गाँवों में वह अभी - भी लगभग ज्यों की त्यों बनी हुई है। नगरों में भी एक अन्य दोष इस सम्बन्ध में बड़ी तीव्रता से पनपा है कि युग - युगों से बन्दी भारतीय नारी अपने इस अभ्युत्थान काल में कुछ अर्द्ध भ्रष्ट हो गयी और पश्चिम की अन्धी नकल करने लगी। उसके नित्य नये फैशन बदलने लगे। इस प्रकार वर्तमान लोक - जीवन में नारी की तीन स्थितियाँ उभर कर सामने आई हैं —— १- ग्रामीण नारी, जो अभी भी लगभग वहीं की वहीं पड़ी है, २- सुधार आन्दोलनों के परिणाम स्वरूप नागरी, जिसने पुनः अपनी गरिमा को प्राप्त किया है, ३- अर्द्ध भ्रष्ट, महानगरीय सभ्यता में पश्चिम की अंधानुकरण नकल करने वाली नारी, जिसने चाहे कुछ लोगों की दृष्टि में महत्व पाया हो किन्तु लोक दृष्टि में वो अपने स्थान से च्युत समझी जाती है। वास्तव में नारी के ये सभी रूप उसके प्रति पुरुष के दृष्टिकोण के परिणाम हैं। नारी के प्रति पुरुष की विभिन्न दृष्टियों ने ही उसे ग्राम्या, नागरी और फैशनेबुल बनाया है। वर्तमान कविता में नारी के किसी भी रूप को छोड़ा नहीं गया है। साथ ही उसमें नारी के प्रति जो पुरुष का सहज यौन आकर्षण है उसे भी नकारा नहीं गया अपितु उसके सम्बन्ध में अनेक कड़वे यथार्थ भी उघाड़ कर सामने रखे हैं। इस कविता में नारी के प्रति द्विवेदी युग का आदर्शवादी दृष्टिकोण भी है, छायावादी युग का रूमानी दृष्टिकोण भी है और वर्तमान यथार्थवादी दृष्टिकोण भी है।

किन्तु उसका रूमानी दृष्टिकोण छायावादी दृष्टिकोण से भिन्न है। वहाँ नारी के प्रति रूमानी दृष्टि तो है किन्तु खुल कर उसे स्वीकार करने का साहस नहीं है। यही कारण है कि उनकी कविताएँ रहस्यमयी हो गई हैं। किन्तु वर्तमान कविता के पास उस रूमानियत को स्वीकारने का साहस है क्योंकि आज कविता छायावाद के उपरान्त प्रगतिवादी कटु यथार्थता से भी गुज़र आई है। उसका लोक का अध्ययन पिछली कविता की अपेक्षा अधिक प्रौढ़ है। आज का कवि किसी नारी पर आसक्त होने को अपराध नहीं मानता। वह इस सहज सत्य को स्वीकारता है कि —

"जितने भी आकर्षण हैं धरती के ऊपर
नारी उनमें सर्वाधिक आकर्षक सुन्दर
रूप शिखा सा चमका जिसका देह दीप हो
मन पतंग मंडरायेगा ही उसके ऊपर।"[1]

उसकी दृष्टि में "यह तो बहुत असम्भव है कि 'कोई बिना फूले गन्धान मातें, कलियों के सुरभित आँगन में आकर कोई भ्रमर न बहके।'" इसीलिये वह बहुत दिनों के बाद ग्रामीण धान कूटती किशोरियों की कोकिल-कण्ठी तान[2] सुनकर या मालाबार की बाला को "क्वारी" में जूड़े का लाल फूल खोंसे हुए अपने आबनूसी शरीर पर लाल साड़ी पहने खड़ी है,[3] को देखकर अथवा कांगड़े की छोरियाँ जिनके कानों में झूमके

---

1 [illegible] नागर : चांद, चांदनी और कैक्टस, पृ० ३५, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७१।
2 नागार्जुन : [illegible], पृ० ४३, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, १९६६।
3 अज्ञेय : इन्द्रधनु रौंदे हुए ये, पृ० ५७, सरस्वती प्रेस, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, १९५७।

और बालियां लटके है,[1] को देखकर, लाल छापेदार लुंगड़ा पहने और गले में किसी सी चमकती हुई हंसली पहने मालव कन्या[2] को देख कर अत्यन्त गद्गद् हो उठता है। और ऐसी स्थिति में उसे छायावादी कवियों की भांति किसी प्रतीक की आवश्यकता नहीं होती। वह खुल कर उसके रूप का वर्णन करता है और अपनी भावनाओं को प्रकट करता है। वास्तव में यह उसकी कविता और अपने हृदय के प्रति एक निश्छल ईमानदारी है और इसी ईमानदारी के फल स्वरूप निराला स्वयं अपनी पुत्री सरोज का सौन्दर्य वर्णन कर सके हैं।[3] नारी कवयित्रियों ने भी अनेक रूप - चित्र खुल कर प्रस्तुत किये हैं —

"बुलबुल की तरह
चुलबुल चुलबुल कर रहीं
कुमारी के बच्चों सी
अभी ये अपने धोती के फाके थीं
खट्टी मिट्ठी आँखें थीं
कहाँ जाना है नानी
खड़ी थीं बस के इन्तजार में
घर जाने की राह में।"[4]

वर्तमान कवि के नारी - रूप - चित्रण में जहाँ यह सहजता है, वहाँ वह महानगरीय जीवन में नारी के कृत्रिम सौन्दर्य - प्रसाधनों पर अपनी

---

1 अज्ञेय : बावरा अहेरी, पृ० १८, भारतीय ज्ञानपीठ काशी, द्वितीय संस्करण, फरवरी, १९७२।

2 गिरिजा कुमार माथुर : शिलापंख चमकीले, पृ० ३, साहित्य भवन प्रा० लि०, इलाहाबाद - ३, प्रथम संस्करण, १९६१।

3 निराला : सरोजस्मृति, अपरा, पृ० १५३-१५७, भारती भण्डार, १९५५।

4 शकुन्त माथुर : चांदनी चूनर, पृ०७२, सा०भवन प्रा०लि०इलाहाबाद, प्र०सं०१९६०।

स्वस्थ दृष्टि भी रखता है। वह नारी का अन्धा प्रशंसक नहीं है। नही नारी को पुरुष से श्रेष्ठ मानता है अपितु नारी और पुरुष को समान दर्जा देता है। इसी वर्तमान प्रगतिशील युग में नारी की निरीह स्थिति की बात कुछ बेमानी सी लगती है। पश्चिमी सभ्यता का नशा अब बहुत कुछ उतर चुका है। वर्तमान कवि सहज भारतीय रूप सौन्दर्य को अपनी कविता में आँकता है। शहरी कृत्रिम सौन्दर्य उसे प्रभावित नहीं करता। वह खुल कर कहता है —

होटलों, रेस्त्रां, क्लबों, सिनेमा-घरों में
अपने से पागल हुये हों,

* * *

फूलों के मकबरे आते जाते हैं
देखें,
और उन पर झपटें
ताकि वे पौधे खिलाएँ

* * *

अन्धकार के सौन्दर्य की लाश देखें,
उस पर आँसू बहाएँ,
सच्चे प्यार की कसमें,
क्षणिक, उत्तेजक वासनाओं के नाम पर —
फिर पटकें,
साथ मरें, पछतायें। [1]

---

1 सर्वेश्वर दयाल सक्सेना : काठ की घण्टियाँ, पृ० ३०६ – ३०७, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, १९५९।

वास्तविकता यह है कि वर्तमान कवि का जो रुख ग्राम्या के प्रति है वह महानगरीय नारी के प्रति नहीं है। ऐसी नारी "लोक" में आदर की पात्र नहीं हो पाती। अपितु वह पुरुष की कामुक उत्तेजना का कारण बनकर स्वयं को नष्ट करती है। ऐसी ही औरत की लाज को आदमी नमक लगाकर पापड़ की तरह भून-भून कर सेंक देता है।[1] लोक की दृष्टि में ऐसी नारियाँ, "नारियाँ नहीं, माएँ नहीं, बहनें नहीं, बिटियाँ नहीं, पत्नियाँ नहीं हमारी" वे विज्ञापित और विनोदियाँ को चुपचाप बहाले जाने को मजबूर अण्डर ग्राउण्ड नालियाँ"[2] हैं"। ऐसी नारियों के साथ "घर नहीं वेश्यालय"[3] बसते हैं। उनको पुरुष का प्यार नहीं, केवल आर्थिक कान्ट्रैक्ट पर आधारित, "पैसे से सुगम और सुलभ हो जाने वाला बलात्कार"[4] मिलता है।

वर्तमान लोक-जीवन में चाहे वह फैशन परस्त आधुनिका हो, चाहे सीधी-सरल ग्रामीण नारी — दोनों ही अवस्थाओं में वह पुरुष के सम्मुख नत-मस्तक हो गई है। और इन्हीं पर पुरुष वर्ग का सम्पूर्ण अत्याचार होता है। ऐसी नारी के सम्बन्ध में रघुवीर सहाय का प्रस्तुत यथार्थवादी दृष्टिकोण सर्वथा उचित ही है —

---

१ विनोद नन्दिनी : हवि, पृ० ५०-५१, राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७२।

२ वीरेन्द्र कुमार जैन : शून्य पुरुष और वस्तुएँ, पृ० १२२, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, अक्टूबर, १९७२।

३ -वही- पृ० १२३।

४ -वही- पृ० १२४।

" नारी बिचारी है
पुरुष की मारी है
तन से क्षुधित है
मन से मुदित है
लपक कर - झपक कर
अन्त में चित है। "[1]

भारतीय लोक - जीवन में नारी यहीं पुरुष से पीछे रह जाती है। आज भी भारत वर्ष में अधिकांश लड़कियाँ पढ़ने - लिखने के उपरान्त विवाह करके घर के काम काज में ही घिरी रहती हैं।[2]

इस घरेलू नारी के अतिरिक्त लोक - जीवन में यदा - कदा पुरुष के अधिकार से मुक्त और पुरुष पर स्वयं का अधिकार स्थापित करने वाली महानगरीय वर्तमान आधुनिक नारी भी दीख पड़ती है। किन्तु विलासिता से मुक्ति यहाँ भी नहीं है। वास्तविकता यह है कि यह विलासिता का दृष्टिकोण, योरुप की अन्धी नकल, फैशन परस्ती, और युग - युग से आबद्ध नारी की मुक्ति से उत्पन्न कुण्ठाओं का ही परिणाम है। साथ ही इसका एक और कारण यह भी है कि नारी - सुधार - आन्दोलनों के खोखलेपन के कारण संविधान या समाज द्वारा प्रदत्त नारी की समानता का अधिकार अपनी मूल प्रेरणा को खोकर मात्र " परिपाटी " बन कर रह गया है।[3] किन्तु सामान्यत: भारतीय नारी

---

१ रघुवीर सहाय : सीढ़ियों पर धूप में, पृ० १०२, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, १९६० ।

२ वही - पृ० १४६ ।

३ प्रभाकर माचवे : अनुक्षण, पृ० ७३, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, १९५६ ।

कभी - भी इतनी नग्न नहीं हुई और न आज ही है। बाल स्वरूप " राही " अजन्ता की कलाकृतियों के प्रति " शीर्षक वाली अपनी कविता में मूर्ति के माध्यम से इसी बात को कहते हैं ----

" नग्न हो सकता वृक्ष है
पर धरा नंगी कभी होती नहीं है
फूल बन, लतिका, कली बन, तृण - पत्रों, डाल-वल्कल
नहीं तो धूल बन ही, धूल बन ही
वस्त्र निज तन से लपेटे
सिकुड़ती संकोच करती, युग-युगों से यह धरा आई
कभी दुकान पर बैठी नहीं
बाजार में नाची नहीं है। " [1]

यह नारी का जीवन तो शिला की भाँति रहा है जो सब कुछ सहता रहा और यह नारी अपनी भावनाओं को दबाकर पुरुषों को ।पुरुषत्व को। स्नेह, सौगातें और प्रेम निरन्तर बाँटती रही है। और इस प्रकार उसका जीवन जहाँ अपने लिये शिला के समान है वहीं पुरुषों के लिये निर्झर और नदी के समान है। [2]

---

१ बाल स्वरूप राही : ५५ की श्रेष्ठ कविताएँ, पृ० ७०-७८, नवसाहित्य प्रकाशन, नई दिल्ली- १, प्रथम संस्करण, १९५९ ।

२ शकुन्त माथुर : चाँदनी चूनर, पृ० १०६, साहित्य भवन प्रा० लि०, इलाहाबाद - ३, प्रथम संस्करण, १९६० ।

सामाजिक जीवन में नारी अभी भी पुरुष की सहधर्मिणी है। वह खेतों पर काम करती है — गीत गाकर धान रोपती है,[1] फसल काटती है,[2] साथ ही —

"उर में संभाले दर्द
मर्मभरी नारी का
कि जो पानी भरती है पनघार पहुँच है
कपड़ों को धोती है धाड़ - धाड़
घर के काम बाहर के काम सब करती है,
अपनी सारी थकान के बावजूद
मजदूरी करती है।"[3]

वास्तविकता यह है कि यह केवल ग्रामीणनारी की ही स्थिति है। शहर की नारी पुरुष की सहधर्मिणी कम सहभागिनी अधिक है। वह, कहीं-कहीं वह डाक्टर है, कहीं नर्स है,[4] कहीं नेता है, कहीं अध्यापिका है। और इस प्रकार वह समाज में ग्रामीण नारी की ही भाँति पुरुष के कन्धे से कन्धा मिलाकर कार्य करती है। किन्तु दोनों में एक अन्तर है कि जहाँ ग्रामीण नारी सहधर्मिणी होते हुए भी पुरुष के प्रति समर्पिता है वहाँ शहरी नारी स्वावलम्बी और स्वाभिमानी है। और यही मानसिक अन्तर एक को सहधर्मिणी अधिक और दूसरी को सहभागिनी अधिक बनाता है। किन्तु यह अन्तर उनके संस्कारों का अन्तर है। लेकिन

---

१ रामदरश मिश्र : पाँच जोड़ बाँसुरी, पृ० ६४, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, १९६९।

२ गिरिजा कुमार माथुर : धूप के धान, पृ० ७५, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, तृतीय संस्करण, १९६६।

३ मुक्तिबोध : चाँद का मुँह टेढ़ा है, पृ० ७७, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, १९७१।

जहाँ तक मातृत्व का प्रश्न है जेवर पहनना दोनों ही पसन्द करती हैं।[१]

इन सबके अतिरिक्त नारी भारतीय समाज में केवल कामेच्छा की सामग्री ही, न कभी रही है और न है। वह किसी की बहन है, किसी की माँ भी है, किसी की पुत्री भी है और पत्नी भी। वर्तमान कविता में उसके इन सभी रूपों को उभार कर सामने रखा गया है। उसने लक्ष्मीबाई को देखा है तो विजयलक्ष्मी पण्डित और इन्दिरा गांधी को भी देखा है। कस्तूरबा के सम्बन्ध में भवानी प्रसाद मिश्र की ये पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं —

> "तुमको देखा नहीं कदाचित,
> लेकिन लगता है कि बहुत देखा है तुमको
> जैसे पाँव दबाता था मैं मेरी माँ के"[२]

इन सबके साथ - साथ भारतीय समाज में दहेज प्रथा के कारण लड़कियों के विवाह की समस्या बड़ा भयंकर रूप धारण करती रही है जो अभी भी विद्यमान है। कोई पिता अपनी "बहुत बड़ी क्वाँरी लड़की को"[३] यदि दूल्हा खोज लेता है तो अपने को धन्य समझता है।

---

१ भवानी प्रसाद मिश्र : बुनी हुई रस्सी, पृ० ४५, सरला प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७१।

१ अज्ञेय : बावरा अहेरी, पृ० ३८, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, द्वितीय संस्करण, फरवरी १९७२।

२ भवानी प्रसाद मिश्र : गांधी पंचशती, पृ० २१२, सरला प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९६९।

३ [illegible] : साँझ सकारे, पृ० १०२, बिहार ग्रन्थ कुटीर, पटना-४, प्रथम संस्करण, १९६४।

उक्त प्रकार वर्तमान कथा में नारी की समाजगत स्थिति को भी भली भाँति उकेरा गया है।

६- वर्ण - व्यवस्था और जाति-भेद

भारतीय समाज में वैदिक काल में चार वर्णों की कल्पना की गई थी — ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। इनमें ब्राह्मण को सर्वश्रेष्ठ माना गया है, शेष क्षत्रिय और वैश्य तथा शूद्र को उत्तरोत्तर निम्न माना गया है। ब्राह्मण विद्या तथा धर्म का स्वामी, वैश्य धन तथा व्यवसाय का स्वामी एवं क्षत्रिय जनता की रक्षा करने वाला - " क्षतात् त्रायते इति क्षत्रिय। " तथा शूद्र को इन तीनों का सेवक कहा गया है। शूद्र को वेदाध्ययन का भी अधिकार नहीं था। इन्हें क्रमशः ब्रह्मा के मुख, बाहु, जंघाओं तथा चरणों से उद्भूत माना गया है। इसी क्रम से समाज में इनका महत्व भी स्वीकार किया गया है। किन्तु यह वर्ण व्यवस्था समाज में व्यक्ति के जन्म से नहीं मानी जाती थी अपितु उसके संस्कारों के आधार पर मानी जाती थी। संस्कार के उपरान्त ही व्यक्ति द्विज होता था तथा शूद्रों को संस्कार कराने का अधिकार नहीं था।

यह दूसरी बात है कि संस्कार प्रायः वंश और कुल के ही व्यक्ति में अधिक माने जाते थे। या यों कहें कि संस्कार से ही व्यक्ति का वंश और कुल उच्च माना जाता था। किन्तु वर्ण - व्यवस्था टिकी संस्कारों पर ही थी। आगे चल कर वंश को ही इसका आधार मान लिया गया।

और इसमें कट्टरता का समावेश हुआ । ब्राह्मण आदि ने इसका दुरुपयोग भी किया । ब्राह्मण चाहे कितना भी अज्ञानी हो अपने को पूजा का अधिकारी मानने लगा । क्योंकि वह ब्राह्मण कुल में उत्पन्न है । दूसरी और शूद्र चाहे कितना भी ज्ञानी हो वह निरादर का पात्र ही समझा जाने लगा । और जो इस प्रकार वर्ण - व्यवस्था वैदिक काल में बनी थी उसका मूल आधार लुप्त हो गया । साथ ही उस व्यवस्था का वास्तविक रूप भी विकृत होने लगा । इस दिशा में हिन्दी साहित्य के मध्यकालीन कवियों का भी ध्यान आकर्षित हुआ था। उन्होंने अनुभव किया कि ये वर्ण - भेद की दीवारें अब पुरानी हो चली हैं, इनका टूट जाना ही हितकर है अन्यथा ये अनायास भारतीय समाज पर गिर पड़ेंगी और उसे आहत करेंगी। इस दिशा में उन्होंने प्रयास भी किये। उनके सुफल भी निकले । किन्तु देश में मुसलमानों और बाद में अंग्रेजों के आगमन के कारण हिन्दू जाति में कट्टरता की भावना उत्पन्न हुई जिससे इस विकृत वर्ण - व्यवस्था की जकड़ भारतीय समाज पर और तगड़ी हो गई । अंग्रेजों के काल में भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलनों के समय गान्धी जी, स्वामी दयानन्द जैसे महापुरुषों का ध्यान इस ओर गया । उन्होंने अनुभव किया कि यह वर्ण - व्यवस्था अपने वर्तमान रूप में राष्ट्रीय एकता के मार्ग में बाधक सिद्ध हो रही है । अत: इसे तोड़ने के प्रयास एक बार पुन: प्रारम्भ हुए । स्वतन्त्रता के उपरान्त जब हमारा अपना संविधान बना तो शूद्रों की स्थिति सुधारने और वर्ण - भेद को समाप्त करने के लिये संविधान के मौलिक अधिकारों में भारतीय जनता को समानता का अधिकार सौंपा गया । साथ ही अस्पृश्यता निवारक कानूनों का

निर्माण भी हुआ ।[१] किन्तु भारतीय समाज में वर्ण - व्यवस्था की जड़ें इतनी गहरी जमी है कि उसे अभी तक नहीं उखाड़ा जा सका और अभी भी वह भारतीय राष्ट्र को एक होने से रोक रही है —

"" जाति - पाँति वैरों में खण्डित भुवन,
धर्म - जाति के भेदों में बिखरे मन, "" [२]

वर्ण व्यवस्था के साथ - साथ भारतीय समाज में जाति - व्यवस्था भी है जो उसे और भी छोटे - छोटे टुकड़ों में विभाजित करती है ।[३] ये जातियाँ व्यक्ति के कर्मों के आधार पर बनी थीं ।[४]

---

१ "It is only in the Modern period, since India freed herself from British Control, that this age - long problem is on the way to a complete solution."
— Bahadur Mal; a story of Indian Culture, Book [illegible], ~~Ch. III~~, p. 396, Hoshiarpur First Edition, 1956.

२ सुमित्रानन्दन पन्त : उत्तरा, पृ० ६७, भारती भण्डार, प्रयाग, द्वितीय संस्करण, २०१२ वि० ।

३ "We thus find, that by the end of the Gupta period, in the fifth century A.D. the caste system, with its four main castes and numerous sub-castes, had acquired a permanent character .... old sub-castes sometimes lost their status, and new sub-caste took their place with these minor variations, however, caste had become an established institution and has remained so through all the succeeding centuries."
—Bahadur Mall; A Story of Indian Culture, Book III, Chapter III, p. 202

४ "The law of Karma assured them, that they had got what they deserved and, therefore, they had no ground for complaint."
Ibid. p. 211.

किन्तु अब ये भी जन्मना ही मानी जाती हैं। और वर्ण व्यवस्था के साथ ये ऐसी घुलमिल गई हैं कि इनको पृथक करना भी अब कठिन है।

किन्तु भारतीय समाज की प्रवृत्ति अब पुनः इस जातिभेद को ढीला करने लगी है। वास्तव में सामान्य व्यक्ति मध्यकालीन सन्तों से बहुत अधिक प्रभावित है। किन्तु कुछ उच्च वर्ण, विशेष कर ब्राह्मण और क्षत्रिय अभी भी उस परम्परा को ढो रहे हैं। वर्तमान हिन्दी कविता में इन उच्च वर्णों पर, तथा वर्ण - व्यवस्था पर जहाँ तीखे प्रहार किये गए हैं वहीं निम्न वर्णों तथा जातियों के साथ सहानुभूति भी प्रकट की गई है। इन कविताओं में ब्राह्मण, बनिया, कायस्थ, चमार, कुम्हार, धोबी सभी जातियों का उल्लेख हुआ है। यहाँ तक कि अनेक आदिवासी जातियों को भी इस कविता में स्थान मिला है।

यह जाति - व्यवस्था जहाँ शूद्रों को अनेक अधिकारों से वंचित करती है वहाँ ब्राह्मणों को अनेक सामाजिक और कानूनी सुविधाएँ तथा अधिकार भी प्रदान करती है। वास्तव में यह व्यवस्था अभिजात्यता के दम्भ पर आधारित है।[१] यही कारण है कि "वैदिक विप्र के लिये बाकी सब अछूत है।"[२] ब्राह्मणों द्वारा निर्मित यह व्यवस्था

---

१ "The caste system, ever since its inspection, has never operated on the basis of social justice. It is rather an aristocratic organisation, in which the Sudras did not have, till recently any chance to rise in the social scale."
— Bahadurmal: A Story of Indian Culture, Book III Chapter III, p. 206.

२ गोपाल कृष्ण कौल : ५५ की श्रेष्ठ कविताएँ, पृ० २८, नव साहित्य प्रकाशन, नई दिल्ली - ६, प्रथम संस्करण, १९५६।

मनुष्य को एक होने से रोकती है। इससे सामाजिक ही नहीं धार्मिक भेद - भाव भी उत्पन्न होता है। एक ही ईश्वर के बनाए गए प्राणी इस पृथ्वी पर एक दूसरे से अपने को पृथक समझते हैं —

" मेरा शरीर ईश्वर का दिया था
लेकिन मैं
ब्राह्मण, कायस्थ या बनिया था
मैं दीवारों के बीच खड़ा होने में लग गया
और यहीं मुझ से गलती हो गई। "[1]

भारतीय समाज में ब्राह्मणों को जहाँ अपनी विद्या के लिये विशेष महत्व प्राप्त है वहीं लोक-जीवन में ब्राह्मण अधिक भोजन करने के लिये तथा मावे खाने के लिये प्रसिद्ध हैं।[2]

ब्राह्मण, बनिया तथा कायस्थ के अतिरिक्त इन कविताओं में गुजर, कहार, किरात, मीणा, अहीर, कुम्हार, धोबी, गोंड, आदि जातियों का भी उल्लेख हुआ है। राजस्थान तथा मालवा एवं गुजरात के बीच में गुजर[3] जातियों की एक शाखा है। किसी समय दिल्ली में उनका शासन भी रह चुका है। उनकी स्त्रियाँ बहुत सम्मानित होती

---

१ सुरेन्द्र तिवारी : सुबह हुए, पृ० १२, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९६१।

२ शिव रतन : नारों के अन्धे शहर में, पृ० १८, हेमन्त प्रकाशन, प्रथम संस्करण, १९७०।

३ -वही- पृ० १८।

हैं। प्राय: पानी के अभाव में इन्हें दूर - दूर से पानी भर कर लाना पड़ता है। इनकी विशेषता है कि ये एक बार में ही तीन-तीन और चार-चार घड़े पानी अपने सिर पर रखकर मीलों से ले आती हैं किन्तु सिर से घड़ा गिरता नहीं। " काछी " शब्द की दो व्युत्पत्ति हो सकती हैं —— १- कच्छी = कच्छ के रहने वाले। क्षतिपूरक दीर्घीकरण से यह शब्द काछी बन गया। २- दूसरे नदी के कछारों में निवास करने वाले। जो भी हो काछी[1] उत्तर भारत की वह जाति है जो सब्जियाँ और फल उगाती है तथा उन्हें बाजार में लाकर बेचती है। ये लोग प्राय: माली भी होते हैं। गाँवों में ये दूसरे जमींदार किसानों के यहाँ खेत पर मजदूरी भी करते हैं। " किरात " महाभारत कालीन एक आदिवासी जाति है जिसके संबंध में प्रसिद्ध है कि इस जाति के लोगों ने भगवान पशुपति नाथ के विवाह के समय के गीत गाये थे —

> चले आ रहे थे किरात जो
> कांधों पर सांभर लटकाये,
> गाते थे पशुपति विवाह में
> इतने मीठे गीत सुनाये। "[2]

इस जाति का कार्य वनों में आखेट करना है। महाभारत काल में भगवान शंकर ने एक किरात का रूप धारण करके ही अर्जुन से युद्ध किया था। " जोगी " शब्द योगी से बना है। ये भीख माँगने वाली एक

---

१ जगदीश गुप्त : शब्द दंश, पृ० ६०, भारती भण्डार, प्रयाग, प्रथम संस्करण, सं० २०१६।

२ नरेश मेहता : मेरा समर्पित एकान्त, पृ० ५३, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९६२।

जाति है जो प्राय: शंकर का विवाह, लोक-गीतों में सुनाते हैं। पीले वस्त्र धारण करने वाले ये जोगी प्रात: काल ही घर-घर जाकर अलख जगाते हैं।[1] सम्भव है पूर्वकाल में इनका सम्बन्ध नाथ या सिद्ध सम्प्रदाय से रहा हो। शंकर की मूर्ति पर चढ़ने वाला चढ़ावा प्राय: ब्राह्मण नहीं लेते। उसे यही जाति लेती है। "अहीर" शब्द आभीर का पूर्व रूप है। यह पशुपालन करने वाली, विशेष कर गाय पालने वाली जाति है। भारतवर्ष में यह जाति सिन्ध की ओर से गुजरात, राजस्थान होती हुई चारे की तलाश में व्रज प्रदेश में आकर बस गई। भगवान कृष्ण को अनेक पुराणों ने इस जाति से जोड़ा है। ये अपने को यादव क्षत्रिय भी कहते हैं। सम्भव है आगे चल कर ये यादव क्षत्रियों में घुल-मिल गये हों। यादव, चन्द्रवंशी क्षत्रिय होते थे। प्राय: पश्चिमी उत्तर प्रदेश में इनकी संख्या अधिक है। इनके रहन-सहन में एक घुमन्तू जाति की पूरी मस्ती अभी भी देखी जा सकती है।[2] इन्हीं में एक जाति "ग्वाला" जिसे व्रज प्रदेश में "ग्वारिया" भी कहते हैं, होती है। यह जाति गाय, भैंस आदि, दूध देने वाले पशु पालती है तथा दूध बेचने का व्यवसाय करती है।[3] सम्भवत: यह शब्द "ग्वाला" गोपालक से गोपालअ → गोआलअ → ग्वाला बना हो। आज भी इस जाति का गोपालन से बहुत गहरा सम्बन्ध है। "कुम्हार", संस्कृत में इसे "प्रजापति" — निर्माण करने वाला कहते हैं। यह जाति मिट्टी के बर्तन तथा खिलौने बनाने का कार्य करती है।[4] यह

---

1 श्रीमन्मधुकर : कृष्ण चरित, पृ० १९, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७३ ।

2 शिवप्रसादसिंह "गुमक", पृ० ५८, राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७२ ।

3 अज्ञेय : अरी ओ करुणा प्रभामय, पृ० १५६, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, १९५९ ।

4 शिवप्रसाद सिंह "गुमक" : पृ० १३१, राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७२ ।

जाति विवाह के अवसर पर एक लोक - देवता " बूढ़े बाबू " की पूजा का सामान ग्रहण करती है तथा पूजा कराती है। " धोबी "[1] ये समाज में उच्च वर्ग के लोगों के वस्त्र धोने का कार्य करते हैं। ये प्रात: से ही धोने के लिये वस्त्र लेकर घाट पर चले जाते हैं[2] और फिर शाम को धुले हुए वस्त्र लेकर वापस आते हैं। कहते हैं पानी में इनकी रचना नहीं गलती। कहार उच्च जातियों के यहाँ पानी भरने तथा बर्तन साफ करने का कार्य करते हैं। इनके सम्बन्ध में भी धोबियों की ही तरह विश्वास किया जाता है। चमड़े और जूतों का काम करने वाली एक जाति " चमार " होती है। जिसे " मोची " भी कहते हैं। ये लोग मरे हुए जानवरों की खाल उतारने का भी कार्य करते हैं। " धूमिल " की " मोचीराम " शीर्षक कविता में इस जाति के कार्य का बड़ा सुन्दर तथा मर्मस्पर्शी चित्रण हुआ है।[3] इनके अतिरिक्त मध्य प्रदेश के जंगलों में एक आदिवासी जाति " गोंड " पाई जाती है इस जाति के लोग तीर और भाले चलाने में विशेष कुशल होते हैं। यह मुर्गे तथा तीतर पालते हैं, चूहे को झोपड़ियों में रखते हैं तथा अपने काले और लम्बे शरीर पर केवल एक अधोवस्त्र धारण करते हैं।[4]

इस प्रकार हम देखते हैं कि वर्तमान हिन्दी कविता में भारतीय समाज की जिन जातियों का उल्लेख हुआ है वे अधिकत: निम्न जातियाँ हैं।

---

१ सुमित्रानन्दन पंत : ग्राम्या, पृ० ३१, भारती भण्डार, प्रयाग, षष्ठ संस्करण, २०२१ वि० ।

२ केदार नाथ अग्रवाल : फूल नहीं रंग बोलते हैं, पृ० ६८, परिमल प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, अक्टूबर, १९६५ ।

३ धूमिल : संसद से सड़क तक, पृ० ४१, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७२ ।

४ भवानी प्रसाद मिश्र : दूसरा सप्तक, पृ० ११, प्रगति प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९५१ ।

उच्च जातियों पर प्राय: इन कवियों ने व्यंग ही किये हैं। वास्तव में यह वर्तमान भारतीय लोकतान्त्रिक समाज व्यवस्था का ही परिणाम है। अत: हम कह सकते हैं कि वर्तमान कविता की दृष्टि जन-सामान्य पर है। वह निम्न कहे जाने वाले सामान्य लोगों का प्रतिनिधित्व करती है। उच्च कुल के अभिजात वर्ग का नहीं।

५- सामाजिक नीति और शिक्षा

भारतवर्ष में स्वतन्त्रता के उपरान्त शिक्षा का प्रचार और प्रसार पहले की अपेक्षा अधिक हुआ है। वर्तमान शिक्षा प्रणाली जहाँ एक ओर व्यय - साध्य है, वहीं अगाध ज्ञान भण्डार देने के बाद भी लोक - व्यवहार नहीं सिखाती। पिछले कुछ वर्षों से देश का चारित्रिक पतन बहुत हुआ है। सामान्य - जीवन में यह शिक्षा प्रणाली व्यक्ति के किसी काम की नहीं। लोक में अभी भी इस शिक्षा पद्धति से मुक्त किन्तु जीवन में अत्यन्त सफल व्यक्ति विद्यमान हैं। शिक्षा का उद्देश्य आज के युग में केवल धन कमाना या नौकरी खोज कर अपनी पद - प्रतिष्ठा बढ़ाना मात्र रह गया है। वर्तमान कवि इस शिक्षा पर प्रहार करता है। उसकी दृष्टि में ये "शिक्षा के कबीर स्तूप," "लार्ड मैकाले की टकसालें" हैं जो औपचारिक स्तर पर डिग्री-धारी नागरिक तैयार कर रही हैं। इनकी नींव और ईंटें ही नहीं परकोटे और प्राचीरें तक वैसी की वैसी है, जैसी कि मैकाले ने बनाई थीं। परिणामत: आज के शिक्षित "तर्कों, वादों, मत-मतान्तरों के थोथे पण्डित" मात्र होकर रह गए हैं।[1]

---

१ अम्बाशंकर नागर : चांद-चांदनी और केकटस, पृ० ४७, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण १९७१।

वास्तविकता यह है कि वर्तमान शिक्षा किसी ठोस - पाण्डित्यपूर्ण प्रतिभा को जन्म देने में असफल रही है। उसने अब तक केवल अधकचरे नागरिक और अधकचरे विद्वान ही तैयार किये हैं। आज साहित्य का विद्यार्थी साहित्यकार न बनकर क्लर्क या और कुछ बनता है। उसका सम्पूर्ण अध्ययन उसके जीवन में व्यर्थ सिद्ध होता है। ये वर्तमान शिक्षा प्रणाली से निकले हुए व्यक्ति प्राय: नौकरी के अतिरिक्त और कुछ नहीं कर पाते। अपने पिछले पैतृक कार्यों को ये छोड़ देते हैं। इस प्रकार नागरिक जीवन में शिक्षा एक मखौल बन कर रह गया है।

देश में शिक्षा के इतने प्रचार - प्रसार के बाद भी यहाँ का लोक - जीवन निरक्षर है। किन्तु उसके पास ज्ञान की वह अविरल पूँजी है, जो उसे परम्परा से प्राप्त है। और वह उसी के बल पर सफल है। उसकी अपनी नीति है, अपना दर्शन है और इन्हीं से वह अपने जीवन में संचालित होता है। वर्तमान कवि का भी ध्यान उस पुरानी शिक्षा - परम्परा, नीति कविता की ओर गया है। वह अंग्रेजी शिक्षा पर व्यंग कस कर उसी प्राचीन शिक्षा की परम्परा को लेकर चल रहा है। उसकी कविताओं में स्थान - स्थान पर जन - सामान्य को नीति की शिक्षा दी जाती है।

अन्य कवियों की ही भाँति वह भी जन - सामान्य को बताता है -
" सब दुखी संसार में जितना जो जब जुड़ा है, बन सके तो निष्कपट मृदु हास से जीवन जुड़ा दें। " १ उसके अनुसार फिक्र करना व्यर्थ [illegible] है

---

१ भवानी प्रसाद मिश्र : त्रिकाल सन्ध्या, पृ० २१, प्रगति प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९५१।

और दु:खों से डरना कायरता है। व्यक्ति को चिन्ता छोड़ कर दुखों का सामना करना चाहिये।[1] जीवन की दौड़ में यदि सबसे पीछे रहे और सदा दूसरों की मदद से आगे बढ़े तो यह सबसे " बड़ी शर्मिन्दगी " और " बुरी ज़िन्दगी " है।[2] अत: व्यक्ति को स्वावलम्बी होना चाहिये। और अपने धन से कमा कर खाने का यह अर्थ नहीं कि उस धन को फूंका जाय, उसका दुरुपयोग किया जाय। अथवा अभिमानी हो जाया जाय। अपितु सादा खाना चाहिये तथा सादा ही पहनना चाहिये, कड़वा भी नहीं बोलना चाहिये। सदा मीठा बोलो क्योंकि कड़वा बीज कड़वे फल को ही जन्म देता है।[3] और जब भी बोलो तो सत्य बोलो झूठ के सम्मुख कभी झुको मत, क्योंकि वही व्यक्ति सच्चा होता है जो असत्य से नहीं डरता और सदा सत्य बोलता है।[4] किन्तु यह सत्य कड़वा नहीं होना चाहिये उसमें स्नेह की मिठास होनी चाहिये।[5] एक बार व्यक्ति किसी से मीठा और स्नेह पूर्वक बोल कर देखे तो पायेगा कि उसे भी वह मीठा और स्नेहमय स्वर सुनायी दे रहा है।

ये सभी नीति की शिक्षाएं भारतीय लोक-जीवन में बहुत पहले से दी जाती रही हैं। प्रत्येक युग का कवि इनको किसी न किसी रूप में

---

1 शकुन्त माथुर : चांदनी चूनर, पृ० १०४, साहित्य भवन प्रा० लि०, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, १९६० ।

2 भवानी प्रसाद मिश्र : गांधी पंचशती, पृ० १४७, सरला प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९६९ ।

3 -वही- पृ० १४२ ।

4 भवानी प्रसाद मिश्र : दूसरा सप्तक, पृ० २२, प्रगति प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९५१ ।

5 -वही- पृ० २४ ।

दुहराता रहा है। कभी उनका स्पष्ट कथन किया गया है तो कभी उन्हें व्यंजना से प्रकट किया गया है। और वर्तमान कवि भी यही कर रहा है। वह बतलाता है कि व्यर्थ की मीठी बातों से मौन रहना अधिक श्रेष्ठ है, मानी व्यक्ति चाहे वह निर्धन हो, किसी धनी किन्तु सूम से अच्छा है। और किताबी ज्ञान से, व्यक्ति का थोड़ा सा ही सही, निजी अनुभवों पर आधारित ज्ञान महान है।[१] और वर्तमान कवि इसी का प्रचार कर रहा है। अज्ञेय की " अच्छा खंडित सत्य " शीर्षक कविता में इस प्रकार के अनेक नीतिपरक अनुभवों से उद्भूत उपदेश दिये गये हैं। और सब के अन्त में वे कहते हैं ——

> "" अच्छा अपना ठाठ फकीरी
> मंगनी के सुख - साज से। ""[२]

लोक का विश्वास है कि इन नीतियों पर चलने वाला व्यक्ति ही अपनी मंजिल तक पहुंचता है। उसकी मान्यता है कि लोक की मर्यादा सबसे बड़ी वस्तु है। कभी - कभी इस लोक - मर्यादा की वेदी पर व्यक्ति - प्रेम भी न्यौछावर हो जाता है।[३] भारतवर्ष में कुंआरे युवक - युवतियों के प्रेम - सम्बन्धों को अच्छी दृष्टि से नहीं देखा जाता है। फिर भी प्रेम पर कोई वश नहीं चलता अतः आज का नवयुवक तथा नवयुवती अपने प्रेम को गोपनीय रखते हैं ——

---

१ अज्ञेय : अरी ओ करुणा प्रभामय, पृ० १६, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, १९५९।

२ - वही - पृ० १५-१६।

३ धर्मवीर भारती : [illegible], पृ० ६२, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, १९५९।

" यह खेल हंसी
यह फाँस फँसी
यह पीर किसी से मत कह रे। "[1]

इस प्रकार लोक - मर्यादाओं का उल्लंघन लोक - जीवन में होने लगा है, किन्तु गुप्त रूप से। वास्तविकता यह है कि भारतीय लोक - जीवन में, प्रेम - प्रकाशन को चाहे जितना लोक - मर्यादा के विरुद्ध माना गया हो किन्तु प्रेम का प्रकाशन कभी रुका नहीं है ——

" प्यार को पाप माना जिस देश में
प्यार के गाने वहाँ सबसे अधिक।
जहाँ पर बंधन सामाजिक बहुत हैं
वहाँ के गायक - सुकवि सारे रसिक।। "[2]

वास्तविकता यह है कि लोक - मर्यादा का इतना कठोर नियन्त्रण भारत के मध्यकालीन समाज में आरम्भ हुआ था। किन्तु प्रेम एक ऐसा मनोविकार है जिसको समाप्त नहीं किया जा सकता। वस्तुतः वर्तमान अनुभव व्यक्ति की प्राचीन नैतिक - शिक्षा, को बदल रहे हैं। इतना ही नहीं पश्चिम के प्रभाव की भी इस बदलाव में महत्वपूर्ण भूमिका रही है।

---

१ कल्पना : पाँच जोड़ बाँसुरी, पृ० १५, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, १९६९।

२ अजितकुमार : अकेले कंठ की पुकार, पृ० ३५, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९५८।

६– मेले और सामाजिक उत्सव

ग्राम – प्रधान – देश भारतवर्ष में अति प्राचीन काल से ही अनेक मेले और उत्सवों का आयोजन होता रहा है। ये मेले प्राय: प्रत्येक नगर और अधिकांश: गाँवों में भी लगते हैं। किन्तु कुछ स्थानों के मेले पूरे देश में प्रसिद्ध हैं। अति प्राचीन मेले और उत्सव यहाँ दो प्रकार के हैं। एक वे जिनका आधार धार्मिक है जो किसी निश्चित स्थान पर ही लगते हैं। यह स्थान प्राय: कोई तीर्थ होता है। जैसे – दशहरा, माघ मेला, कुम्भ, आदि। दूसरे कुछ मेले एक विशेष अवसर पर सम्पूर्ण देश में मनाए जाते हैं — जैसे, गुड़ियों का मेला, सावन में तीजों का मेला, सलूनो का मेला या अनेक धार्मिक मेले।

ये मेले चाहे वह किसी भी प्रकार के क्यों न हों दो लाभ भारतीय लोक – जीवन को अवश्य प्राप्त होते रहे हैं — १– इन मेलों के अवसरों पर व्यक्तियों को आपस में मिलने-जुलने तथा साथ रहने का अवसर प्राप्त होता है, जिससे उनके सामाजिक सम्बन्धों में दृढ़ता आती है। २– ये मेले व्यावसायिक और व्यापारिक दृष्टि से लाभकर होते हैं। प्राय: जो वस्तुएँ सुदूर गाँवों तक नहीं पहुँच पातीं, उन्हें भारतीय जन इन मेलों से खरीद ले जाता है।

भारत के इन मेलों के मूल में प्राय: धर्म अथवा ऋतुएँ हैं। सभी मेले या तो किसी देव अथवा देवता से जुड़े हुए हैं, जैसे — कृष्ण जन्माष्टमी, रामनवमी, काली पूजा या दुर्गा नवमी आदि, अथवा ऋतुओं से जुड़े हुए हैं, जैसे — हरियाली तीज, दीपावली, होली, नव संवत्सर, बसंत पंचमी आदि। धार्मिक मेलों तथा उत्सवों की चर्चा हम लोक के धार्मिक जीवन

के अन्तर्गत करेंगे । यहाँ केवल ऋतु संबंधी उन मेलों को ही लेंगे जिनके मूल में कुछ धार्मिक शक्तियाँ ही कार्य करती हैं ।

स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कविता में ऐसे अनेक मेलों की चर्चा तथा वर्णन हुआ है जिनमें लोक - सामान्य व्यक्ति आपस में हिल - मिल कर उनका आनन्द लेते हैं तथा एक दूसरे के निकट आते हैं और जिनसे सामाजिक सम्बन्धों में दृढ़ता आती है ।

सावन के महीने में इलाहाबाद तथा उसके आस - पास बिहार तथा पूर्वी उत्तर प्रदेश में गुड़ियों का मेला लगता है । इसे पश्चिमी उत्तर प्रदेश में हरियाली तीजों के नाम से जाना जाता है । इस मेले में कुँआरी लड़कियाँ अपनी गुड़िया प्रतिवर्ष किसी तालाब अथवा नदी में सिराती हैं तथा आपस में नई मित्रताएँ जोड़ती हैं। पूर्वी उत्तर प्रदेश तथा बिहार में दस दिन पहले से बोये हुए जौ की पत्तियाँ तोड़कर कानों में लगाई जाती हैं । बच्चों में इन मेलों को देखने का विशेष उत्साह होता है —

"आज गुड़ियों का मेला है, माँ ।
मुझे एक दो पैसे वाली
कागज की फिरकी ले दे मैया
अच्छा मैं लड्डू नहीं माँगता
तुम बस दो पैसे दे मैया ।"[१]

---

१ अज्ञेय : आँगन के पार द्वार, पृ० २६, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, १९६१ ।

इसी प्रकार जाड़ों में जनवरी के महीने में भारतीय पद्धति से माघ के महीने में जब सूर्य उत्तरायण से दक्षिणायन होते हैं तब मकर संक्रान्ति या माघ संक्रान्ति मनाई जाती है। इस समय सम्पूर्ण भारतवर्ष में मेलों का आयोजन होता है। सभी नदियों पर स्नान का पर्व होता है। यह मेला कृषि और धर्म दोनों की दृष्टियों से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। गंगा - यमुना के संगम पर तीर्थराज प्रयाग में यह मेला बहुत विराट स्तर पर मनाया जाता है। दक्षिण भारत में इस पर्व को " पोंगल " कहते हैं। पूर्वी भारत में इसे बिहू के नाम से जाना जाता है। इलाहाबाद में यह मेला पूरे एक माह तक चलता है। लाखों लोग दूर - दूर से आकर गंगा - स्नान का पुण्य प्राप्त करते हैं।

ऐसे मेलों के अवसरों पर ही ग्रामीण जन बहुत दिन बाद लौटे हुए, अपने प्रियजनों के सम्मान में कजली भी गाते हैं।[1] जिससे उनका एक दूसरे के प्रति अगाध स्नेह प्रकट होता है।

इसी प्रकार सावन के महीने में झूलों का क्रम चलता है। विवाहित युवतियाँ अपनी ससुराल से अपने पिता के घर लौट आती हैं।[2] इन्हीं दिनों हरियाली तीज नामक त्यौहार मनाया जाता है।

किन्तु कार्तिकोत्सव पर जब कि सब सखियाँ अपनी अटरियों में दीप धरती हैं तथा मनभावन शृंगार करती हैं तब प्रिय का निकट न होना भारतीय नारी को बहुत खलता है।[3] इस दिन सभी स्त्री - पुरुष,

---

१ प्रेमकुमार बन्द्योपाध्याय: इन किरणों के लिए प्रार्थना, पृ० ३१, पाण्डुलिपि प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७३ ।

२ शकुन्त माथुर : चाँदनी चूनर, पृ० ७७, साहित्य भवन प्रा० लि० इलाहाबाद-३, प्रथम संस्करण, १९६० ।

३ गिरिजा कुमार माथुर : धूप के धान, पृ०६६, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, तृतीय संस्करण, १९६६ ।

लाल - सुर्ख बासन्ती वस्त्र धारण करती हैं। इस अवसर पर अनेक स्थानों पर मेले भी लगते हैं।

इसी प्रकार स्वतन्त्र भारत का एक त्यौहार "गणतन्त्र दिवस" है। यह २६ जनवरी को मनाया जाता है। यह शुद्ध राष्ट्रीय पर्व है, भारत की जनता का पर्व है।[१] २६ जनवरी सन् १९५२ को भारत में उसका अपना संविधान लागू हुआ था। १५ अगस्त भी इसी प्रकार का पर्व है। यह भी भारत की स्वतन्त्रता का पर्व है। इसी दिन सैकड़ों वर्ष पुरानी दासता से भारत को मुक्ति मिली थी। इसी दिन भारत की विषम शृंखलाएँ टूटी थीं तथा सभी दिशाएँ खुली थीं।[२] इस दिन दिल्ली के लाल किला - मैदान में एक विशाल परेड का आयोजन होता है। साथ ही सम्पूर्ण भारतवर्ष में यह उत्सव बड़े उल्लास के साथ मनाया जाता है।

इन सभी मेलों में दूर - दूर से लोग एकत्रित होते हैं, तरह - तरह की दुकानें लगती हैं, प्रदर्शन होते हैं। इन मेलों में कहीं भीड़ में किसी बुढ़िया से कोई गुड़िया बतियाता है,[३] तो कहीं कोई जादूगर "मल्लाहों के सिक्के" और "सूखी बिवाइयों" की कड़ी तालियों की आवाज़ के साथ "रुपये के नोट को फूल बनाने का जादू" दिखाता है।[४] कहीं राप्ती के उस पार से आया हुआ लोकगायक झूम - झूम कर अपनी कजरी गा - गाकर गीत सुनाता है और बच्चों तथा श्रोताओं का मन पागल

---

१ अज्ञेय : बावरा अहेरी, पृ० ३६, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, द्वितीय संस्करण, १९७२।

२ गिरिजा कुमार माथुर : धूप के धान, पृ० ३५, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, तृतीय संस्करण १९६६।

३ कुँवर नारायण : तीसरा सप्तक, पृ० १५९, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, तृतीय संस्करण, १९६७।

४ प्रणवकुमार वन्द्योपाध्याय : शुभ चिह्नों के लिए प्रार्थना, पृ० ८६, पाण्डुलिपि प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७३।

कर देता है । [१] कहीं कोई कच्चा गुब्बारे या नकली फूलों के गुलदस्ते खरीदने के लिये मचल पड़ता है । [२] वर्तमान हिन्दी कविता में मेलों के अनेक ऐसे दृश्यों का बड़ा सजीव चित्रण हुआ है ।

||||||||||||||||||||||||||||

७- अपराध और नशा

||||||||||||||||||||||||||||

प्रत्येक राष्ट्र और जाति के जीवन में जहाँ उसे प्रगति पथ पर निरन्तर अग्रसर करने वाले अनेक आदर्श और सिद्धान्त होते हैं, वहीं उसकी प्रगति में बाधक कुछ ऐसे तत्व भी होते हैं जो उसे आगे बढ़ने से रोकते हैं । ये तत्व प्रत्येक युग में रहते हैं और आज भी हैं । वास्तव में प्रगति और अवरोध दोनों ही जीवन है । यह संसार एक द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया पर आधारित है । अपनी इसी प्रक्रिया से रुकता और चलता हुआ लोक-जीवन निरन्तर प्रगति पथ पर अग्रसर हो रहा है । किसी भी देश के इतिहास में ये अवरोधक तत्व अभी तक कभी भी पूर्ण सफल नहीं हो सके हैं ।

भारतीय लोक - जीवन में अपराध और नशा इन्हीं अवरोधक तत्वों में से हैं । जिनके विरुद्ध अनेक प्रगतिशील शक्तियाँ - गौतम बुद्ध से गांधी तक, निरन्तर सक्रिय रही हैं और विजय प्राप्त करती रही हैं । फिर भी भारतीय लोक - जीवन में ये हैं । इनका अस्तित्व भी

---

१ प्रभातकुमार बन्द्योपाध्याय : कुछ शिशुओं के लिए प्रार्थना, पृ० ८६, पाण्डुलिपि प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७३ ।

२ अखिल कुमार : साम्प्रतिकी, पृ० १६२, बिहार ग्रन्थ कुटीर, पटना - ४, प्रथम संस्करण, १९६४ ।

स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कविता ने जहाँ प्रगतिशील शक्तियों की हिमायत की है वहाँ उन अपराधियों की ओर भी वह आकृष्ट हुई है। अनेक विषम पक्ष जीवन के भी इस कविता में उभारे गए हैं।

भारतीय लोक - जीवन में क्या, सम्पूर्ण विश्व के जीवन में "जुआ" एक सामाजिक अपराध माना गया है। प्रत्येक कानून, प्रत्येक धर्म इसे अपराध मानता है। फिर भी यह प्रवृत्ति समाप्त नहीं हुई है। भारत में यह प्रवृत्ति अत्यन्त प्राचीन प्रवृत्ति है। महाभारत काल में युधिष्ठिर और दुर्योधन का जुआ जिसमें द्रौपदी तक को दाँव पर लगा दिया गया,[1] नल और पुष्कर का जुआ जिसमें राजा नल अपना सभी कुछ हार गये,[2] का उल्लेख मिलता है। इसी परम्परा में दीपावली के दिन जुआ खेलने की परम्परा भी आती है। भारतीय लोक - जीवन में दीपावली के दिन जुआ खेलना धर्म सा भी हो गया। वर्तमान भारतवर्ष में यह सामाजिक अपराध तो है ही, कानूनी अपराध भी है। इसमें व्यक्ति कभी चैन नहीं पाता। जीतने की आशा में वह निरन्तर अपना सब कुछ हारता चला जाता है। कभी - कभी तो हारता हुआ जुआरी अपने "आखरी दाँव" में अपनी समस्त पूँजी को भी दाँव पर लगा देता है।[3] और जीत की आशा में उसे प्राप्त होती है हार, असफलता, निराशा। फिर भी वह जुआ खेलने से बाज नहीं आता। और फिर इस प्रकार से असफल होकर व्यक्ति नशे की शरण में जाता है। कभी - कभी वह व्यक्ति वेश्यालयों में भी जाने लगता है।[4]

---

१ महाभारत : सभापर्व । द्यूतपर्व ६५।३६

२ -वही - वनपर्व । नलोपाख्यान पर्व ५९।६-१० ।

३ डा० रवीन्द्र कुमार वर्मा : एक अपरिचित आकाश, पृ० ५८, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७३ ।

४ वीरेन्द्र कुमार जैन : शून्य पुरुष और वस्तुएँ, पृ० १०५, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, अक्टूबर १९७२ ।

क्योंकि वह सब कुछ से ऊब गया होता है। वह नहीं जानता कि वह एक अपराध के द्वारा धनवान बनना चाहता था। उसकी दृष्टि में वह कोई अपराध ही नहीं होता अन्यथा वह उस कार्य को करता ही क्यों? किन्तु उसकी यह अपराध - प्रवृत्ति उसे निरन्तर पतन के मार्ग पर ले जाती है। वह तरह - तरह के नशे करने लगता है।

वर्तमान हिन्दी कविता में भारतीय लोक - जीवन में प्रचलित अनेक नशों का भी उल्लेख हुआ है। कवियों के लिये तो यह शब्द बहुत पहले से ही चेतना-हीनता का पर्याय बन चुका है। नशाखोर व्यक्ति निश्चय ही चेतनाशून्य होता है उसे अपने पर काबू नहीं रह जाता। स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कविता में जिन मादक द्रव्यों का उल्लेख हुआ है उनमें ताड़ी[1], चरस,[2] सुरा,[3] या शराब, भांग तथा अफीम[4] आदि प्रमुख है।

नशा किसी भी प्रकार का हो वह अच्छा नहीं माना जा सकता। साथ ही " पी नहीं है अपितु पिलाई गई है " का तर्क भी बेमानी है —

" भांग और अफीम दोनों की दवा नीम मिलाएंगे
यह भाई - भाई नहीं सिर्फ नशीली आँखें
एक ने खायी है दूसरे ने पी आँखें।
खाई है या खिलाई गई है

---

1 नरेश : कविताएँ १९६४, पृ० ७१, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९६६।

2 भवानी प्रसाद मिश्र : गांधी पंचशती, पृ० ७३८, सस्ता प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९६९।

3 वीरेन्द्र कुमार जैन : [illegible], पृष्ठ ७८, बिहार ग्रन्थ कुटीर, पटना - ४, प्रथम संस्करण, १९६०।

4 [illegible] बन्द्योपाध्याय, कुछ शिशुओं के लिये प्रार्थना, पृ० ३४, पाण्डुलिपि प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७३।

पी है या पिलाई गई है
इससे फ़र्क नहीं पड़ता है, हैं दोनों नशे में। ''[1]

और यह नशे की लत व्यक्ति को कुछ भी सोचने नहीं देती। पत्नी द्वारा मेहनत से कमाते गये धन को छीन कर पति शाम को घर में ताड़ी पी जाता है, ऐसी स्थिति में बेचारी पत्नी के पास अपनी किस्मत को दोष देने तथा रोने के अतिरिक्त शेष क्या रह जाता है।[2] यह अवस्था प्रायः निम्न वर्ग के व्यक्तियों की ही है। वास्तव में इसके मूल में उनकी गरीबी है। एक रिक्शा - चालक दिन भर रिक्शा चलाने के बाद 'गम गलत करने के लिये चार आने की स्पिरिट पीकर मनोरंजन के लिये बारह आने का टिकट एक रुपये में खरीद कर शो खत्म होने के बाद जब घर आता है' तो 'सिरकी कुटी में' 'भूखे सोये हुए बच्चों को देख कर' 'अशोक की तरह कलिंग - विजय पर रोता है।'[3]

इस प्रकार जहाँ वह 'स्पिरिट' पीकर अपने शरीर को नष्ट करता है, वहाँ अपने बच्चों के भविष्य को भी बिगाड़ता है। यह भारतीय लोक - जीवन की वास्तविकता है जो इस कविता में उभर कर सामने आई है।

---

१ प्रणयकुमार बन्द्योपाध्याय: मां निषादों के लिए प्रार्थना, पृ० १५, पाण्डुलिपि प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७३।

२ सर्वेश्वर दयाल सक्सेना : काठ की घण्टियाँ, पृ० ४०३, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, १९५९।

३ शिव रतन : नारों के अन्धे शहर में, पृ० ११ - १२, हेमन्त प्रकाशन, प्रथम संस्करण, १९७७।

८- जातीय शोक और विपत्ति

लोक-जीवन में कुछ ईश्वरीय विपत्तियाँ और कभी-कभी ऐसे शोक के अवसर भी आते हैं जिनमें सम्पूर्ण लोक चेतना विचलित हो जाता है। लोक पर विपत्तियाँ तो प्रायः आती रहती हैं। इन विपत्तियों में कुछ तो स्थानीय घटनाएँ होती हैं तथा कुछ ऐसी घटनाएँ होती हैं जिनका सम्पूर्ण लोक पर प्रभाव पड़ता है, अकाल तो प्रायः कहीं न कहीं होते रहते हैं। इस शताब्दी के प्रारम्भ में बंगाल का अकाल इसी प्रकार की घटना थी। स्वतन्त्रता प्राप्ति के समय हिन्दू-मुस्लिम-दंगा भी एक जातीय विपत्ति ही थी, जिसमें लाखों व्यक्ति बेघर हो गए।

यद्यपि आज विज्ञान बहुत कुछ प्रगति कर गया है। उसमें महामारियों को रोक सकने की क्षमता है, खेती को अब बादलों पर निर्भर नहीं रहना पड़ता किन्तु अभी भी जन-सामान्य वहीं का वहीं है। पूरे भारतवर्ष में सुदूर गाँवों तक न तो डाक्टरों की सुविधा व्यवस्था हो ही सकी है और न ही सिंचाई के साधन ही पहुँच सके हैं। इसके अतिरिक्त अनेक बाँधों द्वारा यद्यपि बाढ़ की संभावनाएँ कम करदी गई हैं फिर भी प्रतिवर्ष कहीं न कहीं बाढ़ से अप्रत्याशित क्षति होती है। लोक-जीवन उससे दुःखी हो ही जाता है। सूखा भी एक ऐसी ही विपत्ति है। इन विपत्तियों की दृष्टि से लोक-जीवन अभी भी दुःखी है। फिर भी भारत का जन-सामान्य जिस धीरज से सहन कर रहा है, वह प्रशंसनीय है। ऐसे अवसरों पर गाँवों में जिस सहयोग-भावना के दर्शन होते हैं वह अन्य किसी अवसर पर दुर्लभ है।

चेचक,[1] कालेरा,[2] बाढ़,[3] आदि कुछ ऐसी ही विपत्तियां हैं जो प्रतिवर्ष भारतीय जन - जीवन को त्रस्त करती हैं। और वर्तमान हिन्दी कविता इनसे बेखबर नहीं है। प्रतिवर्ष वर्षा ऋतु में इस प्रकार के समाचार सुनने को मिलते हैं कि अमुक स्थान पर बाढ़ आगई, अमुक स्थान पर अति वृष्टि हुई। ऐसी स्थानीय घटनाओं पर आज के कवि की लेखनी उठती है। आज का कवि भी भारतीय लोक - सामान्य व्यक्ति की ही भांति इनसे त्रस्त है। वह बादलों का आह्वान तो करता है किन्तु इस भय से भी निरन्तर शंकित रहता है कि कहीं इतनी वर्षा न हो कि उसके " गांव के छप्पर - घर बह जायें, मिट्टी की कच्ची दीवारें, खपरैल ढह जायें ;" या " नदियां नगरों को सुला लें अपनी गोद में करोड़ों को रुला दें। "[4] वह बाढ़ के भयावह रूप से परिचित है। " मदन वात्स्यायन " की " मिथिला में बाढ़ " शीर्षक कविता में बाढ़ के बाद की निराशा द्रष्टव्य है —

"" नहीं है सच कि मिथिला लाल होगी
टेस मिर्चों - सी,
नहीं है सच कि पीले खेत होंगे और
सरसों से,
नहीं है सच कि गन्नों में भरेगी माधुरी कड़ फूट
चिड़ - चिड़ । ""[5]

---

1 सव्यसाची : मुक्त होने से पहले, पृ० ८, युगान्तर प्रकाशन, हैम्पियर, मथुरा, जनवरी १९७१।

2 नरेश मेहता : मेरा समर्पित एकान्त, पृ० ७६, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९६२।

3 भवानी प्रसाद मिश्र : गांधी पंचशती, पृ० २३८, सरला प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९६९।

विभीषिकाओं की ही भाँति प्रायः ऐसे अवसर भी लोक - जीवन में आते हैं जब सम्पूर्ण लोक ही शोक - सागर में निमग्न हो जाता है। प्रायः किसी महापुरुष और लोक - प्रसिद्ध व्यक्ति की मृत्यु ऐसे ही अवसर होते हैं। यद्यपि भारतीय लोक - जीवन में यह परम्परा रही है कि किसी भी महापुरुष की मरण तिथि नहीं मनाई जाती है और नहीं किसी प्रकार का शोकोत्सव ही होता है। जैसा कि मुसलमानों में " हसन " की मृत्यु के सम्बन्ध में मनाया जाता है। किन्तु मुसलमानों के शासन काल से ही भारतीय लोक - जीवन उनके सम्पर्क में आने के कारण उनसे प्रभावित भी होता रहा है। योरूप में भी यह प्रवृत्ति रही है कि किसी महापुरुष की मृत्यु के दिन को प्रतिवर्ष शोक - दिवस के रूप में मनाया जाता है। इन सभी प्रभावों से भारतीय - जीवन में भी यह परम्परा चल पड़ी है। बहुत कुछ इस परम्परा के निर्माण में भारत सरकार का भी हाथ रहा है।

स्वतन्त्रता के उपरान्त हमारे देश में तीन महापुरुषों का स्वर्गवास हुआ और तीनों ही व्यक्ति लोक - प्रिय और लोक - प्रसिद्ध थे। तीनों ही की मृत्यु पर सम्पूर्ण भारत ने सरकारी आदेश के कारण नहीं, अपितु स्वयं ही उनके स्नेह से प्रेरित होकर सच्चे हृदय से शोक माना। गान्धी जी की, पं० जवाहर लाल नेहरू की तथा श्री लाल बहादुर शास्त्री की मृत्यु इसी कोटि के व्यक्तियों की मृत्यु थी। और इनका मरण दिवस

---

४ शकुन्त माथुर : चाँदनी चूनर, पृ० ८३, साहित्य भवन प्रा० लि०, इलाहाबाद - ३, प्रथम संस्करण, १९६० ।

५ अज्ञेय : तीसरा सप्तक, पृ० १०७, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, तृतीय संस्करण, १९६७ ।

जातीय शोक - दिवस था । गान्धी जी की मृत्यु के समय जब कि भारत साम्प्रदायिकता की आग में झुलस रहा था भारत के सम्पूर्ण जन मानस को आघात लगा । भावुक कवियों की लेखनी चल निकली और अनेक रचनाएँ रच दी गईं । उसे लगा कि गान्धी की मृत्यु किसी अन्य व्यक्ति की नहीं अपितु स्वयं उसके पिता की मृत्यु है,[1] वह मातृहीन बच्चे की तरह फूट - फूट कर रोना चाहता है ।[2] उसे लगता है -

" दुःख ऐसा कभी भी टूटा नहीं था
भाग्य ऐसा कभी भी फूटा नहीं था "[3]

गान्धी की मृत्यु का समाचार सुन कर अनायास ही किसी को इस पर विश्वास नहीं होता था —

" तुम नहीं हो अब हमारे बीच में
इस तरह की शक्ति कैसे मानलें हम बीच में
आज तुम इतिहास हो कैसे भला विश्वास हो "[4]

" इतने बड़े दुर्भाग्य के संबंध में " वह सोचता है " किसलिये विधि ने हमें ऐसे भयानक फल दिये हैं । "[5] इस दुःखमय शोक में यह सम्पूर्ण देश

---

१ भवानी प्रसाद मिश्र : गांधी पंचशती, पृ० १२०, सरला प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९६९ ।

२ - वही - पृ० १२९ ।

३ - वही - पृ० १२१ ।

४ - वही - पृ० १२० ।

५ - वही - पृ० १२३ ।

की पौरुषी मानता है वह मानता है कि हमने स्वयं ही उस महान आत्मा को खो दिया है। [1] भारतीय लोक-मानस ने अनुभव किया कि वह जो कहते थे हमने उसको समझने की चेष्टा नहीं की। [2] उसने अनुभव किया कि उन जैसा कहने और करने वाला इस विश्व में दूसरा नहीं हुआ। [3] उसने राष्ट्र के स्वतन्त्र होते ही गान्धी के मरण को किसी पुण्य पर्व पर दीपक का बुझना माना [4] — उसी वह रंग में भी लगा। उसने अनुभव किया कि —

"सूरज डूब गया धरती का संध्याकाल हुआ।
काल पुरुष मिट गया धरा का सूना भाल हुआ।।" [5]

परिणामतः उसकी छाती के बादलों से उठकर एक बूंद आंखों के मार्ग से फूट पड़ी और उसकी टीस धार बन कर बह चली। [6] यह शोक उसके लिये असह्य हो गया।

---

१ उदय शंकर भट्ट : युगदीप, पृ० ७८, आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९६३।

२ भवानी प्रसाद मिश्र : गांधी पंचशती, पृ० १२५, सरला प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९६९।

३ —वही— पृ० १३४।

४ प्रभाकर माचवे : अनुक्षण, पृ० ७८, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, १९६९।

५ गिरिजा कुमार माथुर : धूप के धान, पृ० ४०, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, तृतीय संस्करण, १९५५।

६ भवानी प्रसाद मिश्र : गांधी पंचशती, पृ० १२५, सरला प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९६९।

इसी प्रकार सन् १९६४ में स्वतन्त्र भारत के सर्व प्रथम प्रधान मन्त्री पं० जवाहर लाल नेहरू की मृत्यु भी सम्पूर्ण लोक - जीवन के लिये शोक का विषय थी । दिल्ली में नेहरू जी के अन्तिम दर्शनों के लिये जितनी बड़ी भीड़ जन - समुदाय की टूट पड़ी, उतनी बड़ी कभी नहीं देखी गई । अनेक जन दर्शन न कर सके।[1] उनकी शोक यात्रा में " अनेक पथ - पथ गए किन्तु चलने को — चाह राह में सब की । श्रद्धांजलि की पुष्पांजलि थी - गुंफित आह में सबकी । "[2] बुद्धिजीवियों के हृदय निर्मम से भर गए । सब को लगा कि नेहरू की मृत्यु एक युग का अन्त है ।[3] इस घटना से विक्षुब्ध प्रत्येक भारतीय जन सोचने लगा —

" शायद दारुण दुख सहने के लिये निठुर ने मुझको जन्मा ।
नहीं सुमन होता न अधूरा रह जाता मैं अगर अजन्मा ।।
क्या घट जाता कौन पूछता " मेरी उमर तुम्हें लग जाती ।
कहीं जन्म सफल हो जाता बात मृत्यु की भी रह जाती ।। "[4]

वास्तव में इन कविताओं में इन महापुरुषों के शोक में भारतीय लोक - मानस के ही उद्गार अभिव्यक्त हुए हैं । बाद में श्री लाल बहादुर शास्त्री भी भारत - पाक युद्ध के कारण नेहरू जैसे ही लोक - प्रिय नेता थे। जिनकी मृत्यु पर समूचा राष्ट्र रोया था । भारतीय लोक की इन भावनाओं

---

१ रघुवीरशरण " मित्र " : मानवेन्द्र, पृ० ६८३, भारतीय साहित्य प्रकाशन, मेरठ, प्रथम संस्करण, नवम्बर १९६५ ।

२ —वही — पृ० ६८५ ।

३ बच्चन : पुष्पांजलि, पृ० ६४, हिन्दी साहित्य संगम, हाथरस (अलीगढ़) प्रथम संस्करण, १९६४ ।

४ शंकर त्रिवेदी : वही - पृ० ८८ ।

" सच मानो प्रिय,
इन आघातों से टूट - टूट कर रोने में कुछ शर्म नहीं,
कितने कमरों में बन्द हिमालय रोते हैं
मेजों से लग कर सो जाते कितने पठार -
कितने सूरज गल रहे अँधेरे में छिपकर
हर आँसू कायरता की सीमा नहीं होता । " [1]

कभी - कभी बम्बई जैसे महानगरों में किसी सान्ताक्रुज स्टेशन के रेलवे - क्रासिंग पर कोई नवयुवक आत्महत्या भी कर लेता है - इन आघातों से टूटकर । और उसकी लाश नगर पालिका द्वारा नितान्त समारोह हीनता के साथ फूंक दी जाती है ।[2] किन्तु यह कभा - कभा ही होता है । वास्तव में भारत का लोक - सामान्य व्यक्ति तो —

" सदा झूठ से डरा
दु:ख को देखा जाना
फल पाने की प्रत्याशा में
अहित न सोचा, बैर न माना । " [3]

वह कुण्ठित नहीं होता । उसने कभी, " नहीं किसी से माँगी भीख, नहीं मुख से निकली चीख " अपितु वे तो " जिसे शान्ति से, सब सह लिया गया । " [4] वह अपने परिवेश से, अपने वातावरण से

---

१ विजयदेव नारायण "साही" : तीसरा सप्तक, पृ० १८२, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, तृतीय संस्करण, १९६७ ।

२ वीरेन्द्र कुमार जैन : शून्य पुरुष और वस्तुएँ, पृ० १४८, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, १९७२ ।

और अपने आसपास से प्राय: हर स्थिति में प्रसन्न रहना जानता है । इसीलिये वर्तमान कवि की यह उद्घोषणा है —

" शोषण से मुक्त है समाज
कमज़ोर हमारा घर है
किन्तु आरही नयी ज़िन्दगी
यह विश्वास अमर है । " [१]

क्योंकि देश के औद्योगीकरण के दुष्परिणाम आज हमारे सम्मुख आगये हैं । और अब पुन: कवियों का ही नहीं देश के नेताओं का भी ध्यान जन – सामान्य की ओर गया है । लोक – शक्तियाँ अब पश्चिम के प्रभाव से औद्योगीकृत भारतीय समाज के पूँजीवाद पर धीरे – धीरे हावी होती जारही हैं । और फिर से जो निम्न कहे जाते थे, जो साधारण थे — उनके बीच से पुन: एक नया समाज उठ रहा है । और " मिट्टी से उठ रहे इस नये समाज के सम्मुख आज सुमेरु भी पदतल की धूल है। " [२]

———o———

---

३ कीर्ति चौधरी : खुले हुए आसमान के नीचे, पृ० २२, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, १९५८ ।

४ भारत भूषण अग्रवाल : [illegible], पृ० ८०, बिहार ग्रन्थ कुटीर, पटना – ४, प्रथम संस्करण, १९५४ ।

१ गिरिजा कुमार माथुर : धूप के धान, पृ० ३६, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, तृतीय संस्करण, १९५५ ।

२ –वही – पृ० ८१ ।

पारिवारिक जीवन

१- पारिवारिक गठन और व्यवस्था

२- रिश्ते - नाते

३- पारिवारिक सम्बन्ध

४- पति-पत्नी के सम्बन्ध

५- पारिवारिक शिष्टाचार

६- नारी - जीवन

७- बाल्य - जीवन

८- दैनिक जीवन

९- निष्कर्ष

तृतीय अध्याय

पारिवारिक जीवन

परिवार, समाज की एक इकाई है। पारिवारिक गठन, पारिवारिक व्यवस्था, तथा रहन - सहन का समाज पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ता है। व्यक्ति पहले परिवार के द्वारा ही प्रशिक्षित होता है, समाज की पाठशाला में तो वह बहुत बाद में पहुँचता है। समाज में पहुँचने के बाद जहाँ वह समाज से बहुत कुछ सीखता और लेता है वहीं समाज को बहुत कुछ सिखाता और देता भी है। वह जो कुछ देता है, वह उसका अपना नहीं अपितु उसके परिवार का होता है जो उसने वहाँ से अर्जित किया होता है। इस प्रकार समाज एक ऐसा मंच है जहाँ व्यक्तियों के माध्यम से अनेक परिवार आपस में मिलते हैं, एक दूसरे से कुछ लेते और देते हैं। इस प्रकार मुख्य वस्तु परिवार ही है। समाज तो मात्र एक विचार है। वह तो मात्र वायवीय है। उसका ठोस रूप केवल परिवार में ही देखा जा सकता है। अस्तु लोक - जीवन के विस्तृत फलक का अध्ययन करने के लिये आवश्यक है कि लोक में उसके " पारिवारिक - जीवन " का अध्ययन किया जाय।

पारिवारिक - जीवन में पारिवारिक व्यवस्था और गठन, रिश्ते-नाते और पारस्परिक सम्बन्ध तथा उनकी मधुरता एवं कटुता, शिष्टाचार, दैनिक जीवन, नारी-जीवन तथा बाल्य जीवन का चित्रण जिसका वर्णन हिन्दी कविता में हुआ है। यहाँ हम इनमें से प्रत्येक पर विचार करेंगे।

१- पारिवारिक गठन और व्यवस्था

भारतीय परिवारों में पुरुष का दर्जा स्त्री से ऊपर माना जाता है। साथ ही सम्पूर्ण व्यवस्था के लिये अधिकार और कर्त्तव्यों का निर्धारण आयु के आधार पर होता है। परिवार में सर्वाधिक आयु वाला पुरुष ही व्यवस्थापक होता है तथा सभी पारिवारिक अधिकार उसमें सन्निहित होते हैं। प्राय: घर की सर्वाधिक आयु वाली स्त्री का शासन स्त्री सदस्यों पर तथा सर्वाधिक आयु वाले पुरुष का शासन पुरुष सदस्यों पर चलता है। कोई किसी के कार्य में हस्तक्षेप नहीं करता। हाँ, विशेष परिस्थितियों में पुरुष व्यवस्थापक इसमें हस्तक्षेप करने का अधिकार रखता है। पुरुष व्यवस्थापक की अनुपस्थिति में स्त्री व्यवस्थापक ही घर की व्यवस्था देखती और चलाती है तथा यदि पुरुष व्यवस्थापक का उत्तराधिकारी स्त्री व्यवस्थापक से आयु में छोटा हुआ तो वह स्त्री व्यवस्थापिका के सम्मान का विशेष ध्यान रखता है। किन्तु जहाँ संयुक्त परिवार नहीं है, वहाँ स्त्री पर घर की तथा पुरुष पर बाहर की व्यवस्था का भार रहता है तथा विशेष अवसरों पर पुरुष घर की व्यवस्था में भी हस्तक्षेप कर सकता है। इस प्रकार भारतीय परिवारों में पुरुष वर्ग की प्रधानता होते हुए भी स्त्री का पद अत्यन्त सम्माननीय रखा गया है। परिवार में माँ "घर बाहर पर पहरा रखती है, " अपनी बारीक नजर से कौन कहाँ बैठा है, क्या करता है, क्या करना था उसको, उसने यह क्या किया आदि बातों का सूक्ष्म निरीक्षण करती है।[1] और इस प्रकार पुरुष व्यवस्थापक की

---

१ मधुकरी प्रताप मिश्र : गांधी पंचशती, पृ० २१३, सरला प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९६९।

पारिवारिक व्यवस्था में सहायता करती है। वह अपनी सारी घर की "मालकिन"[1] कहलाती है, आवश्यकता पड़ने पर वह बच्चों को डाँटती-डपटती भी है/और यह डाँटने - डपटने का ढंग उसका अपना होता है जिसमें कभी - कभी सारी समय की खीझ भी होती है।[2] पुरुष घर की व्यवस्था के लिये सभी आवश्यक उपकरण जुटाता है तथा घर के बाहर के सभी काम-काज करता है। कभी उसे बच्चों के कपड़े लाने होते हैं, कभी राशन की "क्यू" में खड़े रहकर कोयला, चावल, गेहूँ, शक्कर आदि का प्रबन्ध करना होता है।[3] नगरों में पूरे एक मास के श्रम के उपरान्त पहली तारीख आते ही वह घर की व्यवस्था की चिन्ता करने लगता है।[4] साथ ही स्त्रियाँ घर के सारे काम - काज करती हैं। उनमें आपस में काम बटे रहते हैं। कार्य - भार अधिकतर: परिवारों में लड़कियों और बहुओं, जो पद में छोटी हैं, पर ही अधिक रहता है। यदि माँ प्रातः उठ कर सब को जगाती है तो बहन प्रातः उठकर आँगन कमरे में झाड़ू कर बर्तन साफ करके चौका लीपती है,[5] बहू अँगीठी सुलगा कर[6] आटा गूँधती है।[7] कभी - कभी दादी भी गेहूँ

---

1 गिरिजा कुमार माथुर : शिलापंख चमकीले, पृ० ६८, साहित्य भवन प्रा० लि०, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, १९६१।

2 -वही- पृ० ६६।

3 उदयशंकर भट्ट : युगदीप, पृ० १२७, आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९६३।

4 रमेश रंजक : हरापन नहीं टूटेगा, पृ० ५८, अक्षर प्रकाशन प्रा० लि०, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७४।

5 ओम प्रभाकर : पुष्प चरित, पृ० १८, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७३।

6 रवीन्द्र भ्रमर : गीत विहग उतरा, पृ० २०, आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९६६।

7 ओम प्रभाकर : पुष्प चरित, पृ० १३, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७३।

आदि फाटक का बहू-बेटियों के कार्य में सहायता करती है ।[1]

कार्यों के इस विभाजन के साथ ही साथ स्त्री - पुरुष में भी सहयोग भावना रहती है । गाँवों में यदि पति काम पर जाता है तो पत्नी घर के समस्त कार्य दोपहर तक निपटा कर उसे भोजन देने जाती है ।[2] किन्तु वह मात्र सहयोगिनी है, पुरुष के कार्यों में वह बाधा नहीं है । उसे पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं है । यदि उसे अपने पिता के भी घर जाना होता तो उसे जाने के लिये पति से प्रार्थना करनी होती है --

"" मैके की याद आई
पहुँचा दो
भाई मेरा दो बार लौट गया
पूरा बरस बीत गया । ""[3]

किन्तु कहीं कोई टकराहट नहीं, कोई विरोध नहीं । परिवार में सभी अपना - अपना कार्य जो परम्परा द्वारा निश्चित कर दिया गया है, करते हैं । यहाँ ध्यातव्य है कि कार्यों का यह विभाजन कभी आपस में बैठकर नहीं किया जाता अपितु यह परम्परा से चल रहा है । घर के बड़े इस परम्परा के पालन की निगरानी करते हैं । इस प्रकार भारतीय परिवारों में सुव्यवस्था बनी रहती है ।

---

१ रघुवीर सहाय : सीढ़ियों पर धूप में, पृ० १७४, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, १९६० ।

२ शिवमंगल सिंह "सुमन" : पृ० ५४, राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७२ ।

३ शकुन्त माथुर : चाँदनी चूनर, पृ० १५, साहित्य भवन प्रा० लि०, इलाहाबाद - ३, प्रथम संस्करण, १९६० ।

यह सिक्के का एक पहलू है। स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कविता में जहाँ परिवार की इस परम्परित व्यवस्था और उसके गठन का चित्रण किया गया है, वहीं उसमें स्वतन्त्रता के उपरान्त होने वाले विघटन को भी बारीकी से उकेरा गया है। भारत में परिवार में आपसी सम्बन्ध और रिश्ते - नातों का बहुत बड़ा महत्त्व है। परिवार की व्यवस्था तभी उचित ढंग से चल सकती है जब प्रत्येक पारिवारिक सदस्य अपने परिवार के बड़ों को सम्मान दे तथा रिश्तों के महत्त्व को समझे। इस व्यवस्था को भली प्रकार जानने के लिये आवश्यक है कि पारिवारिक रिश्ते नाते और सम्बन्धों को भी जान लिया जाय। वर्तमान हिन्दी कविता में इसके लिये भी बहुत सामग्री उपलब्ध है।

२- रिश्ते - नाते

रिश्ते - नातों की दृष्टि से भारतीय परिवार यौरोपीय परिवारों की अपेक्षा बहुत अधिक समृद्ध हैं। संयुक्त परिवार-व्यवस्था के कारण इन रिश्तों में एक गहरी संपृक्ति है। औद्योगीकरण, नगरीय जीवन के विकास, के कारण इस व्यवस्था में बहुत कुछ विघटन की स्थिति भी आई है किन्तु अलग परिवार बन जाने पर भी ये रिश्ते अभी भी भारतीय लोक - जीवन में स्नेह और सम्मान के अधिकारी बने हुए हैं।

स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कविता में लगभग सभी रिश्तों - नातों का उनके पूरे स्नेह और सम्मान के साथ उल्लेख तथा चित्रण हुआ है। उसमें मुख्य रूप से —— पिता, चाचा, माँ, सास, भाभी, ननद, भाई, बहन आदि निकटतम रिश्तों के साथ फूफा, बुआ, मौसा, मौसी, जीजा, साली, साला, मामा, नाना, नानी आदि, कुछ दूर के रिश्तों का भी

उल्लेख है। वैसे लोक - जीवन, व्यवहार में इससे भी अधिक दूर के रिश्तों को महत्व देता रहा है और देता है। यद्यपि आर्थिक पराभव के कारण इन रिश्तों में बहुत कुछ शिथिलता भी आ गई है और यह शिथिलता निकट सम्बन्धों में भी देखी जा सकती है। फिर भी भारतीय परिवारों में यह रिश्ते-नाते अभी जीवित हैं।

अब तक इन रिश्ते - नातों में अपने परिवारी जन, अपने रिश्ते - नातेदार, परिवारी जनों के रिश्तेनातेदार, और रिश्तेदारों के रिश्तेदार तथा गाँव - नाते के रिश्तेदारों को भी स्नेह की दृष्टि से देखा जाता था। किन्तु अब यह स्थिति नहीं रही। स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कविता में केवल निकट के ही रिश्तेदारों तथा मात्र परिवारी - जनों का ही उल्लेख हुआ है। यथा - कहा "कौल का भाई" और "पुकारे का भतीजा" भी कहीं - कहीं दिखते हैं। किन्तु ये रिश्ते अब मात्र सम्बोधन रह गए हैं, जिन्हें कोई भी भारतीय लड़की किसी भारतीय लड़के को देती है या कोई भी भारतीय प्रौढ़ा किसी मात्र परिचित नवयुवक को देती है। इन रिश्तों में अब स्नेह नहीं, मात्र परिचय की गन्ध है। प्रत्येक गाँव में ऐसे बैठे - ठाले युवक जो किसी कुएँ की मेड़ पर प्रायः बैठे मिल जाते हैं, ऐसे सम्बोधन प्रायः पूरे ही गाँव से प्राप्त कर लेते हैं। कभी पनघटों पर इन रिश्तों की सार्थकता देखी जा सकती थी। कौल का भाई, अपनी बहन के लिये, या "पुकारे का भतीजा" अपनी चाची के लिये स्वयं पानी भर देता था। किन्तु अब नलों पर झगड़े होते हैं प्रत्येक चाहता है कि जब तक वह पानी न भर ले, और कोई उधर आने का साहस भी न करे।[1] इस प्रकार समाज में से इन सभी रिश्तों का

---

१ शकुन्त माथुर : चांदनी चूनर, पृ० ६५, साहित्य भवन, प्रा० लि०, इलाहाबाद - 3, प्रथम संस्करण, १९६० ।

महत्त्व घटता जा रहा है। यदि स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कविता में प्रयुक्त रिश्तों का विवरणात्मक अध्ययन किया जाये तो पता लगता है कि उसमें अत्यन्त निकट के रक्त-सम्बन्ध वाले रिश्तों को ही अधिक स्थान मिला है। अन्य रिश्तों का उल्लेख उसमें नहीं के बराबर हुआ है।

स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कविता में उल्लिखित रिश्तों को हम मुख्यतः दो भागों में विभक्त कर सकते हैं —— ।१। पुरुष को केन्द्र में लेकर चलने वाले रिश्ते, ।२। स्त्री को केन्द्र में लेकर चलने वाले रिश्ते। एक तीसरा वर्ग और बनाया जा सकता है जिसमें कुछ ऐसे रिश्तों को ले सकते हैं जो रक्त-सम्बन्ध से परे मात्र स्नेह पर आधृत हैं अथवा जिनमें रक्त - सम्बन्ध बहुत दूर का है। ऐसे रिश्ते स्त्री और पुरुष दोनों के ही साथ हैं। सुविधा के लिये इन्हें हम ।३। विविध या अन्य रिश्ते की संज्ञा दे सकते हैं। इनमें पुरुष वर्ग के रिश्तों को पुनः तीन भागों में बाँटा जा सकता है —— १- पैतृक, २- मातृक, ३- पत्नी के माध्यम से। स्त्री को केन्द्र में रखने वाले रिश्ते भी तीन प्रकार के हैं —— ।१। पैतृक ।२। मातृक ।३। पति के माध्यम से। इसमें पैतृक और मातृक रिश्ते स्त्री तथा पुरुष दोनों के समान हैं।

भारत वर्ष में समाज की पितृसत्तात्मक व्यवस्था है। जैसा कि हम पीछे भी उल्लेख कर चुके हैं। यही कारण है कि पत्नी संबंधी और मातृक रिश्तों को अधिक सम्मान की दृष्टि से नहीं देखा जाता। क्दा[चित] इसीलिये भारतीय परिवारों में इन रिश्तों की अपेक्षा पैतृक रिश्तों की संख्या ही अधिक है। स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कविता में भी पैतृक रिश्तों का ही अधिक उल्लेख हुआ है। इस बात से दो निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। एक, ।१। भारतीय लोक - जीवन में स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों का

अधिक महत्वपूर्ण स्थान है। दूसरा, स्त्री सम्बन्धी रिश्तों को हीन दृष्टि से देखा जाता है। तभी इनका उल्लेख बहुत कम हुआ है। और इस प्रकार कहा जा सकता है कि स्वतन्त्रता के उपरान्त लोक – जीवन अन्य सामाजिक रिश्तेनातों से हटकर मात्र परिवार तक ही सीमित रह गया है।

३- पारिवारिक सम्बन्ध

स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कविता में पारिवारिक सम्बन्धों का जो रूप हमारे सामने आता है, उससे पता लगता है कि पारिवारिक संबंधों में कुछ कुछ कटुता आई है। किन्तु यह कटुता नागरिक स्तर पर ही अधिक है। इन कटुताओं के मूल में जहाँ अनेक कारण हैं, वहीं आर्थिक अभाव और पीढ़ियों का संघर्ष भी इसके प्रमुख कारण हैं। किन्तु पारिवारिक सम्बन्धों में सर्वत्र कटुता आगई हो, ऐसा नहीं है। वास्तव में भारतीय परिवारों में व्यक्ति के सम्बन्ध जहाँ टूट रहे हैं, वहाँ वे कुछ अति प्राचीन स्नेह और रक्त के नातों से जुड़े हुए भी हैं। कहीं – कहीं आर्थिक अभाव भी इन सम्बन्धों को नहीं तोड़ सका है। कुछ दिन के बाद घर लौटने पर आज का नवयुवक जब " उमर की बोझिल पगड़िया " लिये हुए बापू को बाहर बैठे देखता है तो उसके भीतर सहानुभूति मिश्रित प्रेम का आवेग उत्पन्न होता है।[1] लौटते समय भी घर से निकल कर उसके मस्तिष्क में " भाई साहब का थका चेहरा, और अम्मा की भरी आँखें, और भाभी की नरम बोली, और पप्पू की उठी बाँहें "[2]

---

१ ओमप्रभाकर : पुष्प चरित, पृ० ३, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७३।

२ -वही- पृ० ३४।

सभी कुछ एक साथ बाँध जाते हैं। किन्तु लौट जाना उसकी विवशता होती है। अतः भरी आँखों से माँ को उसे विदा करना ही पड़ता है। उसकी इच्छा होती है कि वह पप्पू को गोद में लिये रहे, किन्तु उसकी विवशता उसे रुकने नहीं देता। इसी प्रकार कभी वह जब घर पहुँचता है तो "बबुआ आ गया" और "आगये भइया" की ध्वनियाँ उसका स्वागत करती हैं।[1] इस "बबुआ आ गया" में जो प्रसन्नता है, वह पुत्र के प्रति अति प्रेम का ही परिणाम है। मानों माँ आज सबको बता देना चाहती हो कि उसका बड़ा बेटा आगया है। बहन के "आगये भइया" में एक लम्बी प्रतीक्षा, बहुत दिन बाद आने की शिकायत और आगमन की प्रसन्नता सभी कुछ एक साथ व्यंजित हो जाता है। इससे माँ - बेटे, बहन और भाई का अमिट प्यार ही प्रकट होता है, जो आज भी पारिवारिक सम्बन्धों में विद्यमान है।

बहन - भाई के प्रेम का नाता बड़ा अटूट नाता है। सावन के महीने में जैसे ही बादल घिरते हैं, मानो बहन के दिन बहल जाते हैं। भाई अपनी बहन के घर उसे बुलाने के लिये पहुँच जाता है। और बहन का प्रेम आँसुओं के द्वारा प्रकट होने लगता है।[2] बहन, भाई के साथ अपने पिता के घर चली जाती है। किन्तु उस प्रसन्नता से लौटती नहीं है। वर्षा की समाप्ति के साथ ही सावन करके वह अपने पति के घर लौटती है, किन्तु रो - रो कर।[3] जिस "बाबुल" के घर वह

---

१ "सलम" बीरामणिर्ह : पद्मजीत बाँसुरी, पृ० १३८, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, १९६६।

२ उमाकान्त मालवीय : मेंहदी और महावर, पृ० ४६, साहित्य भवन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, १९६३।

३ कमल प्रकाश चतुर्वेदी : गाँव की छाया में, पृ० ४३, सहकारी प्रकाशन, आगरा, प्रथम संस्करण, मई १९५९।

जन्मी, पली और बड़ी हुई उसके प्रेम और स्नेह को छोड़ते समय उसका रोना स्वाभाविक ही है।

भारतीय परिवारों में नव विवाहिताओं के सम्बन्ध बड़े अटपटे हैं। उसकी जहाँ देवर और ननद से हँसी - मज़ाक होता है, वहीं व्यंग-प्रहार भी होते हैं। जहाँ उनसे अत्यन्त स्नेह होता है वहीं जलन भी होती है। भारतीय परिवारों में यह बात नई नहीं है। वास्तव में अपने को किसी अन्य परिवार में खपा लेना एक दुष्कर कार्य है। भारतीय परिवारों में अनेक रूढ़ियाँ होती हैं। स्वच्छन्द रहने वाली युवती विवाह के उपरान्त अनायास ही इन रूढ़ियों में जकड़ जाती है। साथ ही पुरुष पर अधिकार का प्रश्न भी उत्पन्न होता है। यहीं सास - बहू या ननद - भौजाई का झगड़ा प्रारम्भ हो जाता है। बहू से जब छोटी ननद कह देती है " बैरन घूंघट क्यों खोल रखा है " तो उसे ननद के ये वचन अच्छे नहीं लगते। पास खड़े जेठ भी उसे " नीम की कड़वी पत्ती " से लगते हैं। और जिठानी द्वारा अपनी अवमानना का यह दृश्य देख लिये जाने पर उसका जी जल-भुन जाता है।[1] किन्तु जहाँ परिवारी जन एक दूसरे को समझते हैं, वहाँ ऐसी घटनाएँ घटित नहीं होतीं। अपितु देवर, ननद, और भावज सभी मिलकर गाते बजाते हैं[2] और प्रसन्न रहते हैं। ननद के विवाह के उपरान्त विदा के समय भाभियाँ उन्हें गोद भर-भर कर आशीष देती हैं।[3]

---

1 शकुन्त माथुर : चाँदनी चूनर, पृ० ७८, साहित्य भवन प्रा० लि० इलाहाबाद - ३, प्रथम संस्करण, १९६० ।

2 भवानी प्रसाद मिश्र : गांधी पंचशती, पृ० १६०, सरला प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९६९ ।

3 धर्मवीर भारती : पाँच जोड़ बाँसुरी, पृ० ६२, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, १९५९ ।

स्नेह संबंधों में बच्चों के प्रति स्नेह का सम्बन्ध ही सर्वाधिक कोमल और स्नेहमय संबंध है। व्यक्ति कितना भी कठोर हृदय, व्यस्त और उदास हो, अपने बच्चों को देख कर प्रसन्न हो उठता है --

"" टूटे नहीं हैं प्यार के रिश्ते
इस घर में अभी
खुल जायेंगी कविताएं मुन्नी
बिखर जायेंगे सहज स्वर
एक उसकी पुकार पर। ""[1]

इतना ही नहीं कि बच्चों के लिये कविता खुल जायें। " बैंक के बड़े खाते, तिजोरी के रुपये, नए - नए नोट " भी " एक बच्ची " के प्यार के समक्ष तुच्छता ही उत्पन्न करने वाले होते हैं।[2] लोक - सामान्य व्यक्ति बच्चों के लिये इन सबका त्याग करने को प्रस्तुत रहता है। किन्तु, नागरिक - जीवन में, जहाँ व्यक्ति अधिक आत्म केन्द्रित हो गया है, इतवार का सारा दिन अखबार पढ़ते - पढ़ते बीत जाता है। मुन्नी के तुतलाते गीत को सुनने का अवसर नहीं मिल पाता, जिसे सुनने के लिये उससे कई बार वादा किया जा चुका होता है।[3]

जैसा कि हम पीछे संकेत कर आए हैं, इन रिश्तों में अब बड़ी तेजी के साथ तनाव आरहा है। अब " उम्र की बोझिल घड़ियाँ " लिये हुए पिता जी को देख कर नवयुवक पुत्र के मन में सहानुभूति युक्त प्रेम नहीं

---

१ कीर्ति चौधरी : खुले हुए आसमान के नीचे, पृ० ८६, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, १९६८।

२ अजितकुमार : अकेले कण्ठ की पुकार, पृ० ६६, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९५८।

३ महेश्वर तिवारी : पाँच जोड़ बाँसुरी, पृ० १५०, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, १९६९।

जगता, अपितु वह उन्हें " प्रतिगामी पोंगापंथियों के ठेकेदार, सड़ी गली रूढ़ियों के प्रतिनिधि " कहकर दो - तीन ठोकरें मारने की बात करता है। [1] उसकी दृष्टि में अब बचा में भी कुछ नहीं बचा है। ये तो अब मात्र पापी के गुलाम होकर रह गए हैं। [2]

इस प्रकार इन मीठे रिश्तों में कड़वाहट भर गई है। ये सम्बन्ध अभी पूरी तरह टूटे नहीं हैं किन्तु उनमें अब पहले जैसी मृदुता भी नहीं रही है। और इसके मूल कारण हैं —— १- आर्थिक अभाव २- अधिकार का संघर्ष तथा ३- पीढ़ियों का संघर्ष।

आर्थिक अभाव के कारण वर्तमान युग में परम्परित रूढ़ियों की असफलता ने व्यक्ति की मान्यताएं बदल दी हैं। अब अर्थाभाव में कोई भी रिश्तेदार रिश्ते निभाने को तैयार नहीं ——

" रिश्ते सब कागज़ी हुए
दूर उड़ गये
दिखलाती दाँव धूप के
दो नये - नये
मूक प्यार की बड़ी कसम। " [3]

आर्थिक अभाव में पारिवारिक संबंधों पर यहाँ तक प्रहार हुआ है कि घर के बटवारे को लेकर " भाई की गर्दन पर भाई का " कुठारा तन जाता

---

१ कमल : टूटी प्रतिमाओं की आवाज़, पृ० २५, राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९६८।

२ [illegible] : वही— पृ० २३।

३ [illegible] : धागा नहीं टूटेगा, पृ० ५८, अक्षर प्रकाशन प्रा० लि०, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७५।

की सर्वाधिक बड़ी कुंठ पाठशाला है। [1]

सम्बन्धों की कटुता केवल नई पीढ़ी में ही नहीं अपितु पुरानी पीढ़ी के मन में भी उत्पन्न हुई है। पिता से जब उसके पुत्र "ज़िन्दगी और कमाने की कशमकश से घबराकर" यह प्रश्न करते हैं कि, "हमें पैदा क्यों किया था" तो उसके पास यही उत्तर होता है कि उसके भी माता - पिता ने उसे, उससे बिना पूछे पैदा किया था। [2] यह (पुरानी पीढ़ी) अपने बच्चों की जवानीके नशे में अन्धा समझती है। उसकी दृष्टि में आज की किशोर पीढ़ी उसका सबसे बड़ा दुर्भाग्य है। [3] और इस प्रकार पुरानी पीढ़ी, जब कि उसकी बाहें दुखने लगी हैं, तब अपने बेटों और पोतों की उपेक्षा भोगती हुई मरण की ओर चली जा रही है। [4] और इसका परिणाम यह है कि आज के पारिवारिक जीवन में सभी के सम्मुख एक समस्या है ---

"टूट गये सेतु
बन्धु
कहाँ जायें हम?" [5]

और इस स्थिति में जब कि व्यक्ति के और परिवार के बीच सभी

---

1 [illegible] : कटती प्रतिमाओं की आवाज़, पृ० १३८, राजपाल एण्ड संस, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९६८।

2 - वही - पृ० ४३।

3 - वही - पृ० ३३।

4 - वही - पृ० १४४।

5 ओम प्रभाकर : पुष्पचरित, पृ० ७८, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७३।

तो उसकी पत्नी और सम्पूर्ण घर उसे सुन्दर - सजा-संवरा मिले ।[1]

गाँवों में "कृषक वधू" अपने पति के कार्यों में सहायिका रहती है । वह अपने पति के लिये खेत पर "कलेऊ" (नाश्ता) लेकर जाती है[2] और प्रेम से जब वह काम करते पति को रोक कर खिलाती है तो उसके पति को सूखी रोटियों में भी विशेष स्वाद का अनुभव होता है ।[3] वास्तव में वह उन रोटियों में प्रेम का मिठास पाता है । उसके प्रेम और कार्यों में सहायिका होने के कारण पति हरक्षण उसके "संग - सुख" को अपने साथ अनुभव करता है ।[4] इतना ही नहीं अनेक अवसरों पर वह भी घरेलू कार्यों में अपनी पत्नी का सहयोग करके सुख प्राप्त करता है । जाड़ों में प्राय: पति चूल्हे के पास बैठ कर रोटी करती हुई पत्नी का सहयोग भी करता है, आँच भी तापता है और साथ ही दाम्पत्य - सुख का आनन्द भी प्राप्त करता है ।[5] दाम्पत्य - सुख के इसी आनन्द से प्रेरित होकर सद्य: प्रसवती कोई सुहागिन अपने पति की छाती पर सर टिका कर अपनी पीड़ा को भी भूल जाती है ।[6] इसी

---

१ शकुन्त माथुर : चाँदनी चूनर, पृ० ६६, साहित्य भवन प्रा० लि०, इलाहाबाद - ३, प्रथम संस्करण, १९६० ।

२ कमल प्रकाश चतुर्वेदी : साथ की छाया में, पृ० ४३, सहकारी प्रकाशन, आगरा, प्रथम संस्करण, मई १९५६ ।

३ शिवमंगलसिंह "सुमन" पृ० ५४, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७२ ।

४ ओउम प्रभाकर : पथ चरित्र, पृ० १९, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७३ ।

५ केदार नाथ सिंह : तीसरा सप्तक, पृ० १३०, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, तृतीय संस्करण, १९६७ ।

६ भवानी प्रसाद मिश्र : बुनी हुई रस्सी, पृ० १००, सरला प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७१ ।

प्रेम के कारण पति के प्रवास काल में उसके कंधे पर झुक आजाती है,[१]
बाट जोहती - जोहती घाटियों की ओर बढ़ आजाती है'।[२] कहीं प्रेम
के फलस्वरूप दरवाजे पर खड़ी होकर मछुआरिन, अपने माँझी को
सामने नदी में कसती नाव को निहारती रहती है।[३]

किन्तु आज के आर्थिक अभाव के युग में, जो द्वितीय महायुद्ध के
उपरान्त उत्पन्न हुआ तथा स्वतन्त्रता के उपरान्त और गहरा गया है,
इन सम्बन्धों की सरसता घटी है। युवक के सम्मुख यह प्रश्न खड़ा
हो गया है ---

"" फूल के सम्पुट लगायें
या
नहीं सिक्के कमायें
कौन सा रिश्ता करीं
कौन सा नाता ; ""[४]

उसके जीवन का यथार्थ उसे धन कमाने के लिये प्रेरित करता है।
इस स्थिति में उसे " प्यार ", " माथे का पसीना पोंछने के बाद की
सांसें " जैसा, या एक रामायण जैसा, जिसे फुरसत मिलने पर बैठ

---

१ सर्वेश्वर दयाल सक्सेना : पाँच जोड़ बाँसुरी, पृ० ७८, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, १९६९।

२ केदारनाथ सिंह : - वही - पृ० ८९।

३ वीरेन्द्र कुमार जैन : शून्य पुरुष और वस्तुएँ, पृ० १५१, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, अक्टूबर १९७२।

४ रमेश रंजक : हरापन नहीं टूटेगा, पृ० ५४, अक्षर प्रकाशन प्रा० लि०, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७४।

तक पहुँचने की उसकी इच्छा होती है — लगता है।[1] ऐसी स्थिति में
उसे लगता है कि उसका बदन "पत्थर का" हो गया है और पत्नी
के "सोनजुही - से" हाथ लकड़ी के हो गये हैं। वह अनुभव करता
है कि उसके दिन फीके हो गए हैं और घर का नक्शा ही बदल गया है।[2]
यहीं से पति - पत्नी के मन में खीझ उत्पन्न होती है। घर में जहाँ
प्रेम - सुख का साम्राज्य रहता था वहाँ — "दफ्तरों से थके हुए कदमों"
की डाँट-डपट, बच्चों की चीख-पुकारें, पत्नी की भुन - भुन"[3] ही
हर समय सुन पड़ती है। और अब स्थिति यहाँ तक पहुँच गयी है कि —

"रिश्ते जोड़ने में तो कुछ
देर लग सकती है
पर पलक के गिरने और उठने तक
तलाक हो जाते हैं,"[4]

किन्तु ये रिश्ते पूरी तरह समाप्त नहीं हुए हैं आज भी क्षमा, संवेदना, त्याग और ममता इन रिश्तों में प्रेम को बल प्रदान कर रहे हैं। यह ममता, त्याग, संवेदना प्राय: नारियों में ही देन हैं जिससे पुरुष अपने सम्बन्धों पर पुनर्विचार के लिये विवश हो जाता है और उसे अपना

---

1 रमेश रंजक : हरापन नहीं टूटेगा, पृ० ५४, अक्षर प्रकाशन प्रा०लि०, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७४।

2 -वही- पृ० ५७ ।

3 धर्मवीर भारती : दूसरा सप्तक, पृ० १६७, प्रगति प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९५१।

4 दिनेश नन्दिनी : वृत्ति, पृ० ७०, राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७२।

पड़ता है —

"" लक्ष्मी, करुणावती थीं तुम,
भिखारी था मैं । "" [1]

इस प्रकार स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कविता ने सभी प्रकार के पारिवारिक सम्बन्धों को उनके हर रूप में पूरी - पूरी अभिव्यक्ति दी है । नई कविता की प्रगतिशील धारा की कविता तथा नवगीतों में पारिवारिक सम्बन्ध भली प्रकार प्रकट हुए हैं ।

५- पारिवारिक शिष्टाचार

समाज की ही भाँति परिवार के भी अपने कुछ अनिवार्य शिष्टाचार होते हैं । भारतीय परिवारों की सम्पूर्ण व्यवस्था इन्हीं पारिवारिक शिष्टाचारों पर टिकी हुई है । ये पारिवारिक शिष्टाचार किसी न किसी रूप में सम्पूर्ण विश्व में भी देखे जा सकते हैं । भारतीय परिवारों में बड़े भाई के सम्मुख छोटा भाई सिगरेट नहीं पीता ।[2] क्योंकि किसी भी प्रकार का व्यसन यहाँ नैतिक अपराध माना जाता रहा है । किन्तु सिगरेट का प्रचलन और व्यसन बढ़ जाने के कारण यह व्यसन अब इतना बड़ा नैतिक अपराध नहीं रह गया है किन्तु अब यह पारिवारिक शिष्टाचार के उल्लंघन

---

१ रघुवीर सहाय : सीढ़ियों पर धूप में, पृ० १२५, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, १९६० ।

२ सुरेन्द्र तिवारी : अपनी धूप, पृ० ४३, राधा कृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९६१ ।

के अन्तर्गत आगया है। जिस प्रकार किसी बड़े के आगमन पर छोटे को उठकर खड़े हो जाना चाहिये उसी प्रकार बड़े के सामने सिगरेट छिपा लेना भी एक शिष्टाचार ही है। इसी प्रकार जामाता के आजाने पर उसकी विदा में उसके माथे पर टीका कर के कुछ धन दिया जाता है।[1] इतना ही नहीं "सुखी घर की हर गृहिणी नियम परायण .... अपने भण्डार से अन्न दिन कुछ अवश्य निकालती है।"[2] इसी प्रकार लेटे हुए व्यक्ति के सिरहाने की ओर पत्नी का खड़ा होना, बेटों को पायताने की ओर बैठना आदि भी पारिवारिक शिष्टाचार ही हैं,[3] जो लोक - जीवन में व्यवहृत होते हैं।

इसी प्रकार पति - पत्नी के बीच भी अनेक शिष्टाचार हैं। भारतीय पत्नी तब तक खाना नहीं खाती जब तक कि उसका पति नहीं खालेता, वह पति की प्रतीक्षा करती है।[4] इसी प्रकार अन्य पुरुष के सम्मुख भारतीय पत्नी अपने पति से वार्तालाप नहीं करती यदि वार्तालाप या सेवा करते समय कोई अन्य व्यक्ति आजाता है तो वह तत्क्षण वहाँ से हट जाती है :——

"पति सेवारत साँझ
उचकता देख पराया चाँद
लजा कर ओट हो गयी।"[5]

---

1 रमेश रंजक : हरापन नहीं टूटेगा, पृ० ७८, अक्षर प्रकाशन प्रा० लि०, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७४।

2 शकुन्त माथुर : चाँदनी चूनर, पृ० ९०, साहित्य भवन प्रा० लि० इलाहाबाद - ३, प्रथम संस्करण, १९६०।

3 भवानी प्रसाद मिश्र : बुनी हुई रस्सी, पृ० ६५, सरला प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७१।

4 [illegible] : हरि, पृ० ४८, राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७२।

5 अज्ञेय : अरी ओ करुणा प्रभामय, पृ० ४७, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, १९५९।

" साँझ " और " चाँद " के माध्यम से इस कविता में जिस पारिवारिक शिष्टाचार का चित्रण हुआ है उसके मूल में भारत की पर्दा-प्रथा है। भारतीय नारी जेठ के सम्मुख घूंघट खोले नहीं रह सकती। यहाँ तक कि इस अशिष्टता के लिये उसे कोई भी टोक सकता है, विशेष कर ननद क्योंकि ननद का सम्मान करना भी उसका कर्तव्य समझा जाता है। उसे समय - समय पर अपनी सास के पाँव दबाने होते हैं।[1] भारत में विदा के समय अतिथि को जलाशय तक छोड़ने जाने की परम्परा रही है। लगभग सभी देशों में कम से कम घर के बाहर तक अतिथि को छोड़ने जाना शिष्टाचार माना जाता है। वर्तमान युग में यह छोड़ने जाने की परम्परा स्टेशन तक छोड़ने तथा रूमाल हिला कर विदा करने की हो गई है।[2]

वास्तव में सभी शिष्टाचारों के मूल में कल्याण तथा प्रेम की भावना निहित रहती है। किन्तु आज के शहरी जीवन में बहुत से शिष्टाचार मात्र औपचारिकता बन कर रह गए हैं।

६- नारी - जीवन

छायावादी काव्य-धारा के अन्त तक कवियों को प्रायः नारी का मात्र सौन्दर्य ही आकर्षित करता रहा है। कहीं - कहीं उसके मन की झलक भी देखने को मिल जाती

---

१ शकुन्त माथुर : चाँदनी चूनर, पृ० ७८, साहित्य भवन प्रा० लि०, इलाहाबाद - ३, प्रथम संस्करण, १९६० ।

२ ओम प्रभाकर : कथ्य चरित, पृ० ५५, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७३ ।

रही है। किन्तु उसके पारिवारिक जीवन का जैसा यथार्थ चित्रण इस युग में हुआ है, वैसा पहले कभी नहीं हुआ। प्राचीन कवियों के लिये नारी सदा सुन्दरी, तथा आदर्श रही। बाद में वह श्रेष्ठ सुन्दरी के साथ - साथ भोग्या भी हुई। किन्तु उसकी अपनी स्थिति क्या थी, यह चित्रण उस कविता में प्रायः नहीं मिलता।

स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कविता में भी नारी का सौन्दर्य चित्रण हुआ है किन्तु यह सौन्दर्य उसका वास्तविक सौन्दर्य है। उस पर "आभूषणों का भार नहीं है जिसके कारण वह चल भी न सके"। इन चित्रणों में जहाँ "सद्यः स्नाता "[1] का रूप चित्र है, अथवा "घाट पर स्नान करती हुई नारी "[2] का रूप - चित्र है, वहीं भीगे बैठे, टूटी आँचल में बाली के कोने की कनक के साथ सुग्गी की गगरिया को हृदय से चिपकाये हुए, कृष्ण की प्रतीक्षा करता हुआ यौवन भी है।[3] वास्तव में परिवार में नारी सामान्यतः मैले वस्त्र पहने रहती है। उस पर कीमती वस्त्र तथा आभूषण नहीं हैं जो रीतिकालीन नारी के पास रहते थे। वर्तमान नारी श्रमिक की पत्नी भी है। दो बच्चों की माँ होने पर और गृहस्थ का भार होने से उसका रूप रीतिकालीन नायिकाओं जैसा नहीं रह गया है।[4]

---

१ ओम प्रभाकर : पुष्प चरित, पृ० ३३, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७३।

२ निराला : पाँच जोड़ बाँसुरी, पृ० ३, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, १९६६।

३ सर्वेश्वर दयाल सक्सेना : काठ की घण्टियाँ, पृ० ३१६, भारतीय ज्ञानपीठ काशी, प्रथम संस्करण, १९५९।

४ शिव मंगल सिंह "सुमन" : पृ० ५८, राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९६२।

इतना ही नहीं वह अपनी इस दयनीय स्थिति में प्राय: बहुत संतति का बोझ भी ढोती है।[1] ऐसी स्थिति में उसका यौवन अमर कैसे रह सकता है? वर्तमान कविता ने इन सभी दिशाओं में ध्यान दिया है। वास्तव में परिवार - नियोजन की समस्या राष्ट्रीय से पहले पारिवारिक समस्या है, और आगे बढ़ कर कहें तो नारी की समस्या है। फिर भी इस नारी के हृदय में अपने पुरुष के प्रति प्रेम है।[2] वह "धुप - धुप करती - सी ढिबरी के नीचे बैठी खाली - खाली भारी मन से" घर का "काम - काज - धन्धा" ही नहीं करती है[3] अपितु काम के साथ - साथ बच्चों की देख - रेख भी करती है। स्वेटर बुनने के साथ - साथ वह पालना भी झुलाती चलती है।[4] इस प्रकार भारतीय परिवारों में नारी जहाँ अपने रूप - सौन्दर्य के लिये प्रशंसनीय है वहीं अपनी कर्तव्य परायणता और प्रेम के लिये भी वह प्रशंसा की पात्रा है।

घर के कामों में बहुओं[5] तथा लड़कियों को घर से बाहर कुओं तथा म्युनिस्पैलिटी के नलों से पानी लाना पड़ता है।[6] "शहर की भोर" में सड़क पर लगे म्युनिस्पैलिटी के नल पर पानी भरती हुई औरत कहीं भी देखी जा सकती है।[7] गाँवों में स्त्रियाँ दिन चढ़ते ही कन्धे

---

१ उदय शंकर भट्ट : [illegible], पृ० १२८, आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९६३।

२ उमाकान्त मालवीय : मेंहदी और महावर, पृ० १०८, साहित्य भवन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, १९६३।

३ धर्मवीर भारती : दूसरा सप्तक, पृ० १९९, प्रगति प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९५१।

४ [illegible] : नारी के अन्धे शहर में, पृ० ५३, हेमन्त प्रकाशन, प्रथम संस्करण, १९७०।

५ रघुवीर सहाय : दूसरा सप्तक, पृ० १७०, प्रगतिप्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९५१।

६ शकुन्तला माथुर : - वही - पृ० ५०।

" खाली लम्हों में
'क्रोशिये' को घुटनों में संभाल कर
बैठ जाती हो
सावधान और अभ्यस्त और व्यस्त
कभी - कभी सतह के आर - पार
धागों पर धागों पर धागे उलझाती हो ।" १

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि भारतीय पारिवारिक नारी अपने सहज जीवन में इतनी व्यस्त रहती है कि उसे कभी - कभी पति के साथ दो क्षण का, प्रेम - प्यार के लिये भी अवकाश नहीं मिलता । उसे जहाँ बच्चों के "मदरसे से लौटने की चिन्ता रहती है" २ वहाँ वह "अपने बेटे के लिये प्रार्थना करती हुई बाबा जी के भगौने में आटा डालती है ।" ३

इस प्रकार भारतीय परिवारों में नारी का जीवन अत्यन्त सरल तथा सादा होने के साथ - साथ व्यस्त भी होता है ----

" तुम -
जिसके बालों में प्लास्टिक "क्लिप" नहीं है,
जिसकी आँखों में न गहरी चमक होती है,
थर्मामीटर के पारे - सी

---

१ प्रयाग नारायण त्रिपाठी : कविताएँ १९६५, पृ० ८२, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९६६ ।

२ [illegible] : [illegible] नहीं टूटेगा, पृ० ८८, अक्षर प्रकाशन प्रा० लि०, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७४ ।

३ प्रणवकुमार वन्द्योपाध्याय : कुछ चिड़ियों के लिए प्रार्थना, पृ० ६४, पाण्डुलिपि प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७३ ।

चुपचाप जिसमें मान्यताएं चढ़ती - उतरती है,
अखंड कीर्तन की
थकी हुई स्पष्ट धुन - सी
जिसकी जिन्दगी है। "" [1]

वास्तव में भारतीय नारी अपने गृहस्थ में एक धार्मिक आस्था के साथ रहती है। वह गृहस्थ के सभी कार्य भी इसी धार्मिक आस्था के साथ करती है। पति के अनुचित व्यवहार पर उसे क्रोध नहीं आता तो केवल इसलिये कि वह उसे परमेश्वर मानती है। वह पति के दुर्गुणों के लिये पति को नहीं, अपनी किस्मत को दोष देती है। उसकी पति के प्रति यह धार्मिक आस्था सर्वेश्वर की "सुहागिन का गीत" शीर्षक कविता में मुखर हुई है। वहाँ नायिका सन्ध्या समय अपने पति को बाहर जाने से रोकने के लिये ड्योढ़ी पर, पीपल पर, तुलसी पर दीपक जलाकर आरती उतारने की बात करती है। इस गीत में नायिका जहाँ नायक के प्रति निश्छल प्रेम रखती है, वहीं उसके कल्याण की भावना और उसकी अपनी धार्मिक आस्था भी है।[2]

इन सब के अतिरिक्त परिवार चलाने के लिये निम्नवर्ग तथा मध्य वर्ग की आधुनिक महिलाएँ स्वयं धन कमाती हैं किन्तु उनके परिवार के रहन - सहन में एक बहुत बड़ा अन्तर है। निम्न वर्ग की महिला के श्रम की कमाई का अधिकांश भाग पति की विलासिता पर व्यय हो जाता

---

१ सर्वेश्वर दयाल सक्सेना : काठ की घण्टियाँ, पृ० ३००, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, १९५९।

२ -वही- पृ० ३०१।

६- बाल्य जीवन

परिवार में बच्चों का होना भी एक अनिवार्यता है। बिना बच्चों के परिवार की कोई सही कल्पना ही नहीं होती। भारतीय कवियों का ध्यान बाल्य - जीवन पर बहुत पहले से ही केन्द्रित रहा है। तुलसी जहाँ " बरदन्त की पंगत कुन्द कली " से मिलती बातों पर निछावर हैं, वहाँ सूरदास बाल - भगवान की लीलाओं पर मुग्ध हैं। इसमें सन्देह नहीं कि सूरदास जैसा बाल - लीलाओं का चित्रण अन्य कवियों ने नहीं किया और इस दृष्टि से वे अद्वितीय हैं। किन्तु स्वतन्त्रता के उपरान्त कवियों ने बाल्य जीवन से मुख मोड़ लिया हो ऐसी बात नहीं है। इस कविता में भी अनेक बाल - चित्र तथा अनेक बाल - सुलभ क्रीडाओं के बिम्ब प्रस्तुत हुए हैं। किन्तु इन चित्रों में और सूर द्वारा प्रस्तुत चित्रों में भिन्नता है, और यह भिन्नता वास्तव में युग की भिन्नता है। यहाँ केवल सर्व सम्पन्न बालकों के साथ - साथ गरीब बालकों के भी चित्र हैं। हिन्दू बच्चों के साथ - साथ मुसलमान बच्चों को भी इस कवि ने अपने काव्य का विषय बनाया है जो गाय के स्थान पर बकरी के साथ ही खेलते हैं।[१] किन्तु गरीब - अमीर या हिन्दू-मुसलमान के भेद के रहते हुए भी बच्चों के कार्य - कलाप तथा क्रीडाएँ लगभग एक सी ही होती हैं। वास्तव में अपनी जाति और गरीबी - अमीरी से मुक्त बच्चों के निर्द्वन्द्व जीवन में कोई भेद - भाव नहीं होता। खुले हुए आसमान के नीचे धूल और मिट्टी के बीच खेल रहा बच्चा हर गये अजनबी

---

१ वीरेन्द्र कुमार जैन : शून्य पुरुष और वस्तुएँ, पृ० ७८, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, १९७२।

उसे अनुभव होता है —

" लोरी, माँ की गोद जाने के लिये अब,
लोरी, घर - घर नींद रानी के लिये अब,
लोरी, परियों की कहानी के लिये अब, " [१]

बच्चों के मनोरंजन के साधनों में एक, दादी से कहानी सुनना भी है। वे नये खिलौनों की प्राप्ति की लालसा - सी दादी को घेर कर बैठ जाते हैं और उससे विभिन्न कहानियाँ सुनाने की ज़िद करते हैं। [२] इसके अतिरिक्त खिलौने भी उनके मनोरंजन के साधन होते हैं। उनकी संग्रह - कारिणी प्रवृत्ति उनसे बड़ी - बड़ी अजीब चीज़ों का संग्रह कराती है। उनकी संपत्ति भी बहुत छोटी होती है —

" पिट्ठू के गोलक में खनक रहे कुछ पैसे
सीसे रंगीन और पन्नी के ढेर।
अलमारी के ऊपर वाले खाने में
ग्वालिनें, सिपाही और गैया की शेर।
कितनी संपत्ति। " [३]

बच्चे कभी - कभी अपनी बाल - सुलभ वाणी से अनेक महत्वपूर्ण बातें भी प्राय: कह जाते हैं। उनकी आशंकाएँ उनके खिलौनों तक ही सीमित होती हैं —

---

१ रघुवीर सहाय : सीढ़ियों पर धूप में, पृ० १७६, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, १९६० ।

२ सर्वेश्वर दयाल सक्सेना : काठ की घण्टियाँ, पृ० ३०८, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, १९५९ ।

३ शकुन्त माथुर : चाँदनी चूनर, पृ० ३५, साहित्य भवन प्रा० लि०, इलाहाबाद - ३, प्रथम संस्करण, १९६० ।

"बच्चा रसोई घर में भाग
माँ की पीठ से चिपक गया
आटे की चिड़िया उसने मुट्ठी में कसली
और सहमे स्वरों में धीरे से बोला -
"माँ, क्या पापा मेरी चिड़िया भी मारेंगे?"
"धत् पगले। पापा वह चिड़िया मारते हैं जो उड़ती है"।
"चिड़िया तो मेरी भी उड़ती है" बच्चा बोला,
"और। यह देखो" कह कर
आँगन में बाँहे फैला कर वह चारों ओर दौड़ने लगा।"[1]

किन्तु इस आशंका में, यदि बच्चे की बात को गम्भीरता से सोचा जाये तो शिकारी पिता के लिये एक तीखा व्यंग छिपा हुआ है। वास्तव में माता-पिता के व्यवहार का बच्चों पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ता है। उनकी मानसिकता का निर्माण माता - पिता के क्रिया - कलापों से ही होता है। बालक का स्वभाव बहुत कल्पनाशील तथा कोमल होता है। यही कारण है कि उसे अपनी आटे की चिड़िया के प्रति चिन्ता अपने ही पिता की क्रूरता के कारण होने लगती है। इसी प्रकार एक फौजी पिता का पुत्र "टैंक" के स्थान पर धुंए वाली भापगाड़ी से खेलना अधिक पसंद करता है क्योंकि उसमें बिस्कुट और टिमटुम लादें जा सकते हैं।[2] इस

---

१ अजितकुमार : अकेले कण्ठ की पुकार, पृ० ६६, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९५८।

१ सर्वेश्वर दयाल सक्सेना : काठ की घण्टियाँ, पृ० ३७५, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, १९६०।

२ -वही- पृ० ३७१।

प्रकार के अनेक सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक चित्र इन कवियों ने अपनी कविताओं में प्रस्तुत किये हैं।

वास्तव में बच्चे की आकांक्षा और इच्छाएं खाने - पीने की वस्तुओं तथा खिलौनों तक ही सीमित होती हैं। वह उनमें आपस में सम्बन्ध भी जोड़ता है। उसे फौजी पिता द्वारा "टैंक" के खरीद देने पर इसीलिये कोई प्रसन्नता नहीं होती, अपितु वह उसे बुरा ही लगता है।

इसके अतिरिक्त इन कवियों ने बाल्य - जीवन की अनेक घटनाओं को उपमान और उदाहरणों के रूप में भी ग्रहण किया है। "तन्मय चुप्पी" के लिये माँ की छाती से चिपक कर दूध पीते हुए बच्चे की चुप्पी की [1] उपमा तथा कवि की कलम की कागज पर दौड़ के लिये नंगे-बदन बच्चों की वर्षा के पहले जल में दौड़ [2] से उपमा भी वर्तमान कवि की सूक्ष्म लोक-जीवन पर दृष्टि का प्रमाण देती है, साथ ही बाल्य - जीवन के प्रति उसके मोह को भी प्रकट करती है जो कि विषय की प्रतिकूलता के बावजूद भी प्रकट हो ही जाता है। इन कविताओं में कहीं अन्धकार को शिशु, रात्रि को माँ, कह कर पूरा रूपक खड़ा किया गया है [3] तो कहीं प्रातः काल की पक्षियों की चहचहाहट को यशोदा माँ के ग्वाल किशोर की दूध माँगने की आवाज़ से रूपायित किया गया है। [4]

---

१ भवानी प्रसाद मिश्र : बुनी हुई रस्सी, पृ० ३०, सरला प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७१।

२ भवानी प्रसाद मिश्र : अंधेरी कविताएं, पृ० ५५ - ५६, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, १९६८।

३ माखनलाल चतुर्वेदी : बीजुरी काजल आँज रही, पृ० १८, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, १९६४।

४ - वही - पृ० १०५।

स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कविता में इतना ही नहीं बच्चों के अनेक खिलौनों का भी उल्लेख हुआ है। साथ ही अनेक प्रकार के खेलों का भी उल्लेख हुआ है जिनकी चर्चा हम " सामान्य जीवन " के अन्तर्गत " खेल - मनोरंजन के साधन " शीर्षक में कर चुके हैं।

ट- दैनिक जीवन

परिवार में प्रतिदिन का जीवन भी सामान्य व्यक्ति का बड़ा व्यस्त होता है। प्रात: कुनकुनी किरन जब हर सोते हुए व्यक्ति की चादर खींच कर जगा जाती है[1] तभी से परिवारी सदस्यों की व्यस्तता प्रारम्भ हो जाती है। बहुएँ यदि अँगीठी सुलगाती हैं[2] तो लड़कियाँ चौका - बासन करने में व्यस्त हो जाती हैं"।[3] व्यक्ति अनेक प्रकार के कार्य और चिन्ताओं में व्यस्त हो जाते हैं। उस समय किसी भी घर में -- " फेंके हुए अखबार की सरसराहट, पड़ोस के चूल्हों के नये धुओं की चिपचिपाहट, ग्वाले के कमण्डल की खड़कन, नलों से बेचैन नये पानी का टपकना, बच्चों के पैरों की छमछम आहट "[4] सभी कुछ एक साथ देखा और सुना जा सकता है। इसी के साथ पुरुषों की दैनिक चिन्ता भी प्रारम्भ होती है। कभी वह घर के दरवाजे पर परदा डाल देना चाहता है ताकि घर की वास्तविक स्थिति कोई देख न सके।[5]

---

१ रमेश रंजक : हरापन नहीं टूटेगा, पृ० २८, अक्षर प्रकाशन प्रा० लि०, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७४।

२ रमेश रंजक : गीत विहग उतरा, पृ० २७, आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९६९।

३ ओम प्रभाकर : पुष्प चरित, पृ० १८, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७३।

४ अज्ञेय : अरी ओ करुणा प्रभामय, पृ० १५८, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, १९५९।

कभी "कल के उतारे हुए, मैले, फटे हुए कुरते का प्रतिवादी रूप "[१]
उसे दीख पड़ता है और उसकी चिन्ता का विषय बनता है। कभी घर
की मालकिन को "राम के साथी जैसे पैर से अनायास ही शीशे के टूटने
पर क्रोध आता है[२] तो कभी - कभी छुट्टी के दिन खाली समय में
घर का स्वामी कैंची से नाखून काटने, दाढ़ी में बालों के बीच की खाली
जगह छाँटने में समय व्यतीत करना चाहता है।[३] शाम को बच्चों पर
पिताजी की झिड़कियाँ और डाँट[४] तथा छतों पर सूखते हुए कपड़ों को
लेकर शरद की धूप का आनन्द लेते हुए परिवारी जनों का नीचे से छूट
जाना[५] — सभी कुछ इन कविताओं में उपलब्ध है। रात को आँगन
में सोते हुए व्यक्ति का बार - बार बारिश आने पर पलंग को लेकर कभी
भीतर भागना और कभी गर्मी के कारण बाहर निकलना[६] भी इस कविता
में चित्रित हुआ है।

कहीं - कहीं अनेक पारिवारिक स्थितियाँ तथा कार्यों का उपमान
के रूप में भी चित्रण किया गया है। बहुत दिन के सोये हुए बच्चे का माँ

---

१ रमेश रंजक : हरापन नहीं टूटेगा, पृ० ७६, अक्षर प्रकाशन प्रा० लि० दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७४।

१ अज्ञेय : अरी ओ करुणा प्रभामय, पृ० १५६, भारतीय ज्ञानपीठ काशी, प्रथम संस्करण, १९५९।

२ दिनेश नन्दिनी : शति, पृ० ६६, राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७२।

३ सर्वेश्वर दयाल सक्सेना : काठ की घण्टियाँ, पृ० ३५८, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, १९५९।

४ केदार नाथ सिंह : तीसरा सप्तक, पृ० १३३, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, तृतीय संस्करण, १९६७।

५ ओम प्रभाकर : पुष्प चरित, पृ० ५८, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७३।

६ भवानी प्रसाद मिश्र, गाँधी पंचशती, पृ० १५८, सरला प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९६९।

को मिल जाना, बहुत बड़ी 'क्वांरी लड़की' के लिये वर न मिल पाना, गन्दी दीवालों पर राजों द्वारा चूना फेरना तथा गरीब के घर में बहुत दिन बाद चूल्हे का जलना [1] — प्रसन्नता के लिये दिये गये उपमान ही हैं। इन उपमानों से भी यह पता लगता है कि स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कवि पारिवारिक - दैनिक जीवन के प्रति सजग है तथा उसकी दृष्टि हरपल उसी पर टिकी है।

निष्कर्ष

उपर्युक्त अध्ययन से स्पष्ट है कि स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कविता में परिवार के गठन, पारिवारिक संबंध, पारिवारिक शिष्टाचार, पति - पत्नी के सम्बन्ध, नारी - जीवन, बाल्य जीवन तथा दैनिक जीवन — सभी को पूर्णतः स्थान मिला है। इन कविताओं से स्पष्ट हो जाता है कि वर्तमान भारतीय परिवारों का आर्थिक अभाव, योरोपीय प्रभाव तथा पीढ़ियों के संघर्ष के कारण बहुत कुछ विघटन हुआ है। साथ ही आपसी सम्बन्ध तथा रिश्ते - नातों में बहुत कुछ टूटन आई है। किन्तु उनका स्नेह और करुणा से युक्त पूर्व रूप अभी भी बना हुआ है।

—o—

---

१ शकुन्त माथुर : [illegible], पृ० १०२, बिहार ग्रन्थ कुटीर, पटना-४, प्रथम संस्करण, १९६४।

चतुर्थ अध्याय

धार्मिक - सांस्कृतिक जीवन

१- साम्प्रदायिकता

२- लोक - दर्शन

३- पूजा - पाठ तथा प्रार्थनाएं

४- पूजा - विधि

५- व्रत - पर्व - उत्सव तथा त्यौहार

६- संस्कार

७- धार्मिक स्थल

८- निष्कर्ष
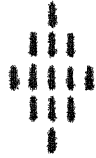
चतुर्थ अध्याय

धार्मिक - सांस्कृतिक जीवन

लोक - जीवन में धर्म का बहुत बड़ा महत्त्व है। लोक के सम्पूर्ण कार्य - कलाप कहीं न कहीं धर्म से अवश्य जुड़े रहते हैं। उसकी समस्त आस्थाओं और उसके समस्त विश्वासों में धार्मिक आस्था और धार्मिक विश्वास सर्वाधिक शक्तिशाली तथा प्राचीन हैं।

किसी भी धर्म - अनुशासन के मूल में दो ही कारण हो सकते हैं — १- नरक का भय, और २- स्वर्ग का लोभ।[१] प्राकृतिक प्रकोप या दैवीय प्रकोप के भय से, उससे बचने की इच्छा से व्यक्ति ने जो अनुष्ठानादि किये वे सभी धर्म के अन्तर्गत आते हैं। मुक्ति और पुण्य प्राप्ति या स्वर्ग की उपलब्धि के लिये जो कुछ अनुष्ठान व्यक्ति करता है वह धर्म कहे जाते हैं।

भारतीय लोक - जीवन में ये दोनों ही कारण स्पष्ट देखे जा सकते हैं।[२] इनमें पहले वाला कारण आदिवासी जातियों में तथा

---

१ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : चिन्तामणि, पृ० ३, इण्डियन प्रेस पब्लिकेशन प्रा० लि०, प्रयाग, १९७१।

२ "A part from the rewards and punishments which they regard as the due retribution in this world of the good or evil which a man has done in a preceding generation, it is certain that they acknowledge a future life, and a Supreme being, who is the rewarder of the good and the terror of the wicked. In a world they recognise a paradise and a hell."

— ABBE, J.A. Dubois : Hindu Manners, Customs and Ceremonies, Part III, Ch. II, pp.563-64.

निम्न और पिछड़ी जातियों में देखा जा सकता है। दूसरा कारण सभ्य जातियों तथा उन्नत और उच्च जातियों में देखा जा सकता है। किन्तु जैसा कि लोक को स्पष्ट करते समय हम कह आये हैं कि न तो पूर्णतः उच्च जातियां ही लोक हैं और न पूर्णतः आदिवासी या निम्न जातियां ही लोक हैं। लोक तो इन दोनों के मिश्रण से बना जनसंख्या का वह अधिकांश भाग है जिसमें दोनों विशेषताएं विद्यमान हैं।

भारतवर्ष में धर्म की ओर सभ्य जनों का पूरी तरह ध्यान गया है। यहां धर्म के क्षेत्र में अनेक महापुरुष हुए हैं। साथ ही सबने अपने धर्म प्रचार का क्षेत्र जन - सामान्य या " लोक " को ही बनाया है। परिणामतः " लोक " में शिष्ट जनों के धर्म ने भली भांति अपना अधिकार जमाया है। केवल अल्प संख्यक आदिवासी और अहेरियों और गोंड़ों की कुछ पिछड़ी जन जातियां इन प्रभावों से बची हैं। शिष्ट जनों के धर्म के प्रभाव का यह अर्थ नहीं कि लोक में अपना पूर्व - धर्म लुप्त हो गया। वास्तव में शिष्टजनों के धर्म का उद्देश्य पुण्य और मोक्ष या स्वर्गलाभ का लोभ ही रहा है तथा असभ्य कही जाने वाली जन जातियों के धर्म का उद्देश्य पाप या दैवीय विपत्ति अथवा नरक से भय रहा है। " लोक " में दोनों प्रवृत्तियां विद्यमान हैं किन्तु उसमें पहली वाली का प्रभाव अधिक है।

महाभारत के अनुसार "" जो धारण करता है वही धर्म है। "" [१] धर्म से ही समस्त प्रजा या समाज बंधा है। इसी से समाज में व्यवस्था है और व्यवस्था का उद्देश्य दुःख - संत्रास या भय देना नहीं है। अपितु

---

१ महाभारत : कर्ण पर्व ६९।५८ ।

व्यवस्था का उद्देश्य तो सर्वजनहिताय तथा सर्वजनसुखाय होता है। इस प्रकार धर्म की जो व्याख्या हमारे यहाँ की गई है वह सुख-लाभ पर ही आधारित है। और उस लाभ की ओर अग्रसर करने के लिये हानियों का भय भी दिखाया गया है। पुराणों में अनेक ऐसी कथाएं हैं जिनमें धर्म-विरुद्ध कार्य करने से व्यक्ति की हानि चित्रित की गई है। किन्तु यह भय इसका मूल नहीं इसका मूल तो सुख-स्वर्ग का लाभ ही है, भय तो उस मूल को सशक्त करने की प्रक्रिया का एक अंग है। विश्व के सभी धर्म किसी न किसी रूप में स्वर्ग-नरक तथा पाप-पुण्य की कल्पना पर विश्वास करते हैं।[1] इससे स्पष्ट है कि शिष्ट वर्गों का धर्म सुख-लाभ से प्रेरित है।

यह ठीक है कि प्रारम्भ में जन-साधारण का धर्म भय पर आधारित रहा होगा। भय के ही कारण उसने "टेबू" जैसी कल्पनाएं की होंगी। किन्तु जैसे-जैसे मनुष्य सभ्य होता गया उसने धर्म में से भय को कम करके सुख-लाभ का लोभ भरना प्रारम्भ कर दिया। और इस प्रकार हमारे यहाँ आज वह प्राचीन आदिम धारा क्षीण पड़ गई तथा दूसरी ऐतिहासिक धारा बलवती हो गयी। किन्तु लोक में से आदिम तत्व कभी भी समाप्त नहीं होते, हाँ, उन पर ऐतिहासिक पर्तें चढ़ती रहती हैं। इस प्रकार धर्म नामक आदिम प्रवृत्ति आज भी

---

1 "The first doctrinal article admitted by the Hindus is common to the Pythagoreans; namely, that sin ought to be punished and virtue rewarded."

— ABBE. J.A. Dubois : Hindu Manners, Customs and ceremonies, Part III, Ch. II, p. 561.

विद्यमान है, केवल उसके मूल और आदिम कारण पर इतिहास ने अनेक पर्तें चढ़ा दी हैं, जिससे उसका मूल ढका हुआ सा लगता है। किन्तु अनेक अवसरों पर धर्म का यह मूल प्रकट अवश्य हो जाता है।

१- साम्प्रदायिकता

जब धार्मिक मतमतान्तरों का प्रश्न उठता है। भारत में जहाँ अनेक धर्मावलम्बी लोग रहते हैं, यह प्रश्न और भी महत्वपूर्ण तथा प्रमुख हो जाता है। वास्तव में शिष्ट जनों में मतैक्य कभी नहीं होता। फिर भारतीय "लोक" हिन्दू, मुस्लिम, सिख, ईसाई, बौद्ध आदि में से किस संप्रदाय को मानता है। यहाँ यह जान लेना आवश्यक है कि हिन्दू, मुसलमान आदि संप्रदाय हैं, धर्म नहीं। लोक का अपना धर्म इन सभी मतमतान्तरों से पृथक् होता है, जिसमें शास्त्रीय तर्कों के स्थान पर विश्वास और आस्था ही प्रमुख होती हैं। वह उन सभी बातों को स्वीकार करता है जिनपर उसका विश्वास जम जाता है तथा जो उसकी भावनाओं को सर्वाधिक तोष पाती हैं। चाहे वे बातें परस्पर कितनी भी विरोधी क्यों न हों। लोक-सामान्य व्यवहार में एक हिन्दू अजमेर शरीफ की दरगाह में मिन्नत भी मनाता है और शीतला माता की मनौतियाँ भी मनाता है। इसी प्रकार मुसलमान, हिन्दू पुजारियों पर झाड़-फूँक भी करा लेता है और मस्जिद में कुरान भी पढ़ता है।

भारतीय जनता में लोक-स्तर पर कभी साम्प्रदायिक वैमनस्य नहीं रहा। इस दृष्टि से हिन्दी साहित्य का भक्ति-काल भारतीय

लोक के इतिहास में स्वर्ण काल कहा जा सकता है। यहाँ मुसलमान कवि हिन्दू देवी - देवताओं की उपासना में कविता लिखता है और हिन्दू कवि खुदा और ईश्वर की एकता का सन्देश देता है। साम्प्रदायिक वैमनस्य केवल मुल्ले और पुजारी अथवा शासकों तक ही सीमित रहा है। यह दूसरी बात है कि अपने स्वार्थों के कारण उन्होंने सामान्य जनता को भी आपस में लड़ाया है। किन्तु ये लड़ाइयाँ कभी स्थायी नहीं रही हैं। तथा लोक देवता कवियों ने कभी इसे सराहा भी नहीं है, अपितु इसके मूल कारण पंडित और मुल्लों की स्वार्थपरता को उघाड़ कर सामने रखा है।[1] यह कबीर की भाँति धर्मान्ध हिन्दू और मुसलमान दोनोंपरही व्यंग करता है और पंडित और मुल्लों की खबर लेता है -

" जब तक दान - दक्षिणा और दरगाह - प्राप्ति
में है नियमित मन
तब तक यहाँ भेद के पोषक, ले कर ईसा - कृष्ण -
मुहम्मद,
खूब करेंगे अपनी आमद डाँक - डाँक कर स्वार्थ -
अहम-मद। "[2]

इतना ही नहीं, " गाँव - गाँव में, नगर - नगर में " जो दीवार उठ खड़ी हुए हैं, उसका कारण मात्र इतना ही है कि —

---

१ प्रभाकर माचवे : अनुक्षण, पृ० ८५ - ८६, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण १९५६।

२ - वही - पृ० ८६।

" झोंपड़ी बन गया
नामानाम । नाम + अनाम भी । कमाने का
दुनिया में अच्छा – खासा पैसा । "[1]

यही कारण है कि " नेता " लोग एक दूसरे को अपने स्वार्थ के लिये गरियाते और धकियाते हैं । देश को दिशा देने की इनमें से किसी को भी चिन्ता नहीं है ।

स्वतन्त्रता के समय होने वाले हिन्दू – मुसलमानों के साम्प्रदायिक दंगे भी वास्तव में राजनीतिज्ञों की स्वार्थ परता के ही परिणाम थे :—

" राजनीति की तलवारों ने
धार काट दी
मनुष्य कट गया ।
अब उसका आधा धड़ मन्दिर
और कबन्ध आधे में मस्जिद । "[2]

वास्तव में यह समस्या तब उत्पन्न होती है, जब किसी धार्मिक मत को राष्ट्रीयता से जोड़ दिया जाता है । आज के लोक — तन्त्र के युग में राष्ट्रीयता को किसी धर्म से नहीं जोड़ा जा सकता । क्यों कि इसमें अनेक धर्मावलम्बी रहते हैं । ऐसे लोक — तन्त्र में तो " मन्दिरों, मस्जिदों, गिरजों और गुरुद्वारों " सभी में देश के लिये प्रार्थना करने की

---

१ बच्चन : कटती प्रतिमाओं की आवाज़, पृ० ५८-५९, राजपाल एण्ड संस, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९६८ ।

२ नरेश मेहता : मेरा समर्पित एकान्त, पृ० ५४, दि नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९६२ ।

आवश्यकता है ।[1] क्योंकि देश सभी धर्मावलम्बियों का है । वह अब किसी एक धर्म का नहीं रहा । वैसे संवैधानिक रूप से भी भारत एक धर्म निरपेक्ष राष्ट्र है । किन्तु आज भी देश में जब किसी धर्म का प्रचार बढ़ता है तो स्वतन्त्रता प्राप्ति के समय की ही भांति "धर्म, जाति, हिंसा की तलवारें" लेकर फिर से तिमिर उभरने लगता है"।[2] और इस तिमिर में सहायक होती है —— धार्मिक हिंसा । जिन धर्मों में हिंसा को धार्मिक स्वीकृति प्राप्त है, उनके अनुयायी ऐसी स्थिति में शीघ्र भड़क से उठते हैं । किन्तु यह भावनाएँ हैं अस्थायी ही, और इन अस्थायी भावनाओं के सम्बन्ध में वर्तमान कवि मानता है "कि हमने उठायी है यह छुरी भगवान के मासूम बन्दों को जिबह करने के लिये" "या फिर है हमने उठाया है खुदा, उनकी छाती बींध कर ।"[3] और इस प्रकार वह निरन्तर इस साम्प्रदायिक वैमनस्य पर व्यंग्य करता है, उसकी असलियत खोलता है और उसको मुँह चिढ़ाता है ।

२– लोक-दर्शन

भारतवर्ष में धर्म के सम्बन्ध में लोक का अपना ही एक दर्शन है, जो अनेक अन्तर विरोधों के साथ उसके द्वारा निरन्तर व्यवहार में लाया जाता है । यह ठीक है कि वह धर्म के गूढ़ रहस्य को नहीं समझता, न सभी दर्शनों में वह पारंगत ही है । फिर भी वह उन सभी

---

१ दिनकर : परशुराम की प्रतीक्षा, पृ० २७, उदयाचल, राजेन्द्रनगर, पटना – ४, तृतीय संस्करण, १९६६ ।

२ गिरिजा कुमार माथुर : धूप के धान, पृ० ४२, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, तृतीय संस्करण, १९६६ ।

३ वीरेन्द्र कुमार जैन : शून्य पुरुष और वस्तुएँ, पृ० १४४, भारतीय ज्ञानपीठ काशी, प्रथम संस्करण, अक्टूबर, १९७२ ।

तू झुक आत्मा की ओर
देख छवि उसकी
जिस गुण से होती है
पहचान मनुज की । "" [1]

और मनुष्य की पहचान ही नहीं उसके साथ " मन मिलाना " भी आवश्यक है ।[2]

सुख-दु:ख के सम्बन्ध में लोक की मान्यता है कि "" जिन्दगी शोक-सुख का सिलसिला है । "" और ये सुख - दुख तो सदा आते जाते रहते हैं इसीलिये ये अच्छे भी लगते हैं — इनका गिला करना व्यर्थ है ।[3] इन दार्शनिक सत्यों पर विश्वास के साथ - साथ लोक - जीवन में व्यक्ति की ईश्वर पर भी अमिट आस्था है —

"" प्रभु के चरण मरण तक साथी
और मृत्यु के बाद गोद वे ।
\+ \+
उस पर पाँव रखा गति आई
उसका ध्यान सुमति लहराई । "" [4]

इस प्रकार स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कविताओं में लोक का जीवन-दर्शन जो उसे धर्म से ही प्राप्त है, पूरी तरह व्यक्त किया गया है । इससे यह भी

---

१ गिरिजा कुमार माथुर : धूप के धान, पृ० ६८, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, तृतीय संस्करण १९६६ ।

२ शकुन्त माथुर : चाँदनी चूनर, पृ० १०४, साहित्य भवन प्रा० लि०, इलाहाबाद - ३, प्रथम संस्करण १९६० ।

३ भवानी प्रसाद मिश्र : गाँधी पंचशती, पृ० १५६, सरला प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९६९ ।

४ -वही- पृ० ११९ - १२० ।

स्पष्ट हो जाता है कि लोक पर भारत की उन आदिवासी धार्मिक वृत्तियों का कम तथा ऐतिहासिक धार्मिक वृत्तियों का प्रभाव अधिक है। जिससे यह निष्कर्ष आसानी से निकाला जा सकता है कि — वर्तमान लोक में आदिम प्रवृत्तियों पर ऐतिहासिक पर्वों का रंग बहुत गहरा चढ़ गया है। और वर्तमान लोक - जीवन धर्म के क्षेत्र में भय के स्थान पर शुभ - लाभ के लोभ से अधिक परिचालित होता है। साथ ही अपनी दार्शनिकता में वह इस संसार की असारता को स्वीकार करता है।

3— पूजा - पाठ तथा प्रार्थनाएं

लोक - जीवन में धर्म का स्वरूप बाह्याचारों, जिनमें पूजा-पाठ तथा प्रार्थनाएं आती हैं, के रूप में ही प्रकट होता है। लोक में जिन देवी-देवताओं की पूजा का प्रचलन है, उनमें से अधिकांश की चर्चा पीछे की जा चुकी है। यहाँ हम केवल उन्हीं पूजाओं की चर्चा कर रहे हैं जिनका सम्बन्ध पुराणों से कम तथा लोक - जीवन की अपनी आदिम आस्थाओं से अधिक है।

इन पूजाओं में सर्वाधिक प्रमुख पूजा " नाग पूजा " है। श्रावण शुक्ला पंचमी को उत्तर भारत में नाग पंचमी कहा जाता है। उस दिन स्त्रियां घरों की दीवालों पर कोयले के घोल से सर्पों के चित्र बनाती हैं और उनकी पूजा करती हैं। उस अवसर पर वे कहानी भी कहती हैं, जिनमें नागों और सर्पों की अलौकिक शक्तियों का कथन किया जाता है। उस दिन ब्रज के विभिन्न नाग-स्थानों पर नारियां नाग देवता की पूजा करती हैं, सर्पों को दूध पिलाती हैं, और उनकी बांबियों (बिलों) पर

अक्षत - पुष्पादि चढ़ाती हैं। [1] दक्षिण भारत में यह उत्सव फरवरी के प्रारम्भ में मनाया जाता है तथा इसे "नागरा पंचमी" कहते हैं। [2] शकुन्त माथुर की एक कविता में व्यक्ति की धर्म और पूजा पाठ की ओर से हटती हुई आस्था को चित्रित करते हुए वरदान प्राप्त करने की इच्छा से की गई "नाग - पूजा" का उल्लेख हुआ है। [3] समुद्र के किनारे वाले भारतीय भागों में "सिन्धु - पूजा" होती है। इस पूजा के समय समुद्र में "फूल - फल - मालाएं" तथा नारियल आदि पूरी विधि के साथ प्रवाहित किये जाते हैं। नरेश मेहता की "मेरा संकल्प" शीर्षक कविता में सिन्धु के विराटपात्र में फूल - फल - मालाओं के तैरने - उतराने का चित्रण सिन्धु-पूजा के सन्दर्भ में ही किया गया है। [4] उमाकान्त मालवीय के एक गीत में मजारों की पूजा तथा चादरों का भी उल्लेख हुआ है। [5] इसके अतिरिक्त सुहागिन स्त्रियों द्वारा तुलसी की पूजा और आरती का उल्लेख भी आलोच्य कविताओं में हुआ है। [6] भारतवर्ष का प्रत्येक हिन्दू परिवार तुलसी के पौधे को श्रद्धा से देखता है, विशेष कर ब्राह्मणों के घरों में लगे तुलसी के बिरवे की नियमित पूजा होती है। [7]

---

१ प्रभुदयाल मीतल : ब्रज के धर्म सम्प्रदायों का इतिहास, पृ० ५६३, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली - ६, प्रथम संस्करण, कार्तिक सं० २०२५ वि० ।

२ ABBE. J.A. Dubois : Hindu Manners, Customs and Ceremonies, Part III, Ch. III, p. 571.

३ शकुन्त माथुर : चाँदनी चूनर, पृ० ८४, साहित्य भवन प्रा० लि०, इलाहाबाद - ३, प्रथम संस्करण, १९६० ।

४ नरेश मेहता : मेरा समर्पित एकान्त, पृ० १२, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९६२ ।

५ उमाकान्त मालवीय : पाँच जोड़ बाँसुरी, पृ० १७४, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, १९६९ ।

६ सर्वेश्वर दयाल सक्सेना : काठ की घण्टियाँ, पृ० २७१, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, १९५९ ।

७ ABBE. J.A. Dubois : Hindu Manners, Customs and Ceremonies, Part I, Chapter XIII, p. 144.

इन पूजाओं के अतिरिक्त उत्तर भारत में "साँझी" (सन्ध्या) की पूजा का भी प्रचलन है। "पितृ पक्ष के आते ही ब्रज की बालिकाएँ घर की दीवारों पर गोबर, फूल, पत्ती आदि से साँझी का चित्रण करती हैं, जो पूरे १५ दिनों तक नित्य नये रूप में किया जाता है।[१] श्री प्रभुदयाल मीतल का अनुमान है कि "साँझी संभवतः गौरी पार्वती का ही एक लोक प्रचलित रूप है।"[२] किन्तु किसी माँ की पुत्री जब साँझी की पूजा नहीं करती तथा नये चित्रण नहीं करती तो माँ का दुखी होना स्वाभाविक है —

> " लो सन्ध्या माँडने की बेला सूनी हो बीत रही
> पड़ोस की लड़कियाँ तो सब जुटी हैं सन्ध्या माँडने में।
> उसकी दीवार पर दीखते हैं यही उखड़े उदासीन
> कल के सन्ध्या मण्डप के अवशेष।"[३]

इसके साथ ही विवाहित स्त्रियाँ घरों में "संझबाती" जलाती हैं। और अपने कुल-देवता या कुल-देवी के सम्मुख "साँझ का शंख फूँककर, आरती का दीप जलाकर तथा आँचल को माथे से लगाकर कुनकुनाते ओठों से" प्रार्थना करती हैं।[४] प्रवासी पति भी जब अपनी पत्नी का ध्यान करता है तो उसकी स्मृति में सहज ही पत्नी द्वारा की गई संझबाती का ही बिम्ब बनता है।[५]

---

१ प्रभुदयाल मीतल : ब्रज के धर्म सम्प्रदायों का इतिहास, पृ० ५६५, नैशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली-६, प्रथम संस्करण, सं० २०२५ वि०।

२ -वही- पृ० ५६५।

३ वीरेन्द्र कुमार जैन : साम्प्रतिकी, पृ० ७८, बिहार ग्रन्थ कुटीर, पटना-४, प्रथम संस्करण, १९६४।

४ श्रीराम सिंह : पाँच जोड़ बाँसुरी, पृ० १३८, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, १९६९।

५ सूर्य प्रताप सिंह : -वही- पृ० १९७।

इसी प्रकार पुण्यार्जन के लिये " कतकी " (कार्तिकी पूर्णिमा) के दिन गंगा स्नान होता है जिसका उल्लेख शिवमंगल सिंह " सुमन " की " माँ गंगे " शीर्षक कविता में हुआ है ।[१]

इस प्रकार हम देखते हैं कि स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कविता में सभी प्रकार के देवी - देवताओं आदि के पूजा - पाठ तथा प्रार्थनाओं का उल्लेख हुआ है ।

४- पूजा - विधि

ईश्वर को प्रसन्न करने के लिये जो अनुष्ठान आदि आयोजित किये जाते हैं, उन्हीं को लोक में पूजा कहते हैं । प्रत्येक धर्म में ये अनुष्ठान भिन्न प्रकार के हो सकते हैं । साथ ही इनकी विधियाँ भी भिन्न हो सकती हैं । किन्तु सभी धर्मों में ईश्वर को प्रसन्न करने के लिये इस प्रकार के आयोजन किये अवश्य जाते हैं ।

भारतीय पूजा पद्धति में सर्वाधिक प्राचीन अनुष्ठान " यज्ञ " का है । इसमें प्राय: बलि देने की भी प्रथा थी । यह प्रथा प्राय: विश्व के सभी भागों में प्रचलित थी । वर्तमान भारत में यह प्रथा कानूनी तौर पर बन्द करदी गई है, किन्तु नेपाल के पशुपतिनाथ मन्दिर में यह अभी भी प्रचलित है । मुसलमानों में " जिबह " इसी प्रकार की धार्मिक प्रथा है । उनके यहाँ बकरे को " जिबह " किया जाता है । उनका धर्म इसके लिये आज्ञा देता है । स्वातन्त्र्योत्तर भारत में जिस पर गान्धी जी की अहिंसा का बहुत गहरा

---

१ शिवमंगल सिंह " सुमन " पृ० १४७, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७२ ।

प्रभाव है, यह परम्परा अच्छी दृष्टि से नहीं देखी जाती । वीरेन्द्र कुमार जैन की "छुरियां" शीर्षक कविता में जानवरों के कसाईखाने के बाहर निकली हुई छुरियों के माध्यम से इस हिंसात्मक पूजा - पद्धति को धिक्कारा गया है । [१]

वस्तुतः भारतीय जनता धार्मिक कट्टरता के भयंकर परिणाम देश की स्वतन्त्रता के समय देख चुकी थी । यही कारण है कि स्वातन्त्र्योत्तर कवि धर्म को भक्तिकालीन कवियों की भाँति भावुकता पूर्ण दृष्टि से न देख कर, एक तटस्थ वैचारिक दृष्टि से देखता है । वह उसके गुणावगुणों को छाँट कर ही उसे स्वीकार करता है । और इसमें भारत की लम्बी आध्यात्मिक तथा दार्शनिक परम्परा उसकी सहायता करती है । फिर भी धर्म के बाह्याचारों का अस्तित्व जन साधारण में बना हुआ है ।

स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कविताओं में अधिकतः हिन्दू - पूजा - विधियों का ही उल्लेख हुआ है । यह उल्लेख कहीं रूपक के रूप में तथा कहीं यथातथ्य अंकन के रूप में हुआ है ।

हिन्दू धर्म में ईश्वर पूजा के लिये जो विधान हैं, उनमें "आचमन" और "संकल्प" का महत्वपूर्ण स्थान है । आचमन और संकल्प के उपरान्त ही पूजा का कार्यक्रम आगे बढ़ता है । हयूमिक्स महोदय संकल्प के सम्बन्ध में विस्तार पूर्वक बताते हुए कहते हैं कि संकल्प में व्यक्ति अपनी भौगोलिक एवं जातिगत तथा कालगत स्थिति को बताकर सभी देवताओं का नाम लेते हुये

---

१ वीरेन्द्रकुमार जैन : शून्य पुरुष और वस्तुएँ, पृ० १४५, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, अक्टूबर १९७२ ।

देव पूजा को किसी निश्चित कारण से प्रतिज्ञा करता है।[1] अज्ञेय की एक कविता में इस आचमन और संकल्प का इस प्रकार उल्लेख हुआ है ——

> "आज हम आचमन करते हैं।
> और महाशार्द ;
> संकल्प हम उसका
> करते हैं : आपको
> जम्बू द्वीपे भरत खंडे
> अमुक शर्मणा मया।"[2]

पूजा में यों तो शास्त्रीय विधि से अनेक प्रक्रियाएँ होती हैं किन्तु वर्तमान कविता में उनका यथाविधि वर्णन नहीं किया गया है। फिर भी भोग लगाना तथा द्रव्य चढ़ाना,[3] शंख और घण्टे की ध्वनि करना,[4] दीपक जलाना,[5] प्रार्थना,[6] या मन्त्र उच्चारण[7], दीपावली के दिन खील - बताशे से गणेश पूजा करना[8], अर्घ्य तथा आरती[9], आदि

---

१ ABBE. J.A. Dubois: Hindu Manners, Customs and Ceremonies, Part I, Chs. XIII, p. 144, Foot Note 1.

२ अज्ञेय : इन्द्र धनु रौंदे हुए ये, पृ० ४४, सरस्वती प्रेस, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, १९५७।

३ [illegible] : [illegible], पृ० ६३, राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७३।

४ माखन लाल चतुर्वेदी : बीजुरी काजल आँज रही, पृ० ६५, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, १९६४।

५ [illegible] : पाँच जोड़ बाँसुरी, पृ० ११०, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, १९६९।

६ — वही — पृ० ११०।

७ वीरेन्द्र कुमार जैन : शून्य पुरुष और वस्तुएँ, पृ० ६५, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, अक्टूबर १९७२।

का उल्लेख इन कविताओं में हुआ है। इनमें " आरती " पूजा-विधि की सबसे अन्तिम प्रक्रिया है। इसमें थाली पर दीपक रख कर, आरती करने वाला देवता की ऊँचाई तक ले जाकर कुछ निश्चित चक्कर लगवाता है, साथ ही कुछ मन्त्र अथवा प्रार्थना गाता जाता है। भारत वर्ष में यह आरती करने का अधिकार केवल विवाहित महिलाओं को ही प्राप्त है। इस शब्द का अर्थ दुर्भाग्य, दुःख या पीड़ा है। भक्त उस पीड़ा से बचाने के लिये मानो ईश्वर से प्रार्थना करता है। ड्यूबिआ महोदय के अनुसार इसका उद्देश्य बुरे प्रभाव तथा बुरी नज़र से बचाना है। क्योंकि हिन्दुओं में यह विश्वास है कि बुरी नज़र से देखने मात्र से ही व्यक्ति का अहित हो जाता है।[१] यह बुरी नज़र और कुछ नहीं व्यक्तियों की ईर्ष्या भावना ही है। नज़र उतारने की परम्परा का ही शास्त्रीय रूप यह आरती है। इसके द्वारा व्यक्ति अपने ईश्वर को किसी भी बुरी नज़र से बचाना चाहता है। वास्तव में भारतीय भक्ति मार्ग में ईश्वर के प्रति भक्ति का मूल आधार प्रेम ही है, चाहे वह प्रेम पति-पत्नी, पिता-पुत्र आदि किसी भी रूप में क्यों न हो। वस्तुतः भक्त भगवान को भी मनुष्य ही की भाँति मानकर उससे प्रेम करता है और उसे भी दुष्ट-दृष्टियों से बचाना चाहता है। इससे स्पष्ट है कि भारतीय धर्म की शास्त्रीय प्रक्रियाओं में अनेक लोक-प्रचलित अनुष्ठान भी सम्मिलित हो गये। यहाँ यह भी संभव है कि भारतीय धर्म को प्रचारित - प्रसारित करने

---

८ रमेश रंजक : हरापन नहीं टूटेगा, पृ० २३, अक्षर प्रकाशन प्रा० लि० दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७४।

९ पद्मसिंह शर्मा " कमलेश " : ५५ की श्रेष्ठ कविताएँ, पृ० ६१-६२, नवसाहित्य प्रकाशन, नई दिल्ली - १, प्रथम संस्करण, १९५६।

१ "The object of this ceremony is to counter act the influence of the evil eye and any ill-effects which, according to Hindu belief, may arise from the jealous and spitful looks of ill - intentioned persons."

   - ABBE. J.A. Dubois : Hindu Manners, Customs and Ceremonies, Part I, Ch. XIII, p. 148.

के लिये ब्राह्मणों ने उसका रूप लोक - प्रचलित अनुष्ठानों के ही आधार पर बनाया हो ।

भारतीय धर्म के वर्तमान स्वरूप निर्माण का जो भी कारण हो, स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कविता में उसकी अभिव्यक्ति मिली है । किन्तु पूजा - विधियों का कोई क्रमिक उल्लेख इन कविताओं में नहीं मिलता । वस्तुतः लोक - धर्म की यह एक विशेषता है कि इसमें विधि उतनी प्रधान नहीं जितनी कि भावना । सोना, चाँदी आदि द्रव्यों के अभाव में भक्त एक " मिट्टी के ढले " से भी अपने भगवान की पूजा कर सकता है ।[1] इससे इस धर्म की उदारता का पता लगता है । और यह बात सर्वथा प्रशंसनीय है ।

५- व्रत - पर्व - उत्सव तथा त्योहार

भारतीय लोक जीवन में जितने व्रत-पर्व - उत्सव तथा त्योहारों का प्रचलन है, उतने कदाचित किसी अन्य देश में प्रचलित नहीं है । यहां के सम्बन्ध में " सात वार नौ त्योहार " की कहावत प्रचलित है । यह सभी व्रत - पर्व आदि भारतीय परिवारों में बड़े उल्लास और उत्साह के साथ मनाये जाते हैं । किन्तु वर्तमान समाज व्यवस्था में नौकरी करने वाले तथा पढ़ने वाले व्यक्तियों को परिवार से दूर रहना पड़ता है । वे केवल विशेष त्योहारों पर ही घर आपाते हैं । शेष " तीज - तिथि -

---

१ [illegible] : पाँच जोड़ बाँसुरी, पृ० ८६, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, १९५९ ।

त्योहार सब – कुछ " उनसे परिवार के साथ ही छूट जाता है।[1]

व्रत, भारत वर्ष में प्राय: प्रत्येक घर में किये जाते हैं। शास्त्रीय दृष्टि से तो प्रत्येक व्यक्ति व्रत कर सकता है किन्तु सामान्यत: परिवारों में स्त्रियाँ ही व्रत करती हैं। कुछ व्रत ऐसे भी हैं जो केवल स्त्रियों के लिये है, जैसे — करवा चौथ, अहोई आठें, सकट, आदि। कुछ व्रत ऐसे हैं जिन्हें परिवार का प्रत्येक सदस्य करता है, जैसे – जन्माष्टमी, शिवरात्रि आदि। अन्य व्रतों में कुछ तिथियाँ, जैसे — एकादशी, प्रदोष, पूर्णिमा आदि।

पर्व ऐसे अवसर होते हैं जो यदा – कदा आते हैं तथा जिन अवसरों पर सामूहिक रूप से व्यक्ति गंगास्नान करते हैं। कार्तिकी पूर्णिमा, सूर्य ग्रहण, कुम्भ, गंगा – दशहरा आदि ऐसे ही पर्व हैं। इन अवसरों पर भारत वर्ष का प्रत्येक सामान्य व्यक्ति अपने निकट के किसी भी नदी, नहर अथवा ताल में स्नान करता है। गंगा पर तो कहीं – कहीं दूर से स्नानार्थियों की भीड़ एकत्रित होती है।

" ग्रहण " वैज्ञानिक अर्थों " में सूर्य और चन्द्रमा के बीच पृथ्वी, अथवा पृथ्वी और सूर्य के बीच चन्द्रमा का आ जाना मात्र होता है। किन्तु भारतीय विश्वास के अनुसार सूर्य ग्रहण में केतु तथा चन्द्र ग्रहण में राहु उन्हें ग्रसता है। इसके पीछे एक पौराणिक कथा भी है जिसमें इनकी शत्रुता का कारण बताया गया है। यह ग्रहण एक अशुभ घटना है जिसे देखना अपवित्र माना जाता है। यदा – कदा यदि इसे देखने की आवश्यकता भी पड़ जाती है तो सूर्य-ग्रहण रंगीन शीशे अथवा काजल लगे, काले धुएँ वाले काँच से होकर देखा जाता है।[2] वास्तव में खुली आँख से इसे देखने से नेत्र-

---

१ श्री [illegible]: पुण्यचरित, पृ० ३४, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९६७।

२ गिरिजा कुमार माथुर: शिलापंख चमकीले, पृ० ३४, साहित्य भवन प्रा० लि० इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, १९६१।

हानि हो जाती है। इसको देखने के उपरान्त सभी को स्नान करना चाहिये, साथ ही भोजन को भी कुश में दबाकर रखना चाहिये ताकि वह पवित्र बना रहे ऐसी मान्यता है। वर्तमान वैज्ञानिक युग में जब कि मनुष्य चन्द्रमा पर पहुँच गया है यह तथ्य प्रायः उजागर हो गया है कि ग्रहण के कारण वैज्ञानिक हैं। स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कवि उन मान्यताओं की उपेक्षा कर इसी वैज्ञानिक कारण को प्रकट करता है।[1] वास्तव में स्वतन्त्रता के उपरान्त लोक - जीवन में से ऐसी अनेक मान्यताएं वैज्ञानिक प्रगति के साथ मिटती जा रही हैं। कार्तिक पूर्णिमा भी एक ऐसा ही पर्व है जबकि अधिकांश भारतीय जन, गंगा-स्नान करते हैं। इस पर्व को लोक - भाषा में "कतकी" कहा जाता है। इस अवसर पर प्रायः घरों में माँ, अपने पुत्र को गंगा - स्नान कर आने के लिये कहती हैं —

" चलने के दिन कतकी थी
बोलीं — गंगा नहा आओ अब।"[2]

जहाँ पर्वों पर व्यक्ति गंगा स्नान के लिये एकत्रित होते हैं, वहाँ उत्सव भी सामूहिक स्तर पर मनाए जाते हैं। किन्तु ये उत्सव घर से अधिक दूर नहीं होते अपितु अपने ही गाँव या मुहल्ले में होते हैं। उत्सवों को सम्पूर्ण भारत के लोग लगभग एक ही समय अपने - अपने क्षेत्र में मनाते हैं।

भारतवर्ष के सभी धार्मिक उत्सवों का सम्बन्ध कृषक जीवन और प्रकृति से है। उसके सभी उत्सव ऐसे समयों में होते हैं जब कृषक अपनी

---

१ गिरिजा कुमार माथुर : धूप के धान, पृ० ४७, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, द्वितीय संस्करण, १९६६।

२ शिवमंगल सिंह "सुमन" : पृ० १५७, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७२।

फसल उठा चुका होता है। ऐसा लगता है, इन उत्सवों का सम्बन्ध धर्म से बाद में जुड़ा है। कुछ उत्सव आज भी ऐसे हैं, जो धर्म के स्थान पर शुद्ध कृषक जीवन से सम्बन्धित हैं, किन्तु वे मनाए उसी धार्मिक आस्था से जाते हैं, जिससे कि अन्य धार्मिक उत्सव मनाये जाते हैं। वस्तुत: उल्लास ही इन उत्सवों का मूल है। अच्छी फसल होने पर "खेतों के नर्तन उत्सव" में "प्रफुल्ल कृषक" का नाचना स्वाभाविक ही है।[1]

वास्तव में अच्छी कृषि होने पर कृषक जो उत्सव मनाता है वैसे धार्मिक उत्सव भी बन गए हैं। होली का उत्सव इसी प्रकार का है। फागुन के अन्त तथा चैत के प्रारम्भ में भारतवर्ष में कृषक रबी की फ़सल काटता है। होली का उत्सव इसी नई फ़सल की प्रसन्नता में मनाया जाता है ——

"" शस्य श्यामला भूमि के पुत्रो! उठो,
उत्सव मनाओ
इस उपज के हर्ष में
होली जलाओ
रंग अबीर गुलाल बाँटो। ""[2]

और इस नयी फसल की प्रसन्नता में जो उत्सव मनाया जाता है उसमें लोग मानो पागल हो जाते हैं। आँगनों में, दीवालों पर रंग के छींटे पड़ जाते हैं। एक दूसरे पर स्त्री - पुरुष खूब रंग-गुलाल डालते हैं। कांसे की थालियों में लाल, हरे, पीले गुलाल के ढेर और टेसू के फूल का

---

१ केदार नाथ अग्रवाल : फूल नहीं रंग बोलते हैं, पृ० ३१, परिमल प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, अक्टूबर १९६५।

२ जगदीश गुप्त : शब्द दंश, पृ० ५०, भारती भंडार, प्रयाग, प्रथम संस्करण, सं० २०१६।

रंग आदमियों को उन्मत्त कर देता है। सखियों में भीगकर स्त्रियों के झीने वस्त्र उनके तन से चिपक जाते हैं।[1] यह उत्सव सम्पूर्ण भारत में "होली" कहा जाता है। प्रायः रात्रि में हर गाँव - गली और घरों में लकड़ी तथा गोबर की गुलरियों से होली जलाई जाती है। आज यह प्रथा केवल कृषकों में ही नहीं अपितु अन्य वर्गों में भी कृषकों के समान ही प्रचलित है। क्या गाँव, क्या नगर सभी होली के रंग में ऐसे रंग जाते हैं कि पहचाने नहीं जाते। व्यक्तियों के बीच के सभी भेद और अन्तर समाप्त हो जाते हैं। "क्षण भर की मस्ती में धर्म, लाज, ऊँच - नीच, सम्मान, मान सभी समान" हो जाते हैं। और हुड़दंग मचा मचा कर लोग रंग उड़ाने लगते हैं।[2]

होली के समान महत्त्व का एक उत्सव और होता है— "दीपावली"। इसे दीपोत्सव या दीवाली भी कहते हैं। कार्तिक मास के कृष्ण पक्ष की अमावस की रात्रि में यह उत्सव मनाया जाता है। होली के ठीक विपरीत यह उत्सव स्वच्छता तथा सफाई का उत्सव है। खरीफ़ की फ़सल जब कृषक घर में ले आता है तब यह उत्सव मनाया जाता है। इस दिन घर - घर में "बच्चे अपने अनगढ़ किन्तु उल्लास भरे हाथों से दीपक जलाते हैं," बहुएँ, युवक, वृद्ध सभी घर, आँगन, प्रकोष्ठ, तुलसी चौरा तथा छतों पर दीपक जलाते हैं।[3] फलतः "पल भर में दीपकों की कतारें घर आँगन छज्जों दीवारों और मुँडेरों पर, जग उठती हैं।[4]

---

१ शकुन्त माथुर : सांप्रतिकी, पृ० ४७, बिहार ग्रन्थ कुटीर, पटना-४, प्रथम संस्करण, १९५५।

२ शकुन्त माथुर : चाँदनी चूनर, पृ० ५७-५८, साहित्य भवन प्रा० लि०, इलाहाबाद - ३, प्रथम संस्करण १९६०।

३ ABBE, J.A. Dubois, Hindu Manners, Customs and Ceremonies, Part III, Ch. III, p. 571.

४ कीर्ति चौधरी : खुले हुए आसमान के नीचे, पृ० ८६, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, १९६८।

इस उत्सव से पूर्व घरों की सफाई होती है, मकानों की दीवालों को कलई (चूने) से पोता जाता है तथा भवन सजाया जाता है। दीपा-वली की रात्रि को चौकी पर गणेश, लक्ष्मी आदि की मूर्तियाँ रखकर खील-बताशे से उनकी पूजा होती है।[1]

मकर संक्रान्ति या माघ संक्रान्ति भी एक ऐसा ही धार्मिक उत्सव है। डुबॉयस महोदय के अनुसार यह सूर्य से संबंधित उत्सव है। इस दिन विवाहित स्त्रियाँ नहा - धोकर चूल्हे में बैठकर खीर पकाती हैं।[2] किन्तु उत्तर भारत में खीर के स्थान पर खिचड़ी बनती है तथा ब्राह्मणों के यहाँ खिचड़ी और उसके लिये आवश्यक अन्य मसाले आदि दान में दिये जाते हैं।

इसी प्रकार नाग पंचमी का उत्सव होता है। जिसका उल्लेख हम पीछे कर चुके हैं।

इन सार्वलौकिक उत्सवों के अतिरिक्त कुछ स्थानीय उत्सवों को भी इन कविताओं में स्थान मिला है। सावन के महीने में ब्रज प्रदेश में "हिंडोले" डाले जाते हैं। प्रत्येक मन्दिर में, घरों में राधा - कृष्ण की झूला - झूलती हुई बड़ी - बड़ी सुन्दर झाँकियाँ प्रस्तुत की जाती हैं—

"बन बन नाचते मोर हैं नाचे पंख पसार कर,
घर घर झूले गिरिधर राधा स्वर्ण हिंडोले डाल कर।"[3]

---

१ सुरेश रंजक : अपनापन नहीं टूटेगा, पृ० २३, अक्षर प्रकाशन प्रा० लि०, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७४ ।

२ ABBE. J.A. Dubois, Hindu Manners, Customs and Ceremonies, Part III, Ch. III, p. 572

३ उमाकान्त मालवीय : मेंहदी और महावर, पृ० ५७, साहित्य भवन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, १९६३ ।

इसी प्रकार "रामलीला" का उत्सव भी लगभग सम्पूर्ण उत्तर भारत में मनाया जाता है। अवध में भगवान राम की जन्म भूमि होने के कारण यह उत्सव विशेष समारोह के साथ होता है। इसमें कुछ किशोर या युवक - युवतियाँ मुकुट-कुण्डल आदि पहन कर, धनुष-बाण हाथ में लेकर भगवान राम की विभिन्न लीलाओं का अभिनय करते हैं जिन्हें देखने के लिये एक बहुत बड़ा समुदाय एकत्रित हो जाता है। इन्हें देखकर "पुलक पुरित भक्त के भोले हृदय को "लगता है — "छोड़कर निज धाम जैसे लखन सीता - राम फिर से आगये हों साक्षात भू पर।"[1] इस प्रकार स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कविता में लगभग सभी महत्वपूर्ण और बहु प्रचलित लोकोत्सवों का चित्रण और उल्लेख हुआ है।

इन लोकोत्सवों में अनेक धार्मिक त्यौहारों का भी रूप लिये हुए हैं। वास्तव में भारत वर्ष में धर्म लोक - जीवन में कुछ ऐसा समाया हुआ है कि लोक की किसी भी क्रिया को धर्म से पृथक् करके नहीं देखा जा सकता। होली, दीपावली आदि का रूप जहाँ उत्सव का है वहीं त्यौहार का भी है।

उत्सव और त्यौहार में केवल भावना का अन्तर है। त्यौहार में जहाँ अपनी सांस्कृतिक परम्परा और धर्म के प्रति आस्था का भाव निहित रहता है, वहीं उत्सवों में अपनी सम्पन्नता तथा प्रसन्नता का भाव होता है। भारतवर्ष अँग्रेजों के शासन काल से पूर्व तक एक सम्पन्न देश रहा है। यही कारण है कि यहाँ प्रत्येक त्यौहार, उत्सव के रूप में मनाया जाता है।

---

१ जगदीश गुप्त : शम्बूक, पृ० ५२-५३, भारती भंडार, प्रयाग, प्रथम संस्करण, सं० २०१६।

इसके अतिरिक्त उत्सव में सामाजिक साहचर्य का भी भाव रहता है। अपनी प्रसन्नता में व्यक्ति सबको भागीदार बनाना चाहता है। इसीलिये कोई भी त्योहार एक ही दिन सम्पूर्ण देश में मनाया जाता है तथा उसे उत्सव का रूप दिया जाता है। भवानी प्रसाद मिश्र ने सतपुड़ा के जंगलों में "होली" पर भील और गोंड नामक आदिवासी जातियों की गीत गाकर तथा ढोल बजाकर नाचने की बात कही है।[1] होली पर इस प्रकार की मण्डलियाँ लगभग सभी ग्राम और नगरों में गीत गाती हुई निकलती हैं। ब्रज प्रदेश की होली और रसिया इस अवसर पर गाये जाने वाले प्रसिद्ध लोक-गीत हैं। इस अवसर पर स्त्रियाँ "होलिका माई" की पूजा करती हैं, अनेक प्रकार के पकवान्न घरों में बनाती हैं।

दीपावली का त्योहार भी भारतीय लोक-जीवन में बहुत बड़ा त्योहार है। स्त्रियाँ सोल्लास लक्ष्मी-पूजन करती हैं। स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कवि भी जनता का लक्ष्मी-पूजन के लिये आह्वान करता है।[2] इस दिन दीवालों पर हल्दी से तथा विभिन्न रंगों से अनेक चित्र बनाए जाते हैं।[3] स्वातन्त्र्योत्तर कवि कामना करता है कि —

"है वैभव का धान्य
महालक्ष्मी घर - घर में उतरे
ऋद्धि-सिद्धि से भरें ग्राम
नगरों में भी - पुर निखरे।"[4]

---

1 भवानी प्रसाद मिश्र : दूसरा सप्तक, पृ० ११, प्रगति प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९५१।

2 माखन लाल चतुर्वेदी : बीजुरी काजल आँज रही, पृ० १६, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, १९६४।

3 रमेश रंजक : हरापन नहीं टूटेगा, पृ० २३, अक्षर प्रकाशन प्रा० लि०, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७४।

इस त्योहार पर घरों में " छतरियां " रखी जाती हैं जिन पर दीपक जलाए जाते हैं। ये छतरियां मिट्टी के बड़े - बड़े घरौंदे होते हैं जो अत्यन्त ही कलात्मक होते हैं। ट्रेन में से रात में दीखते हुए मकानों को कवि इसी छतरी की उपमा देता है।[१] यह वास्तव में इन छतरियों की सुन्दरता ही है जिसके कारण कवियों का इनकी ओर उपमा के लिये ध्यान आकृष्ट हुआ है। यह दीपावली का त्योहार कई दिन पूर्व से कई दिन पश्चात् तक चलता है। दीपावली से पहले दिन जिसे बोल - चाल में छोटी दीवाली भी कहा जाता है, नरक चतुर्दशी या रूप चौदस होती है। कहते हैं नरकासुर नामक राक्षस से जब पृथ्वी बहुत अधिक पीड़ित हुई तो उसकी प्रार्थना पर भगवान विष्णु ने इस नरकासुर नामक राक्षस का वध कर दिया था। जिसके फलस्वरूप जन-जीवन में ——

"" फैला फिर जीवन में लक्ष्मी का सुख अपार
जले विजय दीप मिटा चौदस का अन्धकार । ""[२]

दीपावली के दिन घर के प्रत्येक स्थान पर जलते हुए दीपक रखे जाते हैं। इन स्थानों में जल - पान के स्थान, या नगरी के निकट, नयी फसल के गोदाम में, तुलसी चौरे पर, मार्ग पर, चौराहे पर, तालों आदि पर दीपक रखना इस दिन कर्त्तव्य समझा जाता है।[३]

---

४ गिरिजा कुमार माथुर : धूप के धान, पृ० ३८, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, तृतीय संस्करण, १९५५ ।

१ गिरिजा कुमार माथुर : शिलापंख चमकीले, पृ० ३४, साहित्य भवन प्रा० लि० इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, १९६१ ।

२ गिरिजा कुमार माथुर : धूप के धान, पृ० १३०, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, तृतीय संस्करण, १९५५ ।

३ केदारनाथ सिंह : अभी बिल्कुल अभी, पृ० ५९, नव साहित्य प्रकाशन, प्रथम संस्करण, फरवरी, १९६० ।

दीपावली के ही समान महत्व का त्योहार दशहरा है। इसे "विजयादशमी" भी कहा जाता है। कहते हैं, भगवान राम ने इसी दिन रावण को मारा था। भारत में यह त्योहार है तो क्षत्रियों का, किन्तु सभी जातियां इसे बड़े उल्लास के साथ मनाती हैं। वास्तव में यह भारत का प्राचीन विजय पर्व है। डुबिवास महोदय के अनुसार इस दिन योद्धा तथा राजा लोग अपने अस्त्र शस्त्रों की पवित्र जल, अनाज, रोली आदि से पूजा करते हैं।[१] भारत की स्वतन्त्रता के उपरान्त पहले दशहरा को प्रभाकर माचवे ने इसी राष्ट्रीय विजय — "दासता से मुक्ति" के रूप में देखा है —

"यह विजया दशमी आई है नव हर्ष लिये जनता के हित,
अब मुक्त हुए ये ग्राम – नगर जो रणाकार घन से पीड़ित।
यह विजय हुई है किस कारण ; सेनाओं से तलवारों से,
ना ; विजय हुई है पीड़ित की संघर्ष भरी चीत्कारों से।"[२]

रक्षाबन्धन भी भारतीय लोक – जीवन का अत्यन्त पवित्र त्योहार है। इस दिन घरों में सिवईं तथा पायस अवश्य बनते हैं। बहनें भाइयों को राखी बांधती हैं। यह त्योहार श्रावण के महीने में पूर्णिमा के दिन मनाया जाता है। इस त्योहार में भाई – बहन का जो स्नेह छिपा है, उमाकान्त मालवीय की "बिजली की पैंजनियां" शीर्षक कविता में प्रकृति के माध्यम से अभिव्यक्त हुआ है।[३] श्रावण के महीने के अन्त में होने

---

१ ABBE, J.A. Dubois, Hindu Manners, Customs and Ceremonies, Part III, Ch. III, P. 569, Oxford University Press, London; Ed.4, 1959.

२ प्रभाकर माचवे : अनुदान, पृ० ७६–७७, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, १९५६ ।

३ उमाकान्त मालवीय : मेंहदी और महावर, पृ० ५७ साहित्य भवन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, १९६३ ।

वाले इस त्योहार को भी जगत प्रकाश चतुर्वेदी ने भी एक कविता में वर्षा के लौटने के साथ स्मरण किया है। [1] बहनें इस दिन दूर गये हुए भाइयों को याद करती हैं।

इस प्रकार स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कविता में भारतीय लोक-जीवन में प्रचलित लगभग सभी महत्वपूर्ण पर्व, व्रत, उत्सव और त्योहारों का चित्रण हुआ है। जिससे स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कवि की लोक-जीवन के प्रति अभिरुचि का पता लगता है।

६- संस्कार

भारतीय हिन्दुओं के जीवन में संस्कारों का विशेष महत्व है। जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त यहाँ १६ संस्कारों की अनिवार्यता स्वीकार की गई है। संस्कार शब्द का अर्थ है स्थिति में नवीनता या परिवर्तन। ये संस्कार व्यक्ति के जीवन में नवीनता लाते हैं। मनु ने जन्म से सभी को शूद्र कहा है। किन्तु संस्कारों के कारण व्यक्ति द्विज होता है, ऐसा भी माना है।

स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कविता में सभी संस्कारों का उल्लेख नहीं है और न ही उनकी पूरी विधियाँ ही उपलब्ध हैं। किन्तु प्रमुख-प्रमुख सभी संस्कारों का इनमें उल्लेख और चित्रण हुआ है।

भारतीय संस्कारों में बच्चे के जन्म के संस्कार को जातकर्म कहते हैं। प्राचीन भारत में इस अवसर पर बच्चे का पिता नालोच्छेदन से पूर्व स्नानादि

---

1 जगत प्रकाश चतुर्वेदी : ताजु की छाया में, पृ० ४३, सहकारी प्रकाशन, आगरा, प्रथम संस्करण सन् १९५९।

करके हवन करता था फिर घी तथा शहद बच्चे को चटाता था। वर्तमान जीवन में यह संस्कार नहीं किया जाता। कहीं - कहीं केवल प्राचीन पण्डितों के परिवारों में ही अब यह संस्कार देखने को मिलता है। प्रभाकर माचवे ने केवल एक स्थान पर " अपनी माँ की मृत्यु पर " जातकर्म के मन्त्रों की याद आने का उल्लेख किया है।[1]

जात कर्म के उपरान्त नामकरण, यज्ञोपवीत आदि अनेक संस्कार यहाँ होते हैं किन्तु विवाह संस्कार सर्वाधिक प्रचलित संस्कार है। स्वातन्त्र्योत्तर कविताओं में इस संस्कार का सांगोपांग चित्रण मिलता है। विवाह से पूर्व लड़का तथा लड़की का वाग्दान होता है। इसे बोलचाल की भाषा में टीका या सगाई भी कहते हैं। इस अवसर पर लड़की का पिता लड़के के पिता को वचन देता है कि वह उसके पुत्र को अपनी कन्यादान करेगा। वाग्दान के उपरान्त लड़की, जिसके साथ वाग्दान हो जाता है, उसके लिये वाग्दत्ता या मंगेतर हो जाती है। इस रिश्ते को भी नरेश मेहता ने नदी और समुद्र में देखा है। उनके अनुसार --

"नदी
वाग्दत्ता है सिन्धु की।
पहुँचना ही है--उसे
का"[2]

और इसके उपरान्त एक निश्चित तिथि पर लड़का दूल्हा बनकर तथा बारात सहित लड़की के दरवाजे पर आता है। जहाँ वह लड़की दुलहिन

---

१ प्रभाकर माचवे : अनुक्षण, पृ० १२, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, १९५९।

२ नरेश मेहता : मेरा समर्पित एकान्त, पृ० ९, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९६२।

बनी हुई उसे वरमाला पहनाती है ।[1] यह प्रथा शास्त्रीय नहीं है किन्तु लोक-प्रचलित है । इसके उपरान्त घर में ढोलकें बजती हैं, विवाह की प्रसन्नता में स्त्रियाँ गीत गाती हैं ।[2] रात को भाँवरें पड़ती हैं । अग्नि वेदी पर पुरोहित मन्त्र बोलता है तथा "सप्तपदी" के श्लोकों को लड़के-लड़की दुहराते हैं । "सप्तपदी" के द्वारा दूल्हा-दुलहिन दो समान धर्मा होते हैं — एक दूसरे से वचन लेते हैं ।[3] इसी प्रकार का भाँवरों के लिये विवाह-मण्डप का, वर को दिये जाने वाले अर्घ्य तथा मधुपर्क का भी उल्लेख[4] इन कविताओं में हुआ है । साथ ही अग्नि में हवन तथा अग्नि पूजा की भी चर्चा है । भाँवरों के उपरान्त "कोहबर" होता है । इसमें वर को स्त्रियाँ भाँवरों के पश्चात् घर में ले जाती हैं तथा अपने गृह के देवी-देवताओं की उससे पूजा कराई जाती है । उमाकान्त मालवीय के "कोहबर का दिया" शीर्षक गीत में इसका भी उल्लेख है ।[5] विवाह के अवसर पर बाजे-गाजे, तोरण, बन्दनवार, चौक, अल्पना, और बराती[6] के साथ-साथ, बारात तथा बारात के बाद जूठी पत्तलों के ढेर[7] तक का बड़ा सजीव चित्रण इन

---

१ दिनेश नन्दिनी : इति, पृ० १६, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७२ ।

२ अजित कुमार : अकेले कण्ठ की पुकार, पृ० १३, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९५८ ।

३ दिनेशनन्दिनी : इति, पृ० ५३-५४, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, प्रथम संस्करण १९७२ ।

४ गिरिजा कुमार माथुर : धूप के धान, पृ० १२२-१२३, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, द्वितीय संस्करण, १९६६ ।

५ उमाकान्त मालवीय : मेंहदी और महावर, पृ० ८९, साहित्यभवन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, १९६३ ।

६ भवानी प्रसाद मिश्र : गांधी पंचशती, पृ० १५३, सरला प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९६९ ।

७ अज्ञेय : इन्द्रधनु रौंदे हुए ये, पृ० ५६, सरस्वती प्रेस, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, १९५७ ।

कठिनाइयों में हुआ है। आदमी अमीर हो अथवा गरीब अपनी शक्ति भर वह सभी प्रथाओं तथा परम्पराओं का पालन करता है। अमीरों के यहाँ विवाह के समय जहाँ बहुत सजावट होती है, वहाँ गरीबों के यहाँ " कच्ची - पक्की दीवारों को लीप कर ही शादी हो जाती है। "[1] शादी के उपरान्त कुछ माह या कभी - कभी कुछ वर्ष बाद " गौना " की रस्म होती है। वर अपनी पत्नी को लेने के लिये अपनी ससुराल जाता है तथा अपनी पत्नी को अपने घर ले आता है। इस अवसर पर कन्या के हृदय में सुख - दुख के सम्मिलित भाव रहते हैं ——

"" कजरारी रागभरी गौने की भोर में
एक मचल आँसू सा अटका नभ कोर में
महावर तब रूप की कुमारिका है बाँटती
बिछुड़न के दर्द और मिलन के प्रमोद में। ""[2]

वास्तव में विवाह के उपरान्त कहीं तो वधू ससुराल जाती ही नहीं। अपितु कुछ दिन बाद जब गौना होता है, तब वह अपनी ससुराल में आती है। कहीं - कहीं, और प्राय: ही विवाह के उपरान्त ससुराल गयी हुई दुल्हन दसवें दिन पुन: अपने मैहर आजाती है। तथा फिर गौना होने तक वहीं रहती है। गौने के उपरान्त विवाह सम्बन्धी रस्में समाप्त हो जाती हैं।

विवाह संस्कार के उपरान्त व्यक्ति गृहस्थ हो जाता है। गृहस्थ के उपरान्त वानप्रस्थ आश्रम होता है। जिस प्रकार ब्रह्मचर्य आश्रम से

---

१ [illegible] : तारों के अन्धे शहर में, पृ० ८४, हेमन्त प्रकाशन, अम्बाला कैंट, प्रथम संस्करण, १९७०।

२ उमाकान्त मालवीय : मेंहदी और महावर, पृ० ७१, साहित्य भवन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, १९६३।

गृहस्थ में आने के लिये विवाह संस्कार होता है, उसी प्रकार वान प्रस्थ के लिये भी संस्कार की व्यवस्था प्राचीन भारत में थी । वान प्रस्थ के उपरान्त सन्यास के लिये भी संस्कार की व्यवस्था थी । यद्यपि संन्यास लेने की प्रथा भी अब समाप्त प्राय: है फिर भी कहीं - कहीं यह प्रथा अभी भी जीवित है । रूप नारायण त्रिपाठी ने एक गीत में मौसम द्वारा संन्यास लिये जाने की बात कही है ।[1] और किसी के संन्यास ले लेने पर जैसे उसके द्वारा संसार का त्याग हो जाता है तथा संसार के लोगों को संन्यस्त व्यक्ति के बिना सब कुछ सूना - सूना सा लगता है, उसी प्रकार अच्छे मौसम के बिना गाँव की गलियाँ ठगी - ठगी सी लगती हैं ।

भारतीय लोक - जीवन में व्यक्ति का सबसे अन्तिम संस्कार दाह संस्कार या अन्त्येष्टि होता है । व्यक्ति के मरणोपरान्त उसे बाँस की एक सजी हुई अर्थी पर लिटाया जाता है तथा बड़े समारोह पूर्वक श्मशान में ले जाकर उसकी दाह क्रिया की जाती है । इन कविताओं में अर्थी[2] तथा दाह क्रिया दोनों का ही उल्लेख है । दाह क्रिया में होने वाली कपाल क्रिया (इसमें मरने वाले का पुत्र बाँस से मृतक के सर के तलवे को फोड़ता है । का भी चित्रण हुआ है ।[3] यहाँ ध्यातव्य है कि हिन्दुओं में मृतक को पृथ्वी में गाड़ा नहीं जाता अपितु जलाया जाता है । कहीं - कहीं पुत्र की अनुपस्थिति में यह कार्य कोई निकटतम

---

१ रूपनारायण त्रिपाठी : नई धरती के नए स्वर, पृ० ३३, युवक प्रकाशन, आगरा, प्रथम संस्करण, १९६२ ।

२ शिवुरश्मि : नारों के जंगी शहर में, पृ० ६२, हेमन्त प्रकाशन, अम्बाला कैंट, प्रथम संस्करण, १९७० ।

३ शिवमंगल सिंह "सुमन" पृ० ३८, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७२ ।

(प्रबन्ध) व्यक्ति करता है। कपाल क्रिया कभी - कभी श्मशान पर रहने वाला अघोरी भी कर देता है। ये अघोरी मृतक के कफ़न आदि को लेते हैं तथा श्मशान में ही रहते हैं और मृतक के पारिवारिक जनों की दाह क्रिया में सहायता भी करते हैं।

इस प्रकार स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कविता में जातकर्म, विवाह, अन्त्येष्टि आदि सभी प्रमुख संस्कारों का उल्लेख हुआ है। जिनमें विवाह संस्कार का चित्रण इस कविता में बहुत विशद् रूप से मिलता है। वास्तव में अन्य संस्कारों का प्रचलन अब कम ही हो गया है। विवाह और अन्त्येष्टि आज अनिवार्य संस्कार हो गये हैं। अतः वर्तमान लोक जीवन में सम्पूर्ण संस्कार - परम्परा उन्हीं में आकर सिमट गई है। उनमें, मृत्यु और अन्त्येष्टि का चित्रण करने में कवियों की मानसिकता प्रायः समर्थन नहीं देती। पहले तो काव्यशास्त्रीय आचार्यों ने काव्य में इसका वर्णन ही वर्जित कर दिया था। अतः कवियों की दृष्टि विवाह संस्कार पर ही टिक गई। वैसे भी विवाह व्यक्ति के सम्पूर्ण व्यक्तित्व और जीवन को एक प्रत्यक्ष नयापन प्रदान करता है। उसका एक नए प्राणी से जीवन भर का साथ होता है। यहीं से व्यक्ति गृहस्थ बनता है। अतः विवाह पर इन कवियों का अधिक ध्यान गया तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। भारत में विवाह प्रायः माता-पिता की इच्छा से होते हैं। लड़के - लड़की विवाह से पूर्व एक दूसरे से प्रायः अपरिचित होते हैं। ऐसी स्थिति में विवाहोपरान्त उनका जीवन कैसा रहता है यह भी एक विचारणीय बात है। वर्तमान समय में जब कि कानूनन तलाक की व्यवस्था हो चुकी है तथा पारिवारिक जीवन में विघटन आ रहा है तब विवाह संस्कार की ओर कवियों का ध्यान जाना स्वाभाविक ही लगता है।

७- धार्मिक स्थल

लोक की धार्मिक आस्था की ही अभिव्यक्ति उसके धार्मिक स्थलों (तीर्थों) में होती है। इन तीर्थों को जन - सामान्य बड़ी श्रद्धा के साथ देखता है तथा इन तीर्थों पर पहुँच कर देवोपासना करके वह अपने को धन्य समझता है। स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कविता में ऐसे अनेक तीर्थ स्थानों का उल्लेख भी मिलता है। हिन्दू तीर्थ प्राय: किसी देवता विशेष से सम्बन्धित होते हैं तथा प्राय: किसी नदी के किनारे होते हैं, विशेष कर गंगा के किनारे। इस कविता में मुसलमानों के तीर्थों " मक्का - मदीना " की भी चर्चा हुई है। वर्तमान धर्म निरपेक्षता की नीति से, जो स्वतन्त्रता के उपरान्त भारत सरकार ने अपनाई है, के कारण धर्मों के वैमनस्य बहुत कुछ कम हुए हैं। वर्तमान कवि एक साथ मक्का - मदीना और काशी तथा वोल्गा का स्मरण करता है ——

" मक्का - मदीना से कम पवित्र नहीं
मैं काशी में उन कामों का संलाप सुनता हूँ
जो वोल्गा से आये। " [१]

और इस प्रकार वह धार्मिक कट्टरता का विरोध करते हुए बताता है कि मुसलमान और हिन्दू सभी समान रूप से " कम्युनिज्म " विचारधारा को, जिसमें धर्म का कोई स्थान नहीं, स्वीकार करते हैं।

---

१ शमशेर बहादुर सिंह : कुछ और कविताएँ, पृ० ७०, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण १९६१।

"हिन्दुओं के तीर्थों" को उस कविता में विशेष स्थान मिला है। क्योंकि इसका कारण भारत की हिन्दू जन संख्या, तथा अधिकांश कवियों का हिन्दू होना ही है। दूसरी बात यह भी संभव है कि भारतीय लोक जीवन में सबसे प्राचीन परम्पराएँ तथा संस्कृति हिन्दुओं की ही है। अतः उसका प्रभाव विशेष हुआ है।

गंगा जिसके लिये भागीरथ ने कठोर तप साधना की और जो लाखों-करोड़ों को पुण्य लाभ देने के लिये भू पर आई है के[1] साथ - साथ गंगोत्री, जहाँ से गंगा निकलती है तथा यमनोत्री जहाँ से यमुना निकलती है, हिन्दुओं के सर्व प्रमुख तीर्थ हैं। हिन्दुओं में प्रत्येक सम्प्रदाय को मानने वाला व्यक्ति गंगा तथा गंगोत्री - यमनोत्री को अपना प्रिय तीर्थ मानता है। "विश्व नयन क्या शुचि आस्तिक है" शीर्षक गीत में उमाकान्त मालवीय ने नायिका के नेत्रों की उपमा गंगोत्री तथा यमनोत्री से दी है।[2] वास्तव में यह इन तीर्थों की पवित्रता ही है जो कवि को इस उपमा के लिये आकर्षित करती है। स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कविता में जिन तीर्थों का उल्लेख मिलता है, उनमें गंगा, गंगोत्री, यमनोत्री, यमुना, काशी, चित्रकूट, उज्जयनी आदि प्रमुख हैं। नरेश मेहता की "समय - देवता" शीर्षक कविता में जहाँ उज्जयनी का उल्लेख हुआ है,[3] वहीं प्रभाकर माचवे की "अपनी माता की मृत्यु पर" शीर्षक कविता में अपनी माँ की अनेक तीर्थ यात्राओं का वर्णन हुआ है। इन तीर्थों में काशी,

---

१ दिनकर : परशुराम की प्रतीक्षा, पृ० ७१, उदयाचल, राजेन्द्र नगर, पटना - ४, तृतीय संस्करण, १९६६।

२ उमाकान्त मालवीय : मेंहदी और महावर, पृ० ५४, साहित्य भवन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, १९६३।

३ नरेश मेहता : मेरा समर्पित एकान्त, पृ० ५४, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९६२।

चित्रकूट, पंढरपुर, [illegible], मथुरा आदि का उल्लेख है।[1] इनमें काशी उत्तर भारत में प्रयाग से आगे गंगा पर बसा हुआ नगर है। यहाँ भगवान विश्वनाथ (शंकर का एक विशेष नाम तथा एकादश रुद्र में से एक) तथा भैरव के मन्दिर हैं। यह नगर अपने संस्कृत ज्ञान तथा धर्म आदि विभिन्न विद्याओं के ज्ञान के लिये सदा सम्पूर्ण विश्व में प्रसिद्ध रहा है। चित्रकूट, इलाहाबाद - बाँदा मार्ग में एक पहाड़ी है जो विन्ध्याचल की शाखा है। कहते हैं यहाँ भगवान राम ने अपनी वन यात्रा में विश्राम किया था तथा भरत से यहीं उनका मिलन हुआ था और भरत ने उनसे राज्य ग्रहण करने की प्रार्थना की थी। मथुरा, यमुना-किनारे दिल्ली और आगरा के बीच बसा हुआ नगर है। यह भगवान कृष्ण की लीलाभूमि है। इसे प्राचीन समय में मधुपुरी कहा जाता था। इसका शासक कंस नामक दैत्य था। भगवान कृष्ण ने इसका वध किया था तथा अनेक वर्ष मथुरा में रहे थे। हिन्दु जन इसे तीनों लोकों से पृथक भगवान कृष्ण की शाश्वत लीला भूमि मानते हैं। उज्जैन, भोपाल के निकट मध्य प्रदेश में मालवा - क्षेत्र - स्थित एक तीर्थ है जहाँ भगवान महाकालेश्वर (ग्यारह रुद्र में से एक) निवास करते हैं। कहते हैं अभी भी यहाँ प्रतिमास एक चिता की भस्म उनकी मूर्ति पर चढ़ाई जाती है। हिन्दुओं का यह भी एक प्रसिद्ध तीर्थ है।

काशी से उत्तर - पश्चिम में प्रयागराज है। गंगा - यमुना के संगम पर बसा हुआ यह तीर्थ इलाहाबाद के भी नाम से जाना जाता है। महर्षि भरद्वाज का आश्रम यहीं है। जनश्रुति है कि भगवान राम ने अपनी

---

१ प्रभाकर माचवे : अनुक्षण, पृ० ६२, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, १९५६।

जन - यात्रा में पहला पड़ाव यहीं किया था । शमशेर की " भुवनेश्वर " शीर्षक कविता में काशी के दशाश्वमेध घाट के साथ-साथ तीर्थ राज प्रयाग तथा पवित्र गोमती नदी का भी वर्णन आया है ।[1] भुवनेश्वर, जिस पर यह कविता लिखी गई है, उड़ीसा प्रान्त का एक प्राचीन नगर है । यहाँ का सूर्य का कोणार्क मन्दिर अत्यन्त प्रसिद्ध है । यह भारत के विशालतम मन्दिरों में से एक है ।

इसके अतिरिक्त इन कविताओं में प्रत्येक नगर में मिलने वाले स्थानीय मन्दिरों का भी उल्लेख है । प्राय: गाँवों और नगरों में चौराहों पर भैरों की गेरुई मूर्ति देखा जा सकता है ।[2] प्रत्येक नगर में तथा प्रत्येक गाँव में शिवालय[3] या अन्य मन्दिर[4] होते हैं । इनमें स्थानीय जन प्रतिदिन पूजार्थ जाते हैं ।

इस प्रकार स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कविता में लगभग सभी भारत विख्यात हिन्दू तीर्थों " का वर्णन और चित्रण हुआ है । इस कविता में साथ ही मुस्लिम तीर्थों " की उपेक्षा भी नहीं की गई है ।

निष्कर्ष

वर्तमान कवियों ने लोक के धार्मिक सांस्कृतिक जीवन को जिस रूप में चित्रित किया है, वह प्राय: वस्तु-वादी नहीं है । वास्तव में वर्तमान कवि ने भारतीय धर्म तथा संस्कृति की आत्मा को पहचाना है अत: वह उसका केवल

---

१ शमशेर बहादुर सिंह : कुछ और कविताएँ, पृ० ८०, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९६१ ।

२ मुक्तिबोध : चाँद का मुँह टेढ़ा है, पृ० ३२, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, १९७१ ।

३ भवानी प्रसाद मिश्र : बनी हुई रस्सी, पृ० ७०, सरला प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७१ ।

यथार्थवादी चित्रण न करके उसके पीछे छिपा उस भावना को उभारता है। साथ ही धर्मनिरपेक्षता की स्वातन्त्र्योत्तर नीति के कारण भी वह धर्म के प्रति उदार दृष्टिकोण रखता है। वैसे भी लोक - जीवन में लोक का अपना कोई धर्म नहीं होता। लोक की धर्म-दृष्टि इतनी उदार होती है कि उसमें इस्लाम, हिन्दू, ईसाई या सिख सभी धर्मों की झलक देखी जा सकती है। वर्तमान कवि ने लोक - जीवन के इस पक्ष को विशेष रूप से अपने उदार दृष्टिकोण के साथ अभिव्यक्ति दी है। साथ ही जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं वर्तमान कवि ने धर्म और संस्कृति के मर्म में छिपी उस भावना को छूने की चेष्टा की है जिसके कारण लोक में अभी तक धर्म की सत्ता विद्यमान है। यह बात उसकी इस प्रवृत्ति से प्रमाणित हो जाती है कि उन्होंने अधिकांश उपमान लोक के धार्मिक जीवन से ही प्रस्तुत किये हैं किन्तु उनके इन उपमानों में कहीं भी धार्मिक भावना तनिक भी बोझिल नहीं होने पाई है।

भारतीय लोक - जीवन में गृहणियों की धर्म में बहुत गहरी आस्था है। हम यदि कहें कि भारत में धर्म और संस्कृति की गाड़ी यहाँ नारियों के बल पर ही चलती रही है और चल रही है तो कोई अत्युक्ति न होगी। वह अपने प्रत्येक कार्य को एक धार्मिक आस्था के साथ करती हैं। उनका पति के प्रति प्रेम भी धर्म की नाव पर ही चलता है ——

यह डूबी - डूबी साँझ उदासी का आलम
मैं बहुत अनमनी, चले नहीं जाना बालम
ड्योढ़ी पर पहले दीप जलाने दो मुझको
तुलसी जी की आरती सजाने दो मुझको [2]

---

१ ज्ञानकुमार बन्द्योपाध्याय: कुछ चिड़ियों के लिये प्रार्थना, पृ० ६७, पाण्डुलिपि प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७३।
२ सर्वेश्वर दयाल सक्सेना : काठ की घण्टियाँ, पृ० २०१, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, १९५९।

प्रस्तुत कविता में कवि ने पति के प्रति प्रेम और उसे रोकने के आग्रह के साथ ही साथ भारतीय नारी की धार्मिक आस्था को भी यहाँ एक दम उतार कर रख दिया है। यही कारण है कि इस कविता को हमें लोक-जीवन के अत्यन्त निकट मानना पड़ता है। इससे पूर्व की कविता में भी धर्म और संस्कृति को स्थान मिला है किन्तु उसमें इनका वस्तुगामी वर्णन मात्र है। उनकी भावना को पहली बार स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कविता में पकड़ा गया है।

स्वतन्त्रता के उपरान्त जहाँ भारत की धार्मिक — सांस्कृतिक चेतना में स्फूर्ति आई है, वहीं अर्थाभाव या देश की आर्थिक विषमताओं के कारण धर्म के प्रति आस्था में परिवर्तन भी हुआ है। आज गरीबों को ईश्वर की इसलिये आवश्यकता है कि वे अपनी खीझ उस पर व्यक्त कर सकें तथा अमीरों को ईश्वर की इसलिये आवश्यकता है कि वे उसके सामने अपनी सुख-सुविधा के लिये कृतज्ञता-ज्ञापन करना चाहते हैं।[1] और यहीं निम्न वर्ग में से धर्म के प्रति आस्था में टूटन आने लगी है। यद्यपि धार्मिक तथा सांस्कृतिक परम्पराओं को वह अभी भी बहुत कुछ निभा रहा है किन्तु उसमें वह उल्लास या श्रद्धाभाव नहीं है, जो एक अमीर के हृदय में होता है। यह भविष्य ही बतायेगा कि ऐसी स्थिति लोक-जीवन में धर्म को लेकर कब तक बनी रहेगी। स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कवि इसके प्रति भी जागरूक है अपनी कविता में वह इस स्थिति को भी चित्रित करता चल रहा है। वास्तव में वर्तमान कवि की दृष्टि बहुत पैनी तथा सूक्ष्म है उसमें केवल भावना ही नहीं वैचारिक शक्ति भी है। यही कारण है कि वह धर्म के प्राणों पर आये संकट को भी देख सका है।

---

१ कृष्णन : बहती प्रतिमाओं की आवाज, पृ० ११०, राजपाल एण्ड सन्स दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९५८ ।

पंचम अध्याय

आर्थिक जीवन

१- आर्थिक स्थिति
२- व्यवसाय
३- बेरोजगारी
४- अवैध व्यापार
५- ऋण की व्यवस्था
६- धन - संचय के साधन
७- विनिमय - व्यवस्था
८- व्यय
९- निष्कर्ष

पंचम अध्याय

आर्थिक जीवन

वर्तमान लोक-जीवन में धर्म के प्रति घटती हुई आस्था, आर्थिक असमानता का परिणाम है। "आज सारे मन्दिरों, मठों और आश्रमों पर और उनके भीतर सारे देवताओं पर सोने चांदी के ताले पड़ चुके हैं।"[1] इनमें कैद भगवान का दम घुट सा रहा है तथा उसका मुक्त आर्तनाद नहीं, अजब नाद, "असंख्य पीड़ित मानवों की नाड़ियों में चीत्कार" ही कर रहा है।[2] वास्तविकता यह है कि आज़ादी के उपरान्त भारतीय लोक-जीवन में जिस सुख-समृद्धि के आने की आशा थी वह नहीं आई अपितु उसके स्थान पर कमर तोड़ मंहगाई और भारी अर्थाभाव का सामना लोक-जीवन को करना पड़ा।[3] सरकार की ओर से जो व्यवस्थाएँ की गईं उनका लाभ कुछ विशिष्ट व्यक्तियों को ही मिला। साथ ही पूंजीपति वर्ग ने जनता का शोषण और तीव्रता के साथ करना प्रारम्भ कर दिया। जिससे भारत में आर्थिक असमानता बढ़ती गई। जहाँ एक छोटा सा वर्ग सुख समृद्धि का जीवन जीने लगा, वहीं एक बहुत बड़ा वर्ग कठिनाई से अपने लिये दो समय का भोजन जुटा पाने में भी असमर्थ रहा। इसके दो परिणाम हुए —— एक तो लोक-जीवन में

---

1 वीरेन्द्र कुमार जैन : शून्य पुरुष और बिम्ब, पृ० १०३, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, अक्टूबर १९७२।

2 —वही— पृ० १२४।

3 भवानी प्रसाद मिश्र : बनी हुई रस्सी, पृ० १२६, सरला प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७१।

निराशा बढ़ने लगी,[1] दूसरे, लोगों की आस्थाएँ छिनने लगीं । भारतीय समाज के विघटन में यह आर्थिक असमानता आज भी अपना योग दे रही है । और लोक - जीवन में सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक विघटन के साथ - साथ चारित्रिक विघटन भी होने लगा है ।

१- आर्थिक स्थिति

स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कवि का इस दिशा में अब तेजी से ध्यान आकृष्ट हुआ है । कुछ कवियों ने इस संकट को पहले ही अनुभव कर लिया था । किन्तु जन - सामान्य तब आशाओं की दुनिया में डूबा था । चीन के आक्रमण और पं० जवाहर लाल नेहरू की मृत्यु के उपरान्त तो उसका मोह भंग हुआ । कवियों ने आर्थिक असमानता पर तीखे प्रहार करने प्रारम्भ कर दिये । क्योंकि अब जनता भी अपने दुखों का कारण जान गई थी। राष्ट्र के गीत गाने वाले कवियों ने जन - सामान्य के इस दुख को देखा और निःसंकोच स्वराज्य के सम्मुख एक प्रश्न चिन्ह लगा दिया ।[2] वह देखता है —

"आज पग-पग पे ऐसी कठिनाई
घर से खलिहान तक है अन्न नहीं
कारखानों से लेके खेती तक
है न कपड़ा कहीं पहनने को
कुछ घी का यहाँ पे क्या कहना
अब न चीनी, न गुड़, न दाल, नमक
हो गया स्वप्न किरासिन का तेल[3]

---

१ भवानी प्रसाद मिश्र : बुनी हुई रस्सी, पृ० २१, सरला प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७१ ।
२ दिनकर : परशुराम की प्रतीक्षा, पृ० ७७, उदयाचल, राजेन्द्रनगर, पटना-४, द्वितीय संस्करण, १९६६ ।
३ गिरिजा कुमार माथुर : धूप के धान, पृ० २७, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, द्वितीय संस्करण, १९६६ ।

माँगने के लिये विवश हो जाएँ तो स्वाभाविक ही है।[1] यहीं आकर "कविता की मौत" हो जाती है। और यहीं से कवि की लेखनी आग उगलना आरम्भ कर देती है —

"उसका भारी पर्स
जेब से निकाल कर
उसके कोमल हाथ गालों पर दे मारे,
सिर के पिछले ठंडे बाल पकड़ कर
आहिस्ता से मधुर इतना समझाएँ
कि हम भी भूखे थे,
फर्क इतना ही था
कि छल और फरेब की,
झूठे दिखाव दिखाव की
हमें इजाजत नहीं पाती थी,
इसीलिये तुम से अपनी जेब कटवाली थी।"[2]

स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कविता पर प्रायः उच्छृंखलता और गाली-गलौज तथा अश्लीलता का आरोप लगाया जाता है। किन्तु आरोप लगाने वाले ये नहीं देखते कि आज कविता में जितनी उच्छृंखलता, गाली - गलौज और अश्लीलता है, उतनी ही, और उससे भी कहीं अधिक लोक-मानस में भी व्याप्त है। आजकी कविता में निराशा, टूटन, घुटन, उच्छृंखलता, गाली - गलौज कहीं आसमान से नहीं टपक पड़ा है, अपितु ये

---

१ प्रणवकुमार वन्द्योपाध्याय : मृत रिश्तों के लिए प्रार्थना, पृ० ५५, पाण्डुलिपि प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७३।

२ सर्वेश्वर दयाल सक्सेना : काठ की घंटियाँ, पृ० ३८५, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, १९५९।

आज नौकरी करने वाले व्यक्ति को " वेतन की पूर्णिमा " " पसमी के चाँद से अधिक नहीं लगती "।[1] अनेक व्यक्ति खानाबदोश जीवन व्यतीत कर रहे हैं। दिन भर श्रम करने के उपरान्त वे फुटपाथों पर सो रहते हैं। संपत्ति के नाम पर उनके पास बीड़ी - मांचिस और एक फटी मिर्जई ही रहती है।[2] औद्योगीकरण ने गाँवों के छोटे - छोटे उद्योगों को समाप्त कर दिया है और अनेक लोग बेकार हो गए हैं। वे ऐसी दुखद बेघरबार जिन्दगी जीने के लिये विवश हो गए। किन्तु यह वर्णन अत्युक्तिपूर्ण ही अधिक है। सम्पूर्ण लोक की स्थिति अभी ऐसी नहीं है। यह स्थिति एक वर्ग की स्थिति है जो अपने घर और गाँव छोड़ कर नगरों में आगया है।

किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि मध्यवर्गीय जीवन की स्थिति पूर्णतः सुखद है। यह उस निम्न या सर्वहारा से बेहतर अवश्य है लेकिन सुखी नहीं है। सर्वहारा या निम्न वर्ग जहाँ अपने अभावों में अपनी अनेक परम्परागत जिम्मेदारियों को छोड़ चुका है वहाँ इस वर्ग के ऊपर अभी भी अनेक जिम्मेदारियाँ हैं। वास्तव में यही वर्ग भारत की प्राचीन परम्पराओं को अभी तक किसी तरह जीवित रखे हुए है। वर्तमान अभावों ने इस वर्ग के जीवन को ही अधिक छुआ है, क्योंकि यह स्वयं इसी वर्ग से उठ कर आया है। इस वर्ग के परिवारों में जीवन की समस्या सबसे बड़ी समस्या है। मध्यवर्गीय परिवार का व्यक्ति मात्र " एक बदसूरत मन्द चेहरा ही नहीं " " अपितु " एक डरा हुआ बिन्दु " भी है। उसे सभी परम्पराओं और

---

१ रमेश रंजक : हरापन नहीं टूटेगा, पृ० ३४, अक्षर प्रकाशन प्रा० लि० दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७४।

२ शिवकुमार सिंह " सुमन " पृ० ४५, राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७२।

माँगने के लिये विवश हो जाएँ तो स्वाभाविक ही है।[1] यहीं आकर " कविता की मौत " हो जाती है। और यहीं से कवि की लेखनी आग उगलना आरम्भ कर देती है ––

" उसका भारी पर्स
जेब से निकाल कर
उसके कोमल गोल गालों पर दे मारो,
सिर के पिछले छोटे बाल पकड़ कर
आखिरता है पकड़ इतना समझाएं
कि हम भी रईस थे,
फर्क इतना ही था
कि झूठ और फरेब की,
झूठे हिसाब किताब की
हमें इल्म नहीं आती थी,
इसीलिये तुम से अपनी जेब कटवाती थी। "[2]

स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कविता पर प्राय: उच्छृंखलता और गाली-गलौज तथा अश्लीलता का आरोप लगाया जाता है। किन्तु आरोप लगाने वाले ये नहीं देखते कि आज कविता में जितनी उच्छृंखलता, गाली - गलौज और अश्लीलता है, उतनी ही, और उससे भी कहीं अधिक लोक-मानस में भी व्याप्त है। आजकी कविता में निराशा, टूटन, घुटन, उच्छृंखलता, गाली - गलौज कहीं आसमान से नहीं टपक पड़ी है, अपितु ये

---

१ प्रणवकुमार वन्द्योपाध्याय : कुछ रिश्तों के लिए प्रार्थना, पृ० ५५, पाण्डुलिपि प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७३ ।

२ सर्वेश्वर दयाल सक्सेना : काठ की घण्टियाँ, पृ० ३८५, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, १९५९ ।

हमारे लोक - जीवन का ही प्रतिबिम्ब है। आलोचकों को कविता पर कोई भी आदर्श का लबादा लादने से पहले यह जान लेना होगा कि कविता का संबंध लोक - जीवन से है। वह अपने लिये खाद - पानी वहीं से प्राप्त करती है।

अभी भारतीय लोक - जीवन की जो स्थिति ऊपर चित्रित की गई वह इसलिये नहीं है कि देश में धन, सम्पत्ति या अन्य साधनों की कमी हो गई है अपितु इसलिये है कि उनका लाभ कुछ ही व्यक्तियों को मिल रहा है और जिन्हें मिलना चाहिये वे इससे अनभिज्ञ हैं। वे अपनी गरीबी को ईश्वर की देन मान लेते हैं और अपने श्रम की शक्ति को नहीं पहचानते। आज का कवि इस बात को भी स्पष्ट कर देता है।[1] वह इस बात पर आश्चर्य करता है कि देश में करोड़ों चूल्हे जल रहे हैं फिर भी इन्सान भूखा है, हर व्यक्ति के भीतर एक सी आग जल रही है किन्तु फिर भी आदमी भूखा है।[2] वह भोजन के लिये प्रयास नहीं करता। कुछ बड़े लोगों पर "शोषण का भूत" सवार है।[3] वे निरन्तर देश की जनता का जैसे भी बनता है शोषण कर रहे हैं। यह शोषण कहीं व्यवसाय में, कहीं दफ्तरों में "बाबुओं" द्वारा, सभी स्थानों पर देखा जा सकता है। देश के विकास में यह शोषण सबसे बड़ी बाधा है। यही आज का कवि मान चुका है।[4]

---

१ गिरिजा कुमार माथुर : धूप के धान, पृ० ९२, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, तृतीय संस्करण, १९६६।

२ -वही- पृ० ५३।

३ पं० [illegible] देव चतुर्वेदी : ताज की छाया में, पृ० १७८, सहकारी प्रकाशन, आगरा, प्रथम संस्करण, मई १९५८।

४ अनिल कुमार : ५५ की श्रेष्ठ कविताएँ, पृ० १५-१६, नव साहित्य प्रकाशन, नई दिल्ली - १, प्रथम संस्करण, १९५६।

२— व्यवसाय

देश का दासत्व समाप्त हो गया किन्तु शोषण का बन्धन अभी शेष है।[1] भारत वर्ष का श्रमिक बहुत कम मूल्य पर अपने श्रम को बेचता है। बहुत अधिक श्रम करने पर उसे थोड़ा सा मूल्य प्राप्त होता है। और इस प्रकार जीवन के लिये उसका संघर्ष बढ़ गया है ——

"जो लोग बैठे रहते हैं
या घूमते हैं अपनी ही कवियों में
वे नहीं जानते कि आदमी को तो
बहुत खटना होता है
जहाँ आकाश तक चढ़ना पड़ता है
वहाँ पाताल तक घटना होता है।"[2]

गाँव का हाथ का कारीगर अपने श्रम को केवल दो आने में कहीं बेच जाता है[3] और नगर का व्यवसायी उससे चौगुने कमाता है। इधर कुछ वर्षों से सरकार का ध्यान श्रमिक वर्ग की ओर तथा किसानों की गिरती हुई स्थिति की ओर आकर्षित हुआ है। इस दिशा में उनकी दशा सुधारने के अनेक प्रयास भी हुए हैं किन्तु अभी तक उनकी दशा में कोई

---

१ महावीर सिंह "रंग" : ५५ की श्रेष्ठ कविताएँ, पृ० ४७-४८, नव साहित्य प्रकाशन, नई दिल्ली - १, प्रथम संस्करण, १९५६।

२ भवानी प्रसाद मिश्र : बुनी हुई रस्सी, पृ० ७४, सरला प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७१।

३ सर्वेश्वर दयाल सक्सेना : काठ की घण्टियाँ, पृ० ४०२, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, १९५९।

विशेष अन्तर नहीं आया है। लेकिन इन प्रयासों का इतना लाभ अवश्य हुआ है कि सम्पूर्ण देश में श्रम का महत्व बढ़ गया है। श्रमिक और किसान की राष्ट्र निर्माण में सहायता को समझा जाने लगा है। अस्तु इस कविता में सर्वाधिक इसी वर्ग का चित्रण हुआ है। सभी व्यवसाय इसी श्रमिक वर्ग के चित्रित किये गए हैं और उन व्यवसायों में लगने वाला श्रम तथा उससे होने वाली आय का भारी अन्तर भी इस कविता में अभिव्यक्त हुआ है। इस कविता में जिन व्यवसायों का उल्लेख हुआ है, उनमें - रस्सी बुनने के,[1] भुटिया बेचने के,[2] जूते बनाने के,[3] बिसाती की दुकान लगाने के,[4] गांवों में घूम-घूम कर फेरी लगाने के,[5] व्यवसाय प्रमुख हैं। गांवों में तथा गलियों में बिसाती, सलमे - सितारे वाले मनिहार, घूम - घूम कर अपना व्यवसाय करते तथा धन कमाते हैं। लोक - भाषा में इन्हें फेरी वाला कहा जाता है। गांवों में अहेरी लोगों का व्यवसाय जंगलों में घूम - घूम कर चिड़िया पकड़ना तथा उन्हें बेचना होता है।[6]

<u>वंशानुगत व्यवसाय</u> : कुछ लोग वंशानुक्रम से अपने व्यवसाय करते हैं, जैसे - कपड़े धोने का,[7] पशु हाँकने का,[8]

---

१ डा० रामविलास शर्मा : [illegible], पृ० १४७, सहकारी प्रकाशन, आगरा, प्रथम संस्करण, मई १९५६।

२ [illegible] बन्द्योपाध्याय : इन शिशुओं के लिए प्रार्थना, पृ० २४, पाण्डुलिपि प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७३।

३ धूमिल : संसद से सड़क तक, पृ० ४९, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७२।

४ विनोद नन्दिनी : छवि, पृ० ६६, राजपाल एण्ड सन्ज, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७२।

५ वीरेन्द्र कुमार जैन : सांप्रतिकी, पृ० ७९, बिहार ग्रन्थ कुटीर, पटना - ४, प्रथम संस्करण, १९६४।

सँपेरों का खेल दिखा कर धन कमाने का व्यवसाय आदि । साँपों के खेल का व्यवसाय करने वाले सपेरे कहलाते हैं ।[१] भारतवर्ष में कहीं भी बीन बजाकर अपना खेल दिखाते हुए इन्हें देखा जा सकता है । धीवर तथा मछुआ नामक जाति नदियों में से मछली पकड़ने का व्यवसाय करती है ।[२] कुम्हार जाति के लोग वंशानुक्रम से मिट्टी के खिलौने बनाने का कार्य करके अपनी आजीविका चलाते हैं ।[३] इनके अतिरिक्त नाव चलाने का कार्य "मल्लाह" नामक जाति के लोग,[४] पानी भरके छिड़काव आदि करने का कार्य, "भिश्ती" जाति के लोग[५] करते हैं तथा लोहा कूटने का कार्य एवं लोहे के विभिन्न जीवनोपयोगी सामान बनाने का कार्य लुहार नामक जाति के लोग करते हैं ।[६] इस प्रकार भारतीय लोक – जीवन में प्रचलित वंशानुक्रम या जातिगत व्यवसायों की व्यवस्था का भी वर्तमान हिन्दी कविता में चित्रण हुआ है ।

---

६ अज्ञेय : बावरा अहेरी, पृ० ८, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, द्वितीय संस्करण, फरवरी १९७२ ।

७ कमल : बहती प्रतिमाओं की आवाज, पृ० १३०, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९६८ ।

८ शिव मंगल सिंह "सुमन" : पृ० ५७, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९५२ ।

१ धर्मवीर भारती : कविताएँ १९६५, पृ० ११, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९६६ ।

२ कीर्ति चौधरी : तीसरा सप्तक, पृ० ३४, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, तृतीय संस्करण, १९६७ ।

३ अज्ञेय : अरी ओ करुणा प्रभामय, पृ० ४६, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, १९५९ ।

४ प्रभाकर माचवे : अनुक्षण, पृ० ११४, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, १९५९ ।

५ माखन लाल चतुर्वेदी : बीजुरी काजल आँज रही, पृ० २८, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, १९६४ ।

६ मुक्तिबोध : चाँद का मुँह टेढ़ा है, पृ० ८०, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, १९७१ ।

मजदूरी : गाँवों में तथा नगरों में एक बहुत बड़ा वर्ग ऐसा है जो मजदूरी करके अपनी आजीविका चलाता है। ये लोग मुँह अँधेरे ही काम की तलाश में घर से निकल पड़ते हैं। और जो व्यक्ति उन्हें १० - २० रुपये देता है, उस दिन वही व्यक्ति उनका मालिक होता है। वह उनसे कोई भी कार्य ले सकता है।[१] ये लोग कहीं कुदाली चलाकर पृथ्वी खोदते हैं,[२] कहीं लुहार के यहाँ धौंकनी फूकते हैं, कहीं फर्श कूटते हैं, कहीं बोझा लपेटते हैं, कहीं खटिया बुनते हैं, रिक्शा चलाते हैं आदि।[३]

इनके अतिरिक्त अनेक व्यवसाय जिनमें व्यक्ति प्रतिदिन कुछ कमाता है और अपना काम चलाता है तथा जो श्रम पर आधारित है, का भी उल्लेख इस कविता में हुआ है। कुली जो स्टेशन पर सामान ढोता है,[४] कोचवान जो दिन भर ताँगा चलाता है,[५] कान मैलिया जो घूम - घूम कर लोगों के कान का मैल निकाल कर दिन भर में दो - चार आना कमा पाता है[६], तथा प्रतिदिन चरखा चला कर सूत कातकर बेचने वाला[७] आदि के व्यवसाय इसी प्रकार के व्यवसाय हैं। इसी

---

१ भवानी प्रसाद मिश्र : गांधी पंचशती, पृ० २६१, सरला प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९६९ ।

२ शिवमंगल सिंह "सुमन" : पृ० ५२, राजपाल एण्ड सन्ज़ दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७२ ।

३ अज्ञेय : इन्द्र धनु रौंदे हुए ये, पृ० १९-२०, सरस्वती प्रेस, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, १९५७ ।

४ गिरिजाकुमार माथुर : दूसरा सप्तक, पृ० ४७, प्रगति प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९५१ ।

५ -वही- पृ० ३० ।

६ सुरेन्द्र तिवारी : थूकते हुए, पृ० ८८, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७१ ।

प्रकार नगरों में कुछ लोग पेण्टिंग का व्यवसाय करते हैं। विभिन्न प्रकार की चित्रकारी करके वे लोग कुछ पैसा अर्जित कर पाते हैं।[1]

<u>कृषि</u> : गाँवों में सर्वाधिक महत्व पूर्ण व्यवसाय खेती का है। भारत की अधिकांश जनता इसी पर निर्भर करती है। किन्तु वर्तमान युग में कृषक की स्थिति भी विशेष अच्छी नहीं है। कृषक अपने व्यवसाय में जहाँ बीज, खाद और पानी पर धन व्यय करता है वहाँ अपना परिश्रम भी करता है तब कहीं जाकर वह फसल उठा पाता है।[2] किन्तु उस फसल का पूरा लाभ नगर में गल्ला - व्यापारी उठा लेते हैं। उसे बेचारे को उनकी मर्जी के अनुसार अपना गल्ला बेचना होता है। उसमें इतनी शक्ति नहीं होती कि वह गल्ले को व्यापारी की भाँति भर कर रख सके। अतः वह सदैव व्यापारी का मुखापेक्षी बना रहता है।

<u>व्यापार</u> : व्यापारिक स्तर पर होने वाले व्यवसायों में समुद्र में से मोती निकालने का[3], ब्याज पर रुपया उठाने का,[4] व्यवसाय आदि प्रमुख हैं। गाँवों में जो लोग ब्याज पर रुपया उठाते हैं उन्हें महाजन कहा जाता है।

---

० भवानी प्रसाद मिश्र : बुनी हुई रस्सी, पृ० ११६, सरला प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७१।

१ मुक्तिबोध : चाँद का मुँह टेढ़ा है, पृ० ५२, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, १९७१।

२ भवानी प्रसाद मिश्र : गांधी पंचशती, पृ० १६३, सरला प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९६९।

३ वीरेन्द्र कुमार जैन : शून्य पुरुष और वस्तुएँ, पृ० ५०, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, [illegible] १९७२।

४ अज्ञेय : बावरा अहेरी, पृ० १३, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, द्वितीय संस्करण, फरवरी १९७२।

<u>नौकरी</u> : इन व्यवसायों के अतिरिक्त नौकरी भी आय का एक प्रमुख स्रोत है। नगरों में एक बहुत बड़ा वर्ग नौकरी करके ही अपनी आजीविका चलाता है। इनमें अध्यापक, क्लर्क तथा मेहतर[1] के साथ - साथ मुनीमी[2], पटवारी,[3] तथा सेना की नौकरियों[4] का उल्लेख वर्तमान हिन्दी कविता में हुआ है। आज कल मुनीमों का स्थान — क्लर्क, एकाउण्टेन्ट तथा कैशियर लेते जा रहे हैं। मुनीमी का पद कुछ वर्ष पहले, कहीं - कहीं अब भी चलता रहा है। कुछ लोग बीमा के एजेन्ट हो जाते हैं और मास में ८० - ९० रु० कमा लेते हैं।[5] आफिसों में कर्मचारियों की वेतन के अतिरिक्त भत्ता भी मिलता है।[6]

३- बेरोजगारी

वर्तमान युग में नौकरी प्राप्त करना भी एक समस्या है। इसके मुख्यत: दो कारण हैं। १- आजकी शिक्षा व्यवस्था नवयुवक को बाबू या आफीसर बनाने के लिये प्रेरित करता है। शिक्षा का उद्देश्य आज नौकरी हो गया है। अंग्रेजी शासन काल में सरकारी

---

१ प्रभाकर माचवे : अनुक्षण, पृ० ८५, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, १९५९।

२ माखन लाल चतुर्वेदी : बीजुरी काजल आँज रही, पृ० १०, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, १९६४।

३ कश्मीर सिंह " रंग " : ५५ की श्रेष्ठ कविताएँ, पृ० ६७-६८, नवसाहित्य प्रकाशन, नई दिल्ली - १, प्रथम संस्करण, १९५६।

४ प्रणवकुमार वन्द्योपाध्याय : मुक्त शिशुओं के लिए प्रार्थना, पृ० ३३, पाण्डुलिपि प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७३।

५ प्रभाकर माचवे : अनुक्षण, पृ० ८५, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, १९५९।

६ भवानी प्रसाद मिश्र : बनी हुई रस्सी, पृ० ९२, सरल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७१।

कर्मचारियों को जनता पर अपना रौब दिखाने का बहुत अवसर मिलता था परिणामतः नौकरी को एक उच्चता का काम समझा जाने लगा । जिस देश में " उत्तम खेती, मध्यम बान । अधम चाकरी, भीख निदान । " की कहावत प्रसिद्ध थी उस देश में नौकरी को श्रेष्ठ समझा जाने लगा । आज एक व्यापारी का पुत्र भी या एक किसान का पुत्र भी पढ़ लिख कर नौकरी की खोज करता है । वह थोड़ी भी शिक्षा प्राप्त कर लेने पर अपने पैतृक व्यवसाय या परिश्रम के व्यवसाय को करने से कतराने लगता है । परिणामतः नौकरी के क्षेत्र में प्रतियोगिता बढ़ गई है । २- बढ़ती हुई शिक्षा के परिणाम स्वरूप भी नौकरी के क्षेत्र में प्रतियोगिता बढ़ी है । इन दोनों ही कारणों से आज नवयुवक को नौकरी प्राप्त करना कठिन हो गया है । वर्तमान बेकारी के यह कारण आज के नवयुवक को भी समझ में आने लगे हैं । वह सोचने लगा है —

" पढ़ लिख कर
सिर में सोचने - समझने की
एक बेकार खोपड़ी
खोलने के बजाय मैं
साफुटी की एक दुकान खोलता
अच्छा रहता " [1]

नौकरी की यह समस्या इतनी बढ़ी है कि आज प्रत्येक नवयुवक को " हर सुबह " वाण्टेड के कालम जगाते हैं । " और वह अनुभव करता है कि —

---

१ सुरेन्द्र तिवारी : [illegible] पृ० ७४, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७१ ।

"हम सर्वथा स्वतन्त्र हैं
किसी राह चलने को, जिनके हर छोर पर
टंगे हुए "नो वैकेंसी" के साइन बोर्ड।"[1]

इस प्रकार भारतीय जन - जीवन में निराशा का भाव पनपने लगा है। वर्तमान लोक - जीवन में व्याप्त निराशा, कुण्ठा या संत्रास का एक कारण यह भी है। नौकरी की ओर से निराश, आज के नवयुवक की भावनाओं को धूमिल की "पतझड़" शीर्षक कविता में बड़े सटीक और मार्मिक ढंग से अभिव्यक्त किया गया है।[2] आज-कल बेकार नवयुवकों को कहीं भी खाली जेबों में अपने ढीले हाथ डाल कर आवारा की भाँति टहलते हुए देखा जा सकता है। आज के बेकार नवयुवक का यह दृश्य कवियों की आँखों में बसता हुआ है कि कुछ ने तो प्रकृति में मौसम को भी एक बेकार नवयुवक के रूप में देखा है।[3]

४- अवैध व्यापार

जैसा कि हम पीछे कह चुके हैं भारत वर्ष में असमान अर्थ व्यवस्था का एक बहुत बड़ा कारण, एक वर्ग विशेष द्वारा श्रमिकों का शोषण है। इसका दूसरा कारण व्यापार तथा व्यवसाय में प्रचलित बेईमानी तथा अनीति भी है। यह

---

1 राजीव सक्सेना : आत्म निर्वासन तथा अन्य कविताएँ, पृ० ८७, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९५५।

2 धूमिल : संसद से सड़क तक, पृ० ४५, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७२।

3 नवीन : पांच जोड़ बांसुरी, पृ० १५८, भारतीय ज्ञानपीठ काशी, प्रथम संस्करण, १९६९।

बेईमानी जहाँ कानूनी स्तर पर अपराध है, वहीं सामाजिक अपराध भी है। किन्तु देश का नैतिक स्तर बहुत कुछ गिरजाने के कारण व्यापार में वस्तु की श्रेष्ठता के स्थान पर विज्ञापन और कौतूहल की प्रधानता हो गई है। व्यक्ति सोचता है कि विज्ञापन के बल पर वस्तु के प्रति कौतूहल उत्पन्न करके निकृष्टतम वस्तु का भी अधिक मूल्य प्राप्त किया जा सकता है।[1] आज धन का मोह इतना बढ़ गया है कि हर व्यक्ति शीघ्र ही बड़ा आदमी बन जाना चाहता है और शीघ्र बड़ा आदमी बनने की चेष्टा में वह सट्टा व्यापार करता है।[2] जिसके द्वारा वह अधिक से अधिक व्यक्तियों का शोषण कर लेता है। "तस्कर" व्यापार में भी स्वतन्त्रता के उपरान्त वृद्धि हुई है।[3] देश की आर्थिक स्थिति बिगड़ने का एक यह भी बहुत बड़ा कारण है। यही नहीं इस व्यापारिक बेईमान का बड़े स्तर के अतिरिक्त छोटे स्तर पर भी प्रचलन हो गया है। इसी बेईमानी का एक रूप मिलावट है। इस मिलावट के कारण शुद्ध वस्तु का मिलना प्राय: असम्भव सा हो गया है। यहाँ तक कि दैनिक उपभोग की वस्तुओं में भी मिलावट होती है। दूध में पानी की मिलावट,[4] घी की मिलावट है। इसी प्रकार कालाबाजार तथा जमाखोरी भी व्यापार के दोष हैं। इनसे देश की स्वतन्त्रता भी खतरे में पड़ सकती है।[5] मुनाफाखोरी

---

१ सर्वेश्वर दयाल सक्सेना : तीसरा सप्तक, पृ० २२८, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, तृतीय संस्करण, १९६७ ।

२ प्रभाकर माचवे : [illegible], पृ० ८५, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, १९५६ ।

३ रमेश कुमार शर्मा : एक अपरिचित आकाश, पृ० ४५, राधा कृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७३ ।

४ सुरेन्द्र तिवारी : [illegible], पृ० ३६, राधा कृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७१ ।

५ भवानी प्रसाद मिश्र : गांधी पंचशती, पृ० १३७, सरला प्रकाशन, नई दिल्ली प्रथम संस्करण, १९६९ ।

भी आज़ादी के बाद बढ़ी है । लोग समझते हैं कि यह स्वतन्त्रता के बाद का दुष्परिणाम है ।[१] इस प्रकार इनसे देश में बहुत कुछ अव्यवस्था भी फैली है ।

नौकरियों में रिश्वत की समस्या भी वर्तमान युग में बहुत बढ़ी है । आज दो सौ रुपये वेतन पाने वाला व्यक्ति चार सौ रुपये घर भेज देता है ।[२] गरीब आदमी छोटी - मोटी माचिस - बीड़ी - पान की दुकान यदि पैसे से खोल लेता है तो उसे अधिकारियों को बिना पैसे पान खिलाने पड़ते हैं ।[३] इन कारणों से भी साधारण व्यक्ति का आर्थिक स्तर गिरा हुआ ही रहता है ।

५- ऋण की व्यवस्था

बढ़ती हुई कीमतों के कारण व्यक्ति अपनी निश्चित आय में अपना काम नहीं चला पाता, उसे किसी न किसी से हर बार कर्ज़ लेना पड़ता है ।[४] लोक - जीवन में यह आपसी ऋण मुख्यतः चार प्रकार का होता है --- (१) मित्रता में, बिना ब्याज का नकद ऋण, (२) वस्तुओं के रूप में ऋण , (३) किसी मूल्यवान वस्तु के बदले ब्याज पर नकद ऋण, (४) अच्छी साख के कारण ब्याज पर नकद ऋण ।

---

१ भवानी प्रसाद मिश्र : गांधी पंचशती, पृ० १५४, सरला प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९६९ ।

२ सुरेन्द्र तिवारी : धुकते हुए, पृ० ७५, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७१ ।

३ सर्वेश्वर दयाल सक्सेना : काठ की घण्टियाँ, पृ० ४०४-४०५, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, १९५९ ।

४ बच्चन : कटती प्रतिमाओं की आवाज़, पृ० १२४, राजपाल एण्ड संस, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९६८ ।

।१। मित्रों से, बिना ब्याज का नकद ऋण :

शहरों में दफ्तर में काम करने वाले बाबू प्राय: माह के अन्त में अपने साथियों से कुछ न कुछ मांगते हैं। पहली तारीख के भरोसे वे लगभग पूरे माह कर्ज करते रहते हैं। किन्तु पहली तारीख को प्राप्त होने वाले निश्चित वेतन से वह सभी कर्जों को चुका नहीं पाते।[1]

।२। वस्तुओं के रूप में ऋण :

यह दो प्रकार का होता है — १- बाजार में दुकानदार से उधार वस्तुएँ लेना, २- पड़ोसियों से उधार वस्तुएँ लेना। यह दोनों ही प्रकार का ऋण वस्तुओं के रूप में ही होता है किन्तु इनमें से पहले का भुगतान नकद और दूसरे का भुगतान वस्तु के ही रूप में करना होता है।

नगरों में नौकरी करने वाले व्यक्ति को, उधार देने वाले बनिये का नमस्कार मात्र इसलिये सहन करना पड़ता है कि उसी के कारण वह अपना जीवन जिला पा रहा है।[2] यह कर्जों का बोझ उसके जीवन को दुष्कर बना देता है। उसका स्वास्थ्य, उसकी योग्यता, सभी कुछ इन कर्जों को चुकाने की चिन्ता में चले जाते हैं। किन्तु ये कर्जे एक बार प्रारम्भ होने के बाद फिर चुकने का नाम नहीं लेते, अपितु बढ़ते ही जाते हैं —

---

१ उदयशंकर भट्ट : पर्वापर, पृ० १२८, आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९६३।

२ धूमिल : संसद से सड़क तक, पृ० २१, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७२।

" कर्ज़ की पड़ी नुकीली सुई
जीवन में लगी
खुले रहते सवाली हाथ
जिन हथेलियों ने गरमाई कभी जानी नहीं । "[1]

(३) धरोहर के बदले नकद, ब्याज पर ऋण :

गाँवों में इस कर्ज़ का रूप बहुत भयावह है । यहाँ महाजन लोग जो स्वर्णाभूषण गिरवी रखकर ब्याज पर रुपया देते हैं, कर्ज़ के बोझ से कृषक तथा अन्य निर्धन जनों का जीवन दूभर किये रहते हैं । ग्रामीण - जनकी सम्पूर्ण आयु ब्याज चुकाने में ही निकल जाती है । उस पर कर्ज़ा रहता है, उसका स्वर्ण-आभूषण भी चला जाता है और अपनी प्रतिदिन की आय भी वह ब्याज चुकाने में दे देता है । उसके घर का एक मात्र आभूषण — हँसली, जो विवाह में उसकी पत्नी को मिला था — जब गिरवी रख जाता है तो उसका दुख अपरिमित होता है ।[2]

(४) अच्छी साख के कारण ब्याज पर नकद ऋण :

कभी - कभी व्यक्ति की साख (जमीन-जायदाद के कारण उसकी शोहरत) के आधार पर भी ये महाजन कर्ज़ दे देते हैं ।[3] इन कवियों ने जहाँ इस ऋण व्यवस्था तथा इसके कारण जन - साधारण पर पड़ने वाली स्थिति का चित्रण किया है वहाँ रमेश रंजक,[4] रांगेय राघव[5] आदि

---

१ शकुन्त माथुर : चाँदनी चूनर, पृ० ७४, साहित्य भवन प्रा० लि०, इलाहाबाद - ३, प्रथम संस्करण, १९६० ।

२ सर्वेश्वर दयाल सक्सेना : काठ की घण्टियाँ, पृ० ४०५, भारतीय ज्ञान-पीठ काशी, प्रथम संस्करण, १९५९ ।

३ मुकुट बिहारी सरोज : नई धरती के नए स्वर, पृ० २९, युवक प्रकाशन, आगरा, प्रथम संस्करण, १९६२ ।

कवियों ने ब्याज, महाजन और ऋण आदि को उपमान के रूप में भी ग्रहण किया है ।

६- धन - संचय के साधन

धन - संचय करने की प्रवृत्ति मनुष्य की बहुत प्राचीन प्रवृत्ति है । अपने जीवन के दुर्दिनों में, संचित किया हुआ धन उसके काम आ सके, इसीलिये व्यक्ति धन का संचय करता है । इस धन को एकत्रित करने के लिये मनुष्य बड़ी - बड़ी तिजोरियाँ[१] रखता है । उसका यह धन केवल मुद्रा या सिक्के के ही रूप में नहीं होता अपितु स्वर्णाभूषणों के रूप में भी होता है ।[२] किन्तु साधारण जन इसे सिक्कों के रूप में ही रखता है ।[३] इन स्वर्ण - आभूषणों के साथ कीमती पत्थर भी संचित किये जाते हैं । ये भी एक प्रकार का धन ही हैं, जिन्हें अवसर पड़ने पर बेचा जा सकता है तथा मुद्रा प्राप्त की जा सकती है ।[४] इसके अतिरिक्त इस धन को संचित करने के लिए अब सरकार की ओर से बैंकों की व्यवस्था भी की गई है । प्रायः नगरों के, और आजकल गाँवों के लोग भी बैंकों में धन जमा करते हैं ।[५]

---

४ रमेश रंजक : गीत विहग उतरा, पृ० ५०, आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९६९ ।

५ रांगेय राघव : ताज की छाया में, पृ० १२७, सहकारी प्रकाशन, आगरा, प्रथम संस्करण, मई १९५९ ।

१ अजित कुमार : अकेले कण्ठ की पुकार, पृ० ६६, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९५८ ।

२ सर्वेश्वर दयाल सक्सेना : काठ की घण्टियाँ, पृ० ४०५, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, १९५९ ।

और इस प्रकार उनका धन चैक - बुक के रूप में उनके पास रहता है । [१]

७- विनिमय-व्यवस्था

विनिमय के लिये सामान्यत: सरकार की ओर से नोट और कुछ छोटे सिक्कों की व्यवस्था है । लोक - जीवन में इन्हीं सिक्कों को विनिमय के साधन के रूप में प्रयोग किया जाता है । सामान्यत: सौ का नोट, बीस का नोट, दस का नोट, पाँच का, दो का तथा एक का नोट चलते हैं । एक का नोट सौ पैसे का होता है । इन सौ पैसों में एक का, दो का, तीन का, पाँच का, दस का, बीस का, पच्चीस तथा पचास का सिक्का चलता है । नये सिक्के के चलने से पूर्व जो छोटे सिक्कों का प्रचलन था उनमें एक पैसा, अधन्ना, इकन्नी, दुअन्नी, चौअन्नी, और अठन्नी थे । इस प्रकार एक रुपये में ६४ पैसे होते थे । इस प्रकार बड़े हुए सिक्के से विनिमय व्यवस्था चलती है । किसी भी बड़े सिक्के को भुना कर उतनी ही कीमत के छोटे सिक्के भी प्राप्त किये जा सकते हैं । नीलम सिंह के एक गीत में सिक्के के भुनाने तथा विनिमय में वस्तु के मूल्य के रूप में सिक्के के प्रचलन का उल्लेख हुआ है । [२] सिक्कों और

---

३ अजित कुमार : अकेले कण्ठ की पुकार, पृ० ६६, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९५८ ।

४ भवानी प्रसाद मिश्र : बनी हुई रस्सी, पृ० ६५, सरला प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७१ ।

५ वीरेन्द्र कुमार जैन : शून्य पुरुष और वस्तुएँ, पृ० १०३, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, अक्टूबर, १९७२ ।

१ राजीव सक्सेना : आत्म निर्वासन तथा अन्य कविताएँ, पृ० ८७, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९६६ ।

२ नीलम सिंह : पाँच जोड़ बाँसुरी, पृ० १५४, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, १९६६ ।

नोटों के अतिरिक्त सरकार की ओर से बैंकों की व्यवस्था हो जाने पर किसी वस्तु का मूल्य बैंक के चैक द्वारा भी दिया जा सकता है। वस्तु देने वाला उस चैक को बैंक से भुना सकता है तथा उतनी धन राशि प्राप्त कर सकता है, जितनी कि देय थी और चैक में लिखी थी। वीरेन्द्र कुमार जैन की एक कविता में नोट और सिक्कों के साथ चैकों के चलने की भी चर्चा हुई है।[१] किन्तु जन-साधारण अपने विनिमय में नोटों तथा सिक्कों का ही प्रयोग करता है। जैसा कि हम पीछे स्पष्ट कर चुके हैं, भारत में जन साधारण के पास इतना धन नहीं कि वह उसे बैंकों में रख सके और विनिमय में चैकों का प्रयोग कर सके। वह जैसे-तैसे नोटों का प्रयोग कर पाता है। इनमें अधिकतः बड़े नोटों का प्रयोग भी जन-साधारण में नहीं हो पाता है।

८– व्यय

स्वतन्त्रता के उपरान्त जमाखोरी की प्रवृत्ति यद्यपि बढ़ी है फिर भी व्यक्ति अपनी आय में से एक बड़ा भाग धर्मशाला तथा नदियों पर घाट आदि बनवाने में व्यय कर देता है। वास्तव में भारतीय लोक-जीवन में धर्म का बहुत बड़ा स्थान है। धन से बढ़ कर धर्म को यहाँ माना जाता रहा है। ऋषियों, मुनियों तथा सन्त और भक्त कवियों ने धन को मोह और लोभ का कारण बताकर, उसकी भर्त्सना ही की है। धनी व्यक्ति को दानी और त्यागी होना चाहिये इस पर बल दिया जाता रहा है।

---

१ वीरेन्द्र कुमार जैन : शून्य पुरुष और वस्तुएँ, पृ० १८३, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, अक्टूबर, १९७२।

धर्म में आस्था ही के कारण बड़े - बड़े धनी व्यक्ति धर्मशाला, मन्दिर, घाट आदि बनवाते थे।[१] आज भी देश में बिरला तथा जे० के० के अनेक मन्दिर तथा विद्यालय हैं। किन्तु वर्तमान युग अर्थ प्रधान है। अत: व्यक्ति की संचय की प्रवृत्ति बलवती हुई है। विज्ञान की प्रगति के कारण विलासिता भी बहुत बढ़ी है अत: अब सामान्य कोटि के धनी अपने संचित धन का व्यय ऐसे कार्यों पर प्राय: नहीं करते।

जन साधारण के धन का व्यय उसकी दैनिक आवश्यकता की वस्तुओं पर ही हो जाता है। पहली तारीख आते ही वह धागे की रील, लकड़ी आदि खरीदने निकल पड़ता है।[२] और फिर उसे वेतन की पूर्णिमा चौदस से अधिक नहीं लगती।[३] उसे कभी बच्चों के लिये वस्त्र, कभी घर में बीमारी के इलाज के लिये, अपने धन का व्यय करना पड़ता है।[४] साथ ही यहाँ कुछ रीति - रिवाजों के पालन में भी धन का व्यय होता है। अज्ञेय की एक कविता में विवाह पर होने वाली बड़ी दावतों तथा बड़े स्तर पर होने वाली सजावटों पर व्यंग किया गया है।[५] वास्तव में यह धन का अपव्यय है। इस प्रकार के व्यय से किसी का लाभ नहीं होता। सर्वेश्वर के एक गीत में बामन और नाइयों को नेग देने का भी उल्लेख हुआ है।[६] यह नेगाचार भी व्यर्थ के व्यय ही हैं।

---

१ सुरेन्द्र तिवारी : उभरती धूप, पृ० ७१, राधा कृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७१ ।

२ रमेश रंजक : हरापन नहीं टूटेगा, पृ० ५८, अपार प्रकाशन प्रा० लि०, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७४ ।

३ -वही - पृ० ३४ ।

४ उदयशंकर भट्ट : युगदीप, पृ० १२८, आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९६३ ।

५ अज्ञेय : इन्द्रधनु रौंदे हुए ये, पृ० ५६, सरस्वती प्रेस, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, १९५७ ।

निष्कर्ष

इस प्रकार स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कविता में लोक के आर्थिक जीवन का जो रूप हमारे सम्मुख उपस्थित होता है उससे यह निष्कर्ष निकलता है कि लोक-जीवन में एक बहुत बड़ा वर्ग मजदूरी, खेती तथा नौकरी पर निर्भर करता है। कुछ धनी जन व्यापार भी करते हैं। भारत में सामान्यतः लोक की आर्थिक स्थिति शोचनीय है। व्यवसायों में अवैध व्यापार बढ़ने लगे हैं। बेकारी भी बहुत अधिक है। इससे जन सामान्य में निराशा तथा कुण्ठा के भाव जन्मने लगे हैं। जीवन में धर्म का स्थान अर्थ ने ले लिया है। आय के स्थान पर व्यय की अधिकता है। विनिमय में सरकारी सिक्के और नोटों का प्रचलन है, कहीं-कहीं बैंक के चेकों का प्रचलन है किन्तु यह प्रचलन केवल पूँजीपति वर्ग तक ही सीमित है। सामान्य-जन छोटे-छोटे नोटों से ही अधिकतर अपना काम चलाता है। धन संचय के लिये उसके पास बड़ी-बड़ी तिजोरियाँ हैं। बैंकों में भी वह अपना धन रखता है। स्वतन्त्रता के उपरान्त सरकार की ओर से जन सामान्य की गरीबी को दूर करने के लिये किये गये प्रयासों का लाभ कुछ विशेष व्यक्तियों को ही हो सका है।[१] जन-सामान्य अभी भी दुःखमय जीवन व्यतीत कर रहा है और उसके सुख-भाग पर दूसरे अपना अधिकार जमाए बैठे हैं।

---

६ सर्वेश्वर दयाल सक्सेना : काठ की घण्टियाँ, पृ० ४०३, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, १९५९ ।

१ सुरेन्द्र तिवारी : झुकते हुए, पृ० ५८, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७१ ।

अष्टम अध्याय

राजनैतिक जीवन

१- शासन-तंत्र
२- विधान तथा दण्ड - विधान
३- युद्ध और शान्ति
४- स्वातन्त्र्योत्तर भारत का पुनर्मूल्यांकन
५- स्वातन्त्र्योत्तर भारत की राजनीतिक समस्याएं
६- निष्कर्ष

अष्टम अध्याय

राजनैतिक जीवन

भारतीय जनता प्रारम्भ से ही शासन के प्रति अत्यन्त सहिष्णु रही है। किसी का भी शासन हो वह शान्ति से जी लेती थी। यही कारण था कि भारत वर्ष ने एक हज़ार वर्षों की लम्बी दासता ढोई। किन्तु अंग्रेज़ी काल में "कोउ नृप होउ हमें का हानी" के स्थान पर "पराधीन सपनेहु सुख नाहीं" की भावना जगने लगी। उसमें एक नई राजनीतिक चेतना उभरने लगी। और इस नई राजनीतिक चेतना ने उसकी आत्मा को मुक्त होने के लिये प्रेरित किया। पूरा देश भिन्न विचार-धाराओं, मतों और वादों के रहते हुए भी स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिये एक हो गया।

१५ अगस्त १९४७ को भारत स्वतन्त्र हुआ। देश भर में खुशियां मनाई गईं। कवियों ने हजारों कविताएं लिखीं।[१] देश में जनतन्त्र की नींव रखी गयी और इस प्रकार 'जनता द्वारा, जनता के लिये, जनता का, शासन प्रारम्भ हुआ'। किन्तु इस शासन से जनता का कोई हित नहीं हुआ। स्वतन्त्रता का लाभ कुछ व्यक्तियों ने ही उठाया। सत्ताधारी को सत्ता प्राप्त करके धीरे-धीरे जनता से अलग होने लगा। कवियों ने परतन्त्रता और

---

१ भवानी प्रसाद मिश्र : गांधी पंचशती, पृ० १११-११२, सस्ता प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९६९।

स्वतन्त्रता —— दोनों की चेतना में अन्तर करते हुए व्यक्त किया ——

"कुछ रोज और से काम हुआ
पर फिर हम को मिल गया राज
और राज मिले मति ठीक रहे, यह तो मुश्किल
हम भूल गये वह स्नेह व्रत
चल पड़ी यहाँ वाली खिलखिल ।" [१]

और इस प्रकार देश में कुर्सी का प्रेम बढ़ गया ।" [२] किन्तु इसके अर्थ ये नहीं कि वर्तमान शासन ने कुछ किया ही नहीं । उसने विदेशी संकटों का बड़ी दृढ़ता और साहस के साथ सामना किया है और उनमें विजय भी पाई है । उसने कृषि, उद्योग, शिक्षा, स्वास्थ्य तथा सामाजिक सुधार आदि के क्षेत्र में प्रगति की है । किन्तु राजनीति में ईमानदारी का अभाव इस सम्पूर्ण प्रगति का मूल्य बहुत कम कर देता है। वर्तमान शासन के सभी प्रयासों का लाभ चारित्रिक एवं नैतिक दृढ़ता के अभाव में एक वर्ग विशेष को ही मिला है । और यहीं से जनता के मन में शासन के प्रति एक आक्रोश सुलगने लगा है ।

वास्तव में वर्तमान युग राजनीति प्रधान युग है । धन के बाद दूसरी कोई वस्तु स्वातन्त्र्योत्तर जीवन में यदि अपना प्रभाव क्षेत्र बढ़ा सकी है, तो वह है —— राजनीति । वास्तविकता यह है कि स्वातन्त्र्योत्तर भारत में राजनीति और पूंजी दोनों का ही एक दूसरे के साथ हर स्तर पर

---

१ भवानी प्रसाद मिश्र : गांधी पंचशती, पृ० १४२, सरला प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९६९ ।

२ [illegible] माथुर : चाँदनी चूनर, पृ० ५८, साहित्य भवन प्रा० लि०, इलाहाबाद - ३, प्रथम संस्करण, १९६० ।

गठबन्धन हुआ है। और दोनों में चारित्रिक एवं नैतिक दृढ़ता का अभाव उत्पन्न हो गया है। डा० लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय के शब्दों में —

" चारित्रिक दृढ़ता के अभाव से गान्धी जी का " राम - राज्य " साकार नहीं हो पा रहा। इससे भारतीय मनुष्यता को बड़ा भारी आघात पहुँच रहा है। चारों ओर अव्यवस्था, अनुशासन हीनता, दायित्व हीनता, कार्य कुशलता का अभाव आदि बातें दृष्टिगोचर हो रही हैं।" [1] कहना न होगा कि स्वतन्त्रता की उम्र के साथ - साथ ये बातें भी निरन्तर बढ़ती गई हैं। यही कारण है कि स्वातन्त्र्योत्तर कवि स्वतन्त्रता पर प्रश्न चिन्ह लगा देता है। [2] वह " जनतन्त्र " को " भीड़तन्त्र " कहने लगता है। [3] उसकी दृष्टि में " चरित्रहीनता मन्त्री की कुर्सी में तब्दील हो चुकी है। " अतः वह अपने देश प्रेम के लिये भी अफसोस करता है। [4]

स्वतन्त्रता से पूर्व मत-मतान्तरों के रहते भी देश स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिये एक था, वह स्वतन्त्रता के उपरान्त मतमतान्तरों के घेरे में फंसने लगा। और स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कविता भी इससे अछूती नहीं रही। " हिन्दी का अधिकांश प्रगतिवादी साहित्य भी इस दोष से मुक्त नहीं है, विशेष कर सन् १९४८ से १९५२ तक के बीच का साहित्य, जब प्रगतिवादी साहित्य क्षेत्र में संकीर्णतावादी दृष्टिकोण का दौर था।" [5]

---

१ डा० लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय : द्वितीय महायुद्धोत्तर हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ४२, राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७३।

२ धूमिल : संसद से सड़क तक, पृ० ११, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७२।

३ दिनकर : परशुराम की प्रतीक्षा, पृ० ६८, उदयाचल, राजेन्द्रनगर, पटना - ६, तृतीय संस्करण, १९६६।

४ धूमिल : संसद से सड़क तक, पृ० ५०, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७२।

५ डा० रामगोपाल सिंह चौहान : स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी काव्य, पृ० ४०, विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा, प्रथम संस्करण, १९६५।

उस समय का बहुत कुछ साहित्य एक पार्टी विशेष के सिद्धान्तों को लेकर लिखा गया। मानों यह साहित्य, साहित्य न हो कर पार्टी का "मैनीफेस्टो" हो। किन्तु "पार्टी हित से राजनीतिक स्ट्रैटेजी का निर्णय तो किया जा सकता है, परन्तु साहित्य रचना एक स्ट्रैटेजी नहीं है, ब मुल्यांकन है।[1]" इसी बात को लेकर इलाहाबाद में साहित्यकारों की एक गोष्ठी "परिमल" ने एक आयोजन किया जिसमें लेखक की स्वतन्त्रता पर बल दिया गया। ३, ४, ५ मई १९५७ को हुई इस परिगोष्ठी के वक्तव्य में कहा गया —— "पिछले कुछ वर्षों से भारतीय सरकार ने साहित्य और कला के क्षेत्र में कुछ ऐसे कदम उठाये हैं जिनसे "लेखक और राज्य संरक्षण" एक महत्वपूर्ण समसामयिक प्रश्न बन गया है। जिस रूप में राजकीय हस्तक्षेप हुआ है उससे यह प्रश्न केवल प्रश्न न रहकर एक समस्या बनता जा रहा है। नयी प्रजातान्त्रिक परम्परा के निर्माण में संलग्न देश के नागरिकों का यह कर्तव्य है कि वह प्रत्येक महत्वपूर्ण समस्या पर गंभीरता पूर्वक विचार करके अपना मत व्यक्त करें। लेखकों से तो इस समस्या का सीधा संबंध है।"[2] इस गोष्ठी में परिमल की ओर से जो प्रश्नावली प्रस्तुत की गई थी उसमें —— लेखक के स्वतन्त्र लेखन पर राज्य कैसे और क्या प्रभाव डाल सकता है, इस विषय से संबंधित तैंतालीस प्रश्न दिये गये थे। डा० रघुवंश की रिपोर्ट के अनुसार अधिकांश लेखक स्वतन्त्र लेखन के पक्ष में थे। और किसी भी प्रकार लेखन को मात्र - सवारक पीढ़ी के समर्थन या सुनिश्चित सरकारी नीति से बचाने के पक्ष

---

१ मोहन राकेश : प्रकाशन समाचार, पृ० २०८, सन् १९५९, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली।

२ लेखक और राज्य : परिमल परिगोष्ठी, पृ० ६, ३,४,५ मई १९५७, प्राप्ति स्थान - भारती प्रकाशन, १० दरभंगा रोड, इलाहाबाद।

में थे ।[१]

जैसा कि प्रस्तुत अध्ययन में हम देखेंगे स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कवि ने अपनी स्वतन्त्रता बनाए रखी है । लोक - जीवन में शासन के प्रति बढ़ते हुए असन्तोष को, उसने निष्पक्ष और निर्भय होकर अभिव्यक्ति दी है । उसकी दृष्टि में किसी भी पार्टी के सिद्धान्त अब बेमानी हो गये हैं । वह लोक - जीवन में सत्तारूढ़ दल के अतिरिक्त अन्य विपक्षी दलों की विफलता भी देख चुका है । इस प्रकार वह न शासन के साथ है और न किसी दल विशेष के साथ है । वह केवल जनता के साथ है । सन् १९६२ से, जो भारत की राजनीति में मोहभंग का समय कहा जा सकता है, जनता और कवि का यह सम्बन्ध और दृढ़ तथा प्रगाढ़ हुआ है ।

१ - शासन-तन्त्र

स्वतन्त्रता के उपरान्त देश में जो शासन-तन्त्र लागू हुआ वह जनतन्त्र के नाम से जाना जाता है, जिसका अर्थ है जनता का शासन । इसमें सभी को समान अधिकार प्राप्त है ।[२] जाति, वर्ण या लिंग तथा धर्म के आधार पर किसी प्रकार के भेद - भाव के लिये इसमें स्थान नहीं । इस व्यवस्था में एक अछूत कहलाने वाला व्यक्ति भी शासन में मन्त्री का पद प्राप्त कर सकता है ।[३] इस शासन तन्त्र के अन्तर्गत प्रान्तों में विधान सभा,[४]

---

१ रघुवंश : लेखक और राज्य, परिमल परिगोष्ठी, ३, ४, ५ मई, १९५७, खण्ड २, पृ० ५५ से ७३ तक, प्राप्ति स्थान - भारती प्रकाशन, १० दरभंगा रोड, इलाहाबाद ।

२ धूमिल : संसद से सड़क तक, पृ० ११५, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७२ ।

तथा केन्द्र में संसद [1] की व्यवस्था है। इस संसद के दो सदन होते हैं -- राज्य सभा [2] और लोक सभा। संसद जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियों की सभा है। ये प्रतिनिधि विभिन्न पार्टियों के तथा कभी - कभी निर्दलीय भी होते हैं। वास्तव में विभिन्न पार्टियों का होना जनतन्त्र में अनिवार्य सा है। ये पार्टियाँ अपनी - अपनी अलग - अलग नीति और कार्य-प्रणालियों द्वारा जनता के हित का कार्यक्रम बनाती हैं। [3] ये पार्टियाँ संसद में अपने प्रतिनिधि जनता द्वारा चुने जाने पर भेजती हैं। इसके लिये देश में प्रत्येक पाँच वर्ष बाद चुनावों की व्यवस्था है। [4] प्रत्येक नागरिक इन चुनावों में भाग ले सकता है। चुनावों के समय हर पार्टी अपना चुनाव प्रचार करती है। जनता के सम्मुख "शासन, सुरक्षा, रोजगार, शिक्षा" आदि के नये-नये कार्यक्रम रखकर उसे अपने पक्ष में करने का प्रयास करती है। [5] इन चुनावों में जिस राजनीतिक दल को बहुमत प्राप्त होता है, वही अपनी सरकार भी बनाता है। [6] स्वतन्त्रता के समय से लेकर अब तक प्रत्येक आम चुनाव में देश की जनता ने एक ही पार्टी -- कांग्रेस को केन्द्र में बहुमत दिया है। [7] अत: तब से अब तक

---

१ मदन वात्स्यायन : तीसरा सप्तक, पृ० ६८, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, तृतीय संस्करण, १९६७ ।

२ धूमिल : संसद से सड़क तक, पृ० १३७, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७२ ।

३ -वही- पृ० १४० ।

४ बच्चन : कटती प्रतिमाओं की आवाज, पृ० १०४, राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९६८ ।

५ सुरेन्द्र तिवारी : बुझती धूप, पृ० ३२, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७१ ।

६ धूमिल : संसद से सड़क तक, पृ० १३०-१३१, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्र०सं०, ७२ ।

७ -वही- पृ० १३८ ।

देश में कांग्रेस का ही शासन चलता चला आ रहा है। राजनीतिक दलों के सदस्यों को अपना दल बदलने की भी छूट है। इस दल - बदल के आधार पर कहीं - कहीं प्रान्तों में सरकार भी बदल जाती है।[१] यदि जीते हुए दल के लोग हारे हुए दल में अपना दल - बदल कर दें तो ऐसा संभव है।

प्रजातन्त्र में विरोधी दलों का भी अपना महत्त्व है। ये दल सरकार के निरंकुश होने के विरुद्ध जनमत तैयार करते हैं। साथ ही ये सरकार की नीतियों का विश्लेषण करके जनता में राजनीतिक चेतना उत्पन्न करते हैं। संसद के अधिवेशनों में ये दल सरकार से उसकी नीतियों पर प्रश्न कर सकते हैं और स्पष्टीकरण मांग सकते हैं। यह दूसरी बात है कि संसद में इन दलों के बीच अपेक्षित सहयोग का अभाव बढ़ता गया है।[२] सरकार जिस पार्टी की बनती है उसके सांसदों में से ही मिनिस्टर या मन्त्री बनते हैं। विधान सभा सदस्य को एम० एल० ए० कहा जाता है।[३] जनतन्त्र में अखबारों का भी बड़ा भारी महत्त्व है। जहाँ ये अखबार सरकारी रीति-नीति से जनता को परिचित कराते हैं, वहीं ये जनमत जागृत करने और विज्ञापन के भी बहुत अच्छे साधन हैं।[४]

---

६ कबीर सिंह "रंग" : ५५ की श्रेष्ठ कविताएँ, पृ० ६७ – ६८, नवसाहित्य प्रकाशन, नई दिल्ली – ६, प्रथम संस्करण १९५६।

७ धूमिल : संसद से सड़क तक, पृ० ११६, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७२।

१ सुरेन्द्र तिवारी : चुभते हुए, पृ० २७, राधा कृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७१।

२ भवानी प्रसाद मिश्र : गांधी पंचशती, पृ० ३२३, सरला प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९६९।

३ मदन वात्स्यायन : तीसरा सप्तक, पृ० ८१, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, तृतीय संस्करण, १९६७।

४ [illegible] : कविताएँ १९६४, पृ० ६५, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९६६।

इस प्रकार बनी हुई सरकारी रीति - नीति का पालन कराने के लिये प्रत्येक प्रान्त का अपना पुलिस बल होता है। पुलिस का कार्य देश में कानून तथा व्यवस्था बनाए रखना है।[1] कथन की " .... नई दिल्ली किसकी है ? " शीर्षक कविता में केन्द्र की राजधानी दिल्ली में सरकार के सम्पूर्ण शासन तन्त्र का उल्लेख हुआ है। इसमें राष्ट्रपति, प्रधान मन्त्री, राज्यमंत्री, उपमंत्री, वर्ग - ब - वर्ग सचिव, अफसर आदि के रहने की बात कही गई है।[2]

इसके अतिरिक्त इन कविताओं में किसी " राजकीय व्यक्ति की मृत्यु पर झण्डे झुकाये जाने तथा तोपों द्वारा अन्तिम सलामी दिये जाने की भी चर्चा हुई है।[3] सरकार द्वारा नियमानुसार अनेक जन - तान्त्रिक संस्थाओं को, जो रजिस्टर्ड होती हैं, अनुदान देने का भी स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कविता में उल्लेख हुआ है।[4]

किन्तु वास्तविकता यह है कि वर्तमान शासन तन्त्र में संविधान के अतिरिक्त हमारा अपना कुछ भी नहीं है। शासन - पद्धति से शिक्षा - पद्धति तक सब कुछ " ब्रिटिश राज का खण्डहर " है।[5] इस शासन तन्त्र में

---

१ वीरेन्द्रकुमार जैन : शून्य पुरुष और वस्तुएँ, पृ० ३०८, भारतीय ज्ञान-पीठ, काशी, प्रथम संस्करण, अक्टूबर, १९७२।

२ कृष्णन : [illegible], पृ० १६, राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७३।

३ सुरेन्द्र तिवारी : जागते हुए, पृ० ७१, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७१।

४ -वही - पृ० ५६।

५ उदयशंकर भट्ट : पूर्वापर, पृ० १२८, आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९५३।

अंग्रेज़ी काल की " अफसर शाही " अभी भी विद्यमान है। मदन वात्स्यायन की " सरकारी कारखाने में कर्मचारी की चिन्ता "[१] शीर्षक कविता में इस तथ्य को भली प्रकार उजागर किया गया है।

२- विधान तथा दण्ड - विधान

संसद तथा विधान सभा देश और जनता के हित में राष्ट्रीय संविधान के अनुसार अपने - अपने विधान बनाती है। इन विधानों में जहाँ दण्ड - विधान हैं, वहीं देश की गरीब जनता को राहत देने के लिये भी विधान बनाए गए हैं। किन्तु स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कविता में ऐसे विधानों का प्रायः उल्लेख नहीं है। दण्ड विधान में इन कविताओं में कारावास, फाँसी, नालिश आदि का उल्लेख है। अनेक अपराधों पर भारतीय दण्ड विधान में कारावास के दण्ड की व्यवस्था है किन्तु हत्या के अपराध में फाँसी की व्यवस्था भारतीय दण्ड विधान में की गई है।[२] भारतीय संविधान में प्रत्येक व्यक्ति को (अपराधी को भी) न्यायालय में अपनी सफाई देने का अधिकार प्राप्त है।[३] इसी प्रकार कर्ज का धन न चुकाने पर कर्जदार के ऊपर न्यायालय में नालिश करने की भी भारतीय कानून में व्यवस्था है।[४] युवावस्था में कोई व्यक्ति

---

१ मदन वात्स्यायन : तीसरा सप्तक, पृ० १०१, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, तृतीय संस्करण, १९६७।

२ ओम प्रभाकर : पुष्प चरित, पृ० ७७, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७३।

३ वीरेन्द्र कुमार जैन : शून्य पुरुष और वस्तुएँ, पृ० २०८, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, अक्टूबर, १९७२।

४ मुक्तिबोध : चाँद का मुँह टेढ़ा है, पृ० १७८, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, १९७१।

५ बच्चन : कटती प्रतिमाओं की आवाज़, पृ० ५४, राजपाल एण्ड संस, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९६८।

अपनी सम्पत्ति अपने पुत्रों में बाँटने के लिये वसीयत कर सकता है। अन्यथा उसकी मृत्यु के उपरान्त सही बटवारे के लिये उसके पुत्र न्यायालय में भी जा सकते हैं। किन्तु न्यायालय में वर्तमान कानूनों की पेचीदगी बहुत अधिक है। ये पेचीदगी यहाँ तक है कि "बेटों को भी सही बाप का बेटा साबित करने में दिक्कत होती है।" [१]

गरीब जनता को लाभ पहुँचाने, शोषण, जमाखोरी, मिलावट आदि को रोकने के लिये जो कानून पास हुए हैं वे प्राय: अपने उद्देश्यों की पूर्ति में असफल रहे हैं। इसीलिये प्रभाकर माचवे इन कानूनों को "वैधानिकों के स्वांग" कहते हैं।[२]

३- युद्ध और शान्ति

भारत के सन्दर्भ में यह अत्यन्त महत्व का विषय है। अंग्रेजों से स्वतन्त्रता प्राप्त होने के पूर्व का यदि इतिहास उठाकर देखा जाय तो पता चलता है कि इस देश में शासन के झगड़ों के निपटारे तलवार के बल पर युद्ध के मैदान में होते थे। किन्तु स्वतन्त्रता से पूर्व ही महात्मा गान्धी ने इस देश के जन - जन को एक नया संदेश दिया। उन्होंने यह सिद्ध कर दिया कि शासन के झगड़े का निपटारा शान्ति और अहिंसा से भी हो सकता है। भारतीय जनता, जो शासकों के इंगित पर तो जूझती रही है किन्तु स्वयं उसने कभी एक शान्ति जैसी किसी बात

---

१ प्रभाकर माचवे : [illegible], पृ० ४६, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, १९५९।

२ भवानी प्रसाद मिश्र : गांधी पंचशती, पृ० १४६, सरला प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९६९।

को नहीं जाना, वह शान्ति और अहिंसा के सिद्धान्त से सन्तुष्ट हो गई। किन्तु उसके मस्तिष्क में परम्परा से युद्ध के ही आदर्श भरे थे। उसने गांधी वादी अहिंसा और शान्ति को बड़े आश्चर्य चकित होकर स्वीकारा। उसकी समझ में नहीं आता था कि महान आततायी के सम्मुख यह शान्ति और अहिंसा कहाँ तक सफल हो सकती है। किन्तु उसने उसे सफल होते देख लिया था इसलिये उसे स्वीकार भी लिया। उसने माना ——

"आदमी की हार पहली और पक्की तब हुई थी
जब कि म्यानों में छुपी तलवार और बन्दूक निकली" १

उसे आशा होने लगी कि "आजका युग शायद रात का पिछला प्रहर है" इसके समाप्त होने के साथ ही भोर होगी और पूरा विश्व शान्ति और अहिंसा में विश्वास करने लगेगा।

स्वतन्त्रता के उपरान्त चीन से भारत की मित्रता शुरू होने लगी। दोनों देशों ने मिल कर पंचशील का नारा लगाया। किन्तु वही चीन सन् १९६२ में भारत पर आक्रमण कर बैठा। और तभी शान्ति और अहिंसा के नशे में चूर भारत को पहली बार गान्धी की सत्य और अहिंसा की शक्ति का सही परिचय मिला। उसने "माताओं को शोक, युवतियों को विषाद करते और बेकसूर बच्चों को अनाथ होकर रोते देखा।" २ उसके मन ने कहा क्या यही शान्तिवाद है जिसके द्वारा हम इनकी रक्षा नहीं कर सके। यहीं से उसके मन में युद्ध और शान्ति को लेकर संघर्ष प्रारम्भ

---

२ दिनकर : परशुराम की प्रतीक्षा, पृ० ५७, उदयाचल, राजेन्द्र नगर, पटना - ४, तृतीय संस्करण, १९६६।

होने लगा । वह सोचने लगा —

"" रुधिर में रहे शील या ताप ;
अहिंसा वर है अथवा शाप ;
युद्ध है पुण्य या कि दुष्पाप ;
आज सारा विवाद त्यागो ।
गांधी की रक्षा करने को गांधी से भागो । ""[१]

उसने अनुभव किया कि उसके हाथ में " अहिंसा का टिमटिमाता दिया " देकर उसे " अंधेरे बियाबान में चारों ओर से भेड़ियों के बीच आजाद " कर दिया गया है ।[२] यहाँ से उसका मोहभंग हुआ । जिस आधार पर उसकी स्वतन्त्रता और राजनीति की नींव रखी गई थी वह आधार ही खोखला निकला । उसका एक साथ ही समस्त राजनीति से विश्वास उठने लगा और स्वतन्त्रता के बाद की सम्पूर्ण राजनीति का उसने पुनर्मूल्यांकन करना प्रारम्भ किया ।

जो भी हो भारतीय जन - जीवन इस झटके को सहन कर गया और संभल भी गया । उसने इस सीमा के संकट को स्वतन्त्रता पर संकट माना और उसका जातीय गौरव हुंकार उठा । उसे झांसी की रानी, तात्या टोपे, चन्द्रशेखर आजाद और भगत सिंह[३] की गौरव गाथाएँ

---

१ दिनकर : परशुराम की प्रतीक्षा, पृ० ५८, उदयाचल, राजेन्द्रनगर, पटना - ४, तृतीय संस्करण, १९६६ ।

२ सुरेन्द्र तिवारी : बुझती धूप, पृ० ३३, राधा कृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७१ ।

३ दिनकर : परशुराम की प्रतीक्षा, पृ० ९-१०, उदयाचल, राजेन्द्र नगर, पटना - ४, तृतीय संस्करण, १९६६ ।

पुनः याद हो आई"। स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कवियों ने पुनः युद्ध के गीत गाना प्रारम्भ कर दिया। परिणामतः शान्ति और अहिंसा में विश्वास करने वाले कवियों ने, जिनका कहना था — "यह नहीं इन्सान की है सभ्यता, स्वार्थ, लालच, युद्ध जिसके देवता"[1] अनुभव किया कि —

"युद्ध है व्यापार में, युद्ध है विचार में,
व्यापार की पुकार में – युद्ध है आजकल"[2]

वास्तविकता यह है कि भारतीय जन सामान्य ने पूरी तरह गान्धी के शान्ति और अहिंसा पर कभी विश्वास किया ही नहीं था। आजादी की लड़ाई में भी एक वर्ग जो गरमदल या क्रान्तिकारियों के नाम से जाना जाता था, भी सक्रिय था। यही कारण है कि युद्ध की परम्परा इस देश की टूटी नहीं थी और इसीलिये चीन के आक्रमण के उपरान्त इस देश ने युद्ध और सैन्य शक्ति के सम्बन्ध में प्रगति की जिसका प्रमाण सन् १९६५ – ६८ और ७१ के युद्धों से मिल जाता है। युद्ध काल में देश जिस प्रकार उद्वेलित हो उठता है, उसे इस युग के कवि बड़ी सूक्ष्मता से परखते और चित्रित करते रहे हैं। सन् १९६८ के युद्ध के समय युद्ध संबंधी लाखों कवितायें लिखी गई थीं। जिससे यह पता लगता है कि स्वातन्त्र्योत्तर कवि लोक – जीवन की नाड़ी को अच्छी प्रकार पहचानता है।

स्वतन्त्रता के उपरान्त यों तो देश में शान्ति और व्यवस्था बनी रही थी। किन्तु स्वतन्त्रता के समय हिंसात्मक साम्प्रदायिक दंगों ने

---

१ गिरिजा कुमार माथुर : धूप के धान, पृ० ८६, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, द्वितीय संस्करण, १९५५।

२ उदयशंकर भट्ट : पूर्वापर, पृ० ८ आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९६३।

भी देश में युद्ध – युद्ध का स्वरूप प्रस्तुत कर दिया था । इस हिंसात्मक घटना पर भी उस युग का कवि अपनी कलम नहीं रोक सका । उसकी स्वतन्त्र लेखनी ने उस संघर्ष के वर्णन और उसमें हुए अत्याचारों के चित्रण भी किये हैं । उदयशंकर भट्ट की एक कविता में, उन दंगों में किस प्रकार लोग गलियों और कोठों और छतों पर लाठियां लेकर दिल दहलाने वाले नारे लगाते थे, किस प्रकार युवकों की टोलियां चलीं तथा किस प्रकार माँ बहनों के साथ बलात्कार और अत्याचार हुए, का सफल चित्रण हुआ है ।[1]

५– स्वातन्त्र्योत्तर भारत का पुनर्मूल्यांकन

स्वतन्त्रता के उपरान्त यद्यपि भारत में सरकार की ओर से प्रत्येक वर्ग के हित के लिये अनेक प्रयास किये गये हैं तथापि उनका लाभ प्रत्येक वर्ग को प्राप्त नहीं हो सका । सामाजिक जीवन में संक्रान्ति, आर्थिक जीवन में अभाव, नैतिकता तथा चरित्र का विघटन आदि बढ़ते ही गए हैं ।

स्वातन्त्र्योत्तर कवि ने यह स्पष्ट देखा है कि जो हर प्रकार के धन और पद से दूर रहना चाहता था, उस व्यक्ति की मृत्यु पर जुलूस निकाला गया, उसके नाम पर स्मारक निधि खोली गईं, राजघाट पर

---

१ उदयशंकर भट्ट : [illegible], पृ० [illegible] आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९६३ ।

समाधि बनाई गई।[1] और इस प्रकार गांधी के सिद्धान्तों को उन्हीं के साथ दफना दिया गया। उसने देखा है कि देश की राजधानी दिल्ली से देश-हित में कुछ पोथे और अर्थहीन नारे पूरे देश में फेंक दिये जाते हैं। उसकी दृष्टि में राजधानी ----

"एक बहुत बड़ा ढोल है
संसद भवन ही नहीं
यहाँ तक पहुँचने का
हर रास्ता भी गोल है"[2]

वह अनुभव करता है कि "दिल्ली में रोशनी" है किन्तु "शेष भारत में अंधियारा है।"[3] स्वतन्त्रता के उपरान्त, स्वतन्त्रता के लिये संघर्ष करने वाले नेताओं ने स्वतन्त्रता को अपने "साधनों" का फल भोगने की वेला" समझ लिया है।[4] फलतः "राजनीति के गांडीव में नेतृत्व व स्वार्थ का पंक और गहरा हो गया" है तथा "उसकी टंकार में अब अत्याचार, अनाचार के नगारों के स्वर और जुड़ गये हैं।"[5] देश का विभाजन नेताओं ने स्वयं शासक बनने के लिये करा दिया।[6] स्वतन्त्रता मिलते ही खुशामदों का बाजार गर्म हो गया। सरकारी नौकरियों में जाति,

---

1 बच्चन : जाल समेटा, पृ० २६, राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७३।

2 सुरेन्द्र तिवारी : सुलगते पृष्ठ, पृ० ७८, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७१।

3 दिनकर : परशुराम की प्रतीक्षा, उदयाचल, राजेन्द्र नगर – पटना –४, पृ० ७८, तृतीय संस्करण, १९६६।

4 बच्चन : कटती प्रतिमाओं की आवाज़, पृ० ५२, राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली, प्रथम संस्करण १९६८।

5 अजितकुमार : कविताएं १९६५, पृ० १९, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९६६।

6 बच्चन : कटती प्रतिमाओं की आवाज़, पृ० ५२, राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९६८।

प्रान्त या रिश्तेदारी के आधार पर नियुक्तियाँ, समानता के सिद्धान्त को ताक पर रख कर व्यक्ति की योग्यता देखी जाने लगी।[1] स्वतन्त्रता के उपरान्त रिश्वत, चोरबाजारी, जमाखोरी, चापलूसी आदि बढ़ती ही गई।[2] नेताओं के पास भाषण देने के अतिरिक्त मानो और कोई काम ही नहीं रह गया।[3] शासन में नैतिकता भी नहीं रह गई है[4] परिणामतः बिना बताए ही रेलवे के स्लीपरों की चोरी होती है,[5] नकली दवाओं के व्यापारियों को दण्ड नहीं मिल पाता,[6] छात्रों में असन्तोष है, जिसके कारण देश में तोड़-फोड़ बढ़ गई है।[7]

धूमिल की 'संसद से सड़क तक' नामक पुस्तक में राजनीति के भीतर फैली अनैतिकता को बड़े तीखे स्वर में उजागर किया गया है। उनके अनुसार सत्ता की दृष्टि में भूख से मरा हुआ आदमी चुनावों के लिये "सबसे दिलचस्प विज्ञापन है और भूख सबसे सटीक नारा है।"[8] सरकार आश्वासन और मात्र नारे देता है और वे ------

---

1 उदयशंकर भट्ट : युगदीप, पृ० १२७, आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९६३।

2 -वही- पृ० १२१।

3 दिनकर : परशुराम की प्रतीक्षा, पृ० ६६, उदयाचल, राजेन्द्र नगर, पटना - ४, द्वितीय संस्करण १९६६।

4 -वही- पृ० ६।

5 -वही- पृ० ६१।

6 -वही- पृ० ६३।

7 -वही- पृ० ६३।

8 धूमिल : संसद से सड़क तक, पृ० १२०, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण १९७२।

" दीवारों पर लिखे
खिलखिलाते " स्लोगन "
कातर की भाँति रेंग कर
भागती भीड़ों की पीठ में
।अपनी कीलें गाड़ प्रवेश कर।
चिपक गए। " १

इन्हीं नारों में एक नारा " समाजवाद " श्रीमती इन्दिरा गान्धी, ।वर्तमान प्रधान मंत्री। की ओर से चुनावों में उछाला गया और इस नारे का भी वही हाल हुआ जो अब तक सभी नारों का होता रहा है। धूमिल कहते हैं —

" मगर मैं जानता हूँ कि मेरे देश का समाजवाद
मालगोदाम में लटकती हुई
उन बाल्टियों की तरह है जिनपर " आग " लिखा है
और उनमें बालू और पानी भरा है। " २

लोग अब उस " मुनादी " को समझ गये हैं, जो आजादी और गांधी के नाम पर चल रही है; जिससे न भूख मिट रही है न मौसम बदल रहा है।[3] वह देश की गरीबी का कारण वित्तमंत्री की गलत आर्थिक नीति और शासन में व्याप्त भ्रष्टाचार को मानता है, जिसके द्वारा नेताओं के

---

१ रमेश कुमार शर्मा, एक अपरिचित आकाश, पृ० ५८, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७३।

२ धूमिल : संसद से सड़क तक, पृ० १३६, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७२।

३ -वही- पृ० ११।

रिश्तेदार राशन की दुकानें प्राप्त कर लेते हैं किन्तु एक ईमानदार व्यापारी प्राप्त नहीं कर पाता[1] --- जय प्रदर्शन - प्रियता, प्रभुता ---(गई जहन्नुम जन-सेवा)।[2] परिणामतः स्वातन्त्र्योत्तर कवि की कविता में चुटीला पन आ गया है, उसकी भावना में एक दर्द है, जो सम्पूर्ण "लोक - जीवन" का है, अकेले उसका अपना नहीं। वह कहता है ---

> "" हर राह जनपथ है मगर वह जनता हम नहीं हैं
> जिसके नाम मात्र पर चलती हैं राजकाज विमान पर सवार
> जिसके नाम पर बहसें होती हैं संसद में, हम वह नहीं,
> वह जनता है कहीं पर तिजोरियों में बन्द किसी
> हम सिर्फ जनते हैं - जनते हैं कीड़ों के कोटरों में। ""[3]

वर्तमान कवि शासन के प्रति झल्लाया हुआ है, उससे निराश है। वह झल्ला कर "जनता" की व्याख्या करता है कि "" यह एक शब्द...!.. सिर्फ एक शब्द है.... एक भेड़ है जो दूसरों की ठण्ड के लिये अपनी पीठ पर, ऊन की फ़सल ढो रही है। ""[4] क्योंकि सत्ता की दृष्टि में जनता और जरायम पेशा औरतों के बीच की सरल रेखा को काट कर नेताओं ने "स्वास्तिक" चिन्ह बना लिया है और एक गोल चमकदार शब्द "जनतन्त्र" हवा में फेंक दिया है जिसकी वे स्वयं रोज़ हत्या करते हैं।[5] बेरोज़गारी

---

१ धूमिल : संसद से सड़क तक, पृ० ६०, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७२।

२ बच्चन : कटती प्रतिमाओं की आवाज़, पृ० १०५, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९६८।

३ राजीव सक्सेना : आत्मनिर्वासन तथा अन्य कविताएँ, पृ० ८८, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९६९।

४ धूमिल : संसद से सड़क तक, पृ० ११५, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७२।

५ -वही - पृ० ५८।

ने नवयुवकों को तोड़ दिया है वे बदले में राष्ट्रीय सम्पत्ति को तोड़ - फोड़ रहे हैं । [१]

यह सही है कि इन दिनों सरकार की ओर से अनेक कदम उठाये गए हैं । " कुछ अर्जियां मंजूर हुईं हैं, कुछ तबादले हुए हैं "। मगर इसका भी लाभ कुछ ही लोगों को प्राप्त हुआ है । आज मन्त्री लोग जनता के सम्मुख बड़े - बड़े वायदे करते हैं किन्तु वे वायदे पूरे नहीं होते । [२] अतः आज का कवि अनुभव करता है कि ——

"" कन्धों पर बोझ उलीच रहा शासन
कुमारी चरण का विषधर सिंहासन "" [३]

उसे हर चौपाल मर्सिया पढ़ती सी लगती है तथा आजादी एक लंगड़ी औरत सी लगती है जिसके मार्ग में अन्धकार सा गणतन्त्र लेट गया है । [४] परिणामतः उसे सम्पूर्ण देश अर्थी - सा और राज्य सभा उत्सव सी लगती है । जहाँ प्रतिपल मानवता अपमानित होती है । [५]

देश के इस पुनर्मूल्यांकन में वह पाता है कि " एक बहुत बड़ी आग " [६] उसके मुल्क में फैल चुकी है । किन्तु इस आग को निष्प्रभित कर दिया गया है, उसे दबाया गया है । [७] वह देखता है कि ——

---

१ धूमिल : संसद से सड़क तक, पृ० १०२, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७२ ।

२ -वही- पृ० १०३ ।

३ शिवा सागर वर्मा : कौवों के पाँव, पृ० ४१, क्षितिज प्रकाशन, इन्दौर, प्रथम संस्करण, १९७१ ।

४ -वही- पृ० ७ ।

५ -वही- पृ० ७ ।

" चंद नपुंसक आवाज़ें
उस सील के विरुद्ध अपना सिर पीट रही हैं
जिसके भीतर हम जी रहे हैं
लेकिन यह केवल अभ्यास मात्र है
एक तमाशा
जो तालियों की गड़गड़ाहट
और वाहवाही के बीच
रोज़ दोहराया जाता है " [1]

वह इस तमाशे जैसे विरोध का परिणाम भी जानता है। उसे ज्ञात है ——

" नहीं, कुछ नहीं होगा —
बन्द मुट्ठियों में उबलता आक्रोश
जेबों में पड़ा - पड़ा सड़ जायेगा
कविता की पंक्तियों में धड़क रहा तुम्हारा रक्त
बाहर की दुनिया में आते ही
निमोनिया से मर जायेगा। " [2]

---

६ प्रणव कुमार बन्द्योपाध्याय : मृत शिशुओं के लिए प्रार्थना, पृ० ५३, पाण्डुलिपि प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७३।

७ बच्चन : कविताएँ १९६४, पृ० ८७, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९६६।

१ रमेश कुमार शर्मा : एक अपरिचित आकाश, पृ० ३१, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७३।

२ -वही- पृ० ३१ ।

इसलिये वह कहता है कि "चुपचाप शराबों के घूंट के साथ निगल जाओ एक टुकड़ा आकाश और चार टुकड़े अन्याय।"[1] इस मरते हुए विद्रोह के साथ उसके पास सत्ता से प्रार्थना करने के अतिरिक्त और कुछ शेष नहीं रह जाता।[2] उसे देश में एकता, दया और क्रान्ति जैसी बातें थोथी और निरर्थक लगती हैं ——

"और मैं सोचने लगता हूँ कि इस देश में
एकता युद्ध की और दया
अकाल की पूंजी है।
क्रान्ति —
यहाँ के असंग लोगों के लिये
किसी अबोध बच्चे के —
हाथों की जूजी है।"[3]

५- स्वातन्त्र्योत्तर भारत की राजनीतिक समस्याएँ

स्वतन्त्रता के उपरान्त भारत में कुछ समस्याएँ एक साथ उठ खड़ी हुई हैं। इन समस्याओं में भाषा की समस्या सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। देश की राष्ट्र भाषा कौन सी हो इस प्रश्न को राजनीतिज्ञों

---

१ रमेश कुमार शर्मा : एक पुनरारम्भित आकाश, पृ० ३१, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७३।

२ भवानी प्रसाद मिश्र : गांधी पंचशती, पृ० १४३, सस्ता प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण १९६९।

३ धूमिल : संसद से सड़क तक, पृ० २०, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७२।

ने भाषा का प्रश्न न रहने देकर राजनीति का विषय बना दिया । देश में अंग्रेज़ी को केवल इसलिये बनाए रखा जा रहा है कि हिन्दी को दक्षिण में स्वीकार नहीं किया जायेगा । और इस प्रकार राजनीतिज्ञ लोग भाषा के नाम पर लोगों को लड़ाते हैं । हिन्दी केवल नाम की राष्ट्रभाषा है । स्वातन्त्र्योत्तर कवि अपनी भाषा को अंग्रेज़ी के समक्ष एक " महरी " से अधिक नहीं पाता ।[1] अंग्रेज़ी और हिन्दी के सौतेले व्यवहार के साथ - साथ भारतीय भाषाओं में आपसी झगड़ा भी राजनीतिज्ञों के ही कारण है । वर्तमान कवि स्पष्ट कहता है कि ——

" हाय ! जो असली कसाई है
उसकी निगाह में
तुम्हारा यह तमिल - दुख
मेरी इस भोजपुरी पीड़ा का भाई है "[2]

भाषा के अतिरिक्त दूसरी समस्या, सम्प्रदायवाद की है । स्वतन्त्रता के साथ ही पूरे देश में साम्प्रदायिकता की आग जलने लगी थी जिसका परिणाम पाकिस्तान है । वर्तमान कवि इस साम्प्रदायिक समस्या के सुलझाने का भी कोई मार्ग नहीं पाता । वह देखता है कि मन्दिर और मस्जिदें अपनी - अपनी धुन में डूबे हैं और सरकारों को " गिरगिट " की तरह रंग बदलने के अतिरिक्त कोई काम नहीं ।[3] धर्म के नाम पर

---

१ धूमिल : संसद से सड़क तक, पृ० १५, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७२ ।

२ —वही — पृ० १०५ ।

३ रमेश कुमार शर्मा : एक अपरिचित आकाश, पृ० ८१, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७३ ।

होने वाले झगड़ों ने स्वतन्त्रता के उपरान्त धर्म की उपेक्षा की है । यद्यपि संविधान में भारत को धर्म निरपेक्ष राज्य कहा गया है तथापि धर्मनिरपेक्षता वर्तमान कानूनों के अन्तर्गत रह नहीं पाती । अत: वर्तमान कवि यह आवश्यक समझता है कि धर्मान्धों को वह स्वयं फटकारे. --

"" पुरखों का अभिमान तुम्हारा
और वीरता देखी
राम मुहम्मद की सन्तानों
व्यर्थ न मारो शेखी । "" [1]

तीसरी समस्या इस देश में युद्ध और शान्ति की समस्या है । इस समस्या के प्रति स्वातंत्र्योत्तर कवि का दृष्टिकोण वही प्राचीन दृष्टिकोण है । उसकी मान्यता है कि शांति के लिए भी शक्ति की आवश्यकता है ।[2] इस दिशा में सरकार का भी ध्यान गया है और उसने अनेक प्रशंसनीय कदम उठाये हैं । सन् १९६५,१९६८ और १९७१ के युद्ध इसके प्रमाण हैं । अभी कुछ दिन पूर्व भारत ने परमाणु विस्फोट भी किया है किन्तु अपनी ओर से किसी पर आक्रमण न करने की नीति पर वह अभी भी स्थिर है ।

एक समस्या राजनीति में नेताओं के खोखलेपन तथा आत्मविज्ञापन की भी है । इसके कारण देश की आन्तरिक राजनीति बहुत कुछ गन्दी हुई है । आज स्थिति यह है कि ---

"" जिसने बहुत किया
उसने कहा मैंने कुछ नहीं किया ।

---

१ शिवमंगलसिंह "सुमन" : पृ० ८९, राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७२ ।

२ दिनकर : परशुराम की प्रतीक्षा, पृ० २८, उदयाचल, राजेन्द्रनगर, पटना - ४, तृतीय संस्करण, १९६६ ।

जिसने कम किया
उसने कहा भी बहुत किया
जिसने कुछ नहीं किया
उसने कहा भी सब कुछ किया ।" [१]

निष्कर्ष

उपर्युक्त अध्ययन से निष्कर्ष निकलता है कि स्वातन्त्र्योत्तर कवि की दृष्टि, लोक के राजनीतिक जीवन पर अधिक टिकी है । उसने सभी प्रश्नों के हल राजनीति में खोजने की चेष्टा की है । यहीं उसकी वैचारिकता भी दीख पड़ी है ।

सर्वाधिक प्रशंसनीय बात इस कवि की यह है कि इसने साहस पूर्वक बिना किसी पूर्वाग्रह के स्वातन्त्र्योत्तर भारत का पुनर्मूल्यांकन किया है और जो कुछ उसने पाया है, उसे निःसंकोच कविता में उतारा है । इस प्रकार जहाँ उसकी लेखनी की स्वतन्त्रता बनी रही है, वहीं कविता के प्रति उसकी ईमानदारी भी निर्भ्रान्त हो गई है । इससे उसकी जागरूकता का भी संकेत मिलता है । स्वातन्त्र्योत्तर कविता में लोक के राजनीतिक जीवन का यह वास्तविक चित्रण जहाँ नये कवियों ने किया है, वहीं पिछले दौर के कवि भी कुछ ऐसा ही अनुभव करते रहे हैं ।

---

१ बच्चन : कटती प्रतिमाओं की आवाज, पृ० ४०, राजपाल एण्ड संस, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९६८ ।

सप्तम अध्याय

उपसंहार

सप्तम अध्याय

उपसंहार

स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कविता में लोक-जीवन के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि स्वतन्त्रता के उपरान्त हिन्दी-कविता अपने पूर्व की हिन्दी कविता की अपेक्षा लोक - जीवन के अधिक निकट आई है। इस कविता में लोक - जीवन का सर्वांगीण चित्रण हुआ है। इस अध्ययन के परिणाम स्वरूप निकले कतिपय निष्कर्ष इस प्रकार है :-

१- स्वतन्त्रता के उपरान्त हिन्दी कविता का लोक-जीवन से जैसा सीधा और सहज सम्बन्ध स्थापित हुआ है, वैसा हिन्दी साहित्य के आदिकाल से लेकर इससे पूर्व तक कदाचित कभी नहीं हुआ था। प्राचीन कविता में "भक्तों ने भगवान की, चारणों ने सत्ताधारियों की, चाटुकारों ने वैभवशालियों की, प्रेमियों ने प्रेमिकाओं की, साधकों ने अन्तर्जगत् के रहस्यों की तथा विलासियों ने नारी के बाह्य सौन्दर्य की उपासना अधिक की।"[1] किन्तु स्वतन्त्रता के उपरान्त जबकि देश जनतन्त्र और समाजवाद की ओर आगे बढ़ रहा है। कविता ने जनता से सीधा संपर्क स्थापित करना ही अपना दायित्व समझा है। स्वतन्त्रता के उपरान्त समस्त शक्तियाँ जनता के हाथों में आगईं। समाज और देश के ऊपर न तो राजशाही का ही आधिपत्य रहा और न तो पूँजी-पतियों का। धर्म के बन्धन और परम्पराओं की कट्टरता में भी शिथिलता आगई है। जनता भी अपनी शक्ति के प्रति सजग हुई है। यद्यपि निहित स्वार्थ वाले वर्ग समाजवाद और प्रजातन्त्र के

---

१ जगन्नाथ प्रसाद "मिलिन्द" : भूमि की अनुभूति, साहित्य प्रकाशन मन्दिर, ग्वालियर, पृ० ३, प्रथम संस्करण १९५२।

मार्ग में बाधाएं उत्पन्न कर रहे हैं (ह्रासोन्मुखी पूँजीवादी शक्तियों के प्रभाव की भी इसके पीछे अपनी भूमिका है) तथापि देश और समाज प्रजातन्त्र और समाजवाद की ओर निरन्तर बढ़ रहे हैं। आज का कवि एक ओर जहाँ यह अनुभव करता है कि " अब समय आगया है कि नये युग का कवि जन देवता की, मानवता की भी कुछ उपासना करे, उसके लघु, पीड़ित, शोषित तथा उपेक्षित अंग की भी। "[1] वहाँ वह उन बाधक शक्तियों की भी खबर लेता है जो लोक के विभिन्न वर्गों में फैली हुई हैं तथा समाजवाद और प्रजातन्त्र की हानि कर रही हैं। इसके लिये वह सत्ताधारी, पूँजीपति, अफसर, नकली नेता किसी को भी क्षमा नहीं करता। यहाँ तक कि जनता की निश्चेष्टता की भी वह " तीन टाँगों पर खड़ा धैर्य धन गदहा " कह कर खबर लेता है। इस प्रकार वर्तमान कविता स्वातन्त्र्योत्तर लोक-जीवन में आई जनतन्त्र और समाजवाद की भावना का प्रतिनिधित्व करती है।

२- स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कविता के सम्बन्ध में यह कहना अनुचित है कि एक वैयक्तिक सत्य की अभिव्यक्ति ही नयी कविता में उपलब्ध होती है। स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कवि अब व्यक्ति सत्य से ऊपर उठ कर सामाजिक सत्य में लीन हो जाना चाहता है —

" यह दीप अकेला स्नेह भरा।
गर्वभरा मदमाता, पर
इसको भी पंक्ति को दे दो। "[2]

---

१ जगन्नाथ प्रसाद " मिलिन्द " : भूमि की अनुभूति, पृ० ३ साहित्य प्रकाशन मन्दिर ग्वालियर, प्रथम संस्करण १९५२।

२ अज्ञेय : बावरा अहेरी, पृ० ५८, भारतीय ज्ञानपीठ काशी, द्वितीय संस्करण, १९७२।

वास्तविकता यह है कि भारतीय संविधान में एक ओर जहाँ व्यक्ति स्वातन्त्र्य की व्यवस्था है वहाँ "सामूहिक योजनाओं तथा अन्य नीतियों द्वारा इस स्वतन्त्रता को नियोजित भी किया जा रहा है।"[1] किन्तु यह दोनों बातें परस्पर विरोधी नहीं हैं और न ही यह स्वतन्त्र भारत के संविधान का अन्तर्विरोध है। अपितु ये दोनों बातें एक दूसरे की पूरक हैं। ये विरोधी हो सकती हैं रूस या अमेरिका जैसे अतिवादी देशों में, किन्तु भारत में यह एक दूसरे की सहयोगिनी हैं। भारतीय लोक - जीवन में इन दोनों की परम्परा भी अत्यन्त प्राचीन है। इस देश के लोक-मानस पर जहाँ अध्यात्म दर्शन का प्रभाव है, वहाँ चार्वाक जैसे भौतिकवादी दर्शन का भी प्रभाव है। यहाँ सदैव व्यक्ति - सत्ता-लोक सत्ता में लीन होती रही है। इसी कारण यहाँ के रण बाँकुरे युद्ध में शत्रुओं के छक्के छुड़ा देते थे, इसी की ताकत पर अंग्रेजों की दासता से यह देश स्वतन्त्र हुआ। यहाँ "हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्" का आदर्श रहा है। जिससे व्यक्ति - कल्याण और लोक-कल्याण दोनों ही सधते हैं। और भारतीय लोक - जीवन की यह विशेषता अभी समाप्त नहीं हुई है। सत्य तो यह है कि व्यक्ति चेतना के बिना व्यक्ति में समूह चेतना उत्पन्न हो ही नहीं सकती। जनतन्त्र में ही समाजवादी समाज की स्थापना सम्भव है। व्यक्ति के भीतर से ही व्यक्तिवादी चेतना के उपरान्त सामूहिक चेतना जनमती है, जिसके परिणामस्वरूप वह अपने आपको समूह के लिये समर्पित कर देता है। यही स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी-कविता के साथ भी हुआ। प्रयोगवादी कविता में जहाँ नितान्त वैयक्तिक सत्य

---

१ इन्द्रनाथ मदान : आधुनिक कविता का मूल्यांकन, पृ० १००, हिन्दी भवन, जालन्धर, प्रथम संस्करण, १९६२।

की अभिव्यक्ति हुई है, वहाँ प्रगतिवादी काव्य में नितान्त सामाजिक सत्य की अभिव्यक्ति हुई है। किन्तु जैसे ही भारत का अपना संविधान लागू हुआ, ये दोनों ही काव्य - प्रवृत्तियाँ अपना पृथक् अस्तित्व बनाए रखने में असफल सिद्ध हो गई। सन् १९५२ से प्रारम्भ होने वाली नई कविता में दोनों का समर्थन होने लगा।

३- स्वातन्त्र्योत्तर कवि लोक से पृथक् कोई अलौकिक प्राणी नहीं है। वह भी इसी पृथ्वी का प्राणी है। अपने परिवेश से वह भी प्रभावित होता है। अतः उसकी कविता में उसकी अभिव्यक्ति भी अनिवार्य रूप से होती है। यह दूसरी बात है कि यह अभिव्यक्ति सीधे-सीधे वस्तुवादी रूप में होती है या किसी माध्यम से। स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कवि ने दोनों ही पद्धतियाँ अपनाई हैं। यहाँ कुछ आलोचक इन पद्धतियों में प्रमुखता का प्रश्न उठाते हैं। और स्वतः ही उसका उत्तर देते हैं कि "" यह प्रयास वैयक्तिक धरातल पर हो रहा है। "" [१] किन्तु इस शोध के उपरान्त हमारी यह धारणा बनती है कि केवल ऐसा नहीं है। दोनों ही धरातलों पर इस प्रकार के प्रयास हुए हैं। चीन के आक्रमण के उपरान्त भारत में जो मोहभंग की स्थिति आई उससे कविता में व्यंग की प्रधानता हुई है। ये व्यंग अधिकतः समूह चेतना से ही प्रेरित हैं। यह दूसरी बात है कि समूह चेतना में व्यक्ति चेतना भी लीन है। सुरेन्द्र तिवारी, धूमिल, राजीव सक्सेना, रमेश कुमार शर्मा के अतिरिक्त भवानी प्रसाद मिश्र, बच्चन, अजित कुमार, वीरेन्द्र कुमार जैन, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना आदि की भी अनेक कविताएँ इसी प्रकार की कविताएँ हैं। अनेक कवि ऐसे भी हैं जिनकी प्रारम्भिक कविताओं में व्यक्ति का स्वर प्रधान है और बाद की कविताओं में समूह का।

---

१ इन्द्रनाथ मदान : आधुनिक कविता का मूल्यांकन, पृ० १००, हिन्दी भवन, जालन्धर, प्रथम संस्करण १९६७।

सन् १९७१ के भारत - पाक युद्ध ने इस लोक-सत्य के स्वर को और मुखर किया है। जब कवि निःसंकोच सत्ता पर प्रहार करता है तो उसे वैयक्तिक कदापि नहीं कह सकते। क्योंकि व्यक्तिगत स्तर पर उसे इस कार्य से हानि की ही अधिक संभावना रहती है। परिमल परिगोष्ठी में साहित्यकार यदि शासन की पकड़ से साहित्य को बचाने की बात करता है तो वह इसलिये नहीं कि उससे उसका कुछ व्यक्तिगत हित होने वाला है अपितु इसलिये कि वह जनता और सरकार में से जनता के पक्ष में रहना चाहता है। जिन्हें हम व्यक्तिवादी कवि कहते हैं वास्तविकता यह है कि उनके मूल में भी समूह - चेतना कार्यरत रहती है। और एक ही कवि की भिन्न - भिन्न कविताओं में उसकी अभिव्यक्ति भिन्न - भिन्न रूप में होती है —— कभी वैयक्तिक धरातल पर कभी सीधे-सीधे सामूहिक स्तर पर। बच्चन इसके सबसे सुन्दर उदाहरण हैं। वे जब दिल्ली को " मक्खिया शहर " कहते हैं[1] तो उनका व्यंग वैयक्तिक स्तर का नहीं रह जाता। यह बात बच्चन ही नहीं अन्य कवियों में भी देखी जा सकती है। वास्तविकता यह है कि व्यक्ति - चेतना और समाज चेतना दोनों ही व्यक्ति में होती है, उनको पृथक् नहीं किया जा सकता। स्वतन्त्रता के पूर्व जहाँ स्वतन्त्रता की भावना अधिक प्रमुख थी वहाँ स्वतन्त्रता के उपरान्त समाजवादी भावना अधिक प्रमुख हुई है। व्यक्ति स्वातन्त्र्य की वकालत करने वाले कवियों की कविताओं में भी यह बात देखी जा सकती है। स्वतन्त्रता के उपरान्त अब तक कविता में धीरे - धीरे वैयक्तिक स्वर निरन्तर क्षीण होता रहा है। प्रगतिवाद के पिछड़ने का कारण यह था कि उसका सामाजिक सत्य मार्क्सवाद या कम्युनिस्ट पार्टी से आता था। वहाँ व्यक्ति का

---

१ बच्चन : जाल समेटा, पृ० २८, राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली, प्रथम संस्करण १९७३।

स्वर उसमें नहीं मिला था किन्तु इस बार व्यक्ति के भीतर से ही समाज का स्वर फूटा है अतः उसमें शक्ति है। इससे स्वातन्त्र्योत्तर कविता की दिशा बहुत कुछ स्पष्ट हो गई है वह अब "ज्योतिषी, योगी या आचार्यों" की भविष्यवाणी की अपेक्षा नहीं रखती।

५- स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी-कविता को इस सर्वेक्षण की दृष्टि से हम इस प्रकार विभाजित कर सकते हैं ——
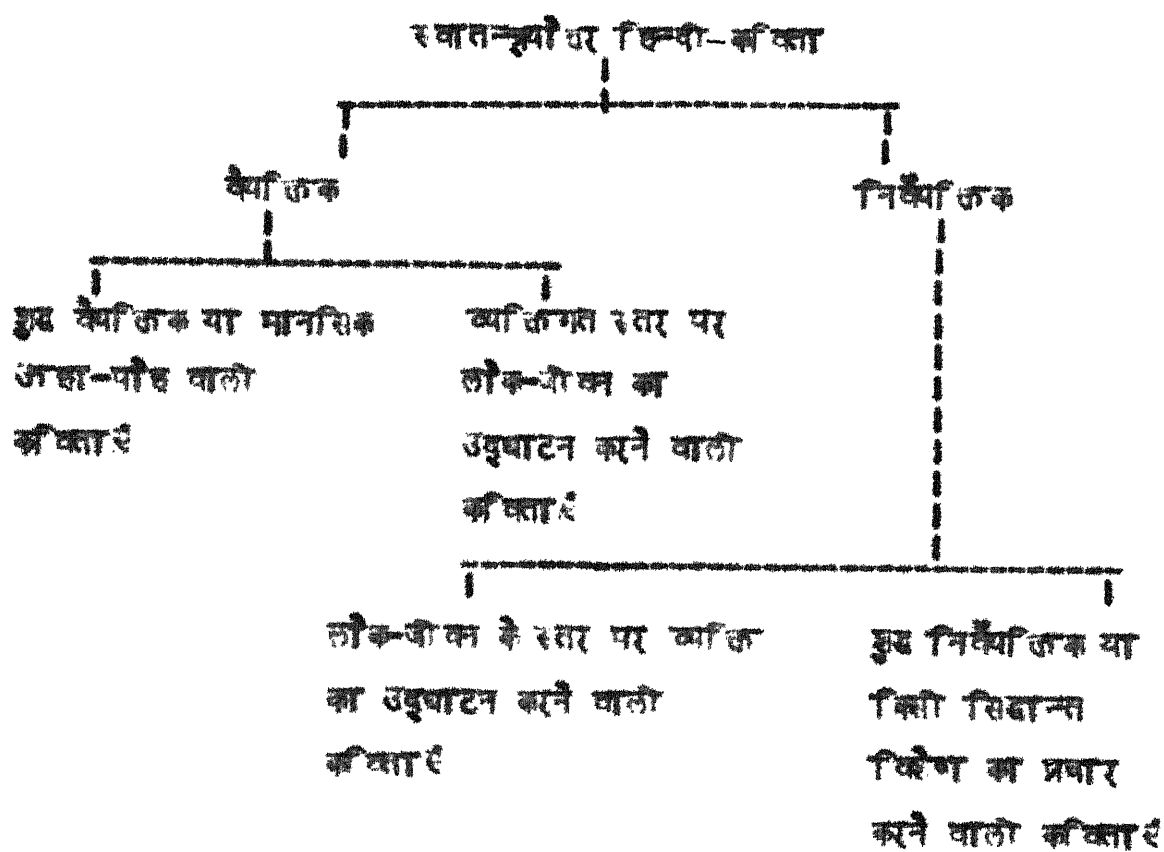
कहना न होगा कि इनमें पहली और चौथी प्रकार की कविताएं बहुत कम तथा स्वतन्त्रता के प्रारम्भिक काल में ही लिखी गई हैं। स्वतन्त्रता के प्रारम्भिक काल में यद्यपि दूसरी और तीसरी प्रकार की कविताएं भी मिलती हैं तथापि परिमाण की दृष्टि से वे नगण्य हैं। आगे नई कविता

का आन्दोलन जब इसके नेताओं के हाथ से निकल गया तब से लेकर दूसरे और तीसरे प्रकार की कविताओं की वृद्धि हुई है। यह वृद्धि चीन के आक्रमण के समय से और तीव्र हुई तथा सन् १९७१ के भारत-पाक युद्ध के उपरान्त बहुत अधिक हुई है। इनमें पहली प्रकार की कविताओं में अज्ञेय, श्रीकान्त वर्मा, लक्ष्मीकान्त वर्मा, विजयदेव नारायण साही, धर्मवीर भारती की अनेक कविताएँ आती हैं। चौथी प्रकार की कविताओं में सव्यसाची, रणजीत, विजयेन्द्र, कुमार विमल, वेणुगोपाल, कुमायल की अनेक कविताएँ आती हैं। इनमें दो प्रकार की प्रचारात्मक कविताएँ हैं —— १- कम्युनिस्ट सिद्धान्तों का प्रचार करने वाली, २- सर्वोदय का प्रचार करने वाली। शेष सभी रचनाओं में लोक-जीवन की अभिव्यक्ति हुई है। इनमें भवानी प्रसाद मिश्र, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, रमेश रंजक, ओम प्रभाकर, अजितकुमार, शमशेर बहादुर, केदार नाथ सिंह, केदार नाथ अग्रवाल, शकुन्त माथुर, नागार्जुन, दिनेश नन्दिनी, शिशुरश्मि, सुरेन्द्र तिवारी, राजीव सक्सेना आदि की कविताएँ हैं। कहना न होगा कि इन दूसरी और तीसरी प्रकार की कविताओं की ही स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कविताओं में अधिकता है। यदि गम्भीरता से देखा जाय तो हम पाते हैं कि पहली प्रकार की कविताओं में भी अभिव्यक्ति के माध्यमों को लोक-जीवन से ही ग्रहण किया गया है। और इस प्रकार प्रच्छन्न रूप से इन कविताओं में लोक-जीवन की ही अभिव्यक्ति हुई है। और चौथी प्रकार की कविताएँ भी चाहे वे किसी भी मतवाद से प्रेरित हों लोक के एक वर्ग —— दलित, शोषित और पीड़ित के जीवन की अभिव्यक्ति करती हैं।

५- इस प्रकार से स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कविता पर संप्रेषण हीनता का आरोप भी व्यर्थ सिद्ध हो जाता है। उसमें लोक-जीवन के सशक्त बिम्ब हैं, उसकी विषय वस्तु भी प्रायः लोक-जीवन से गृहीत है, यहाँ तक कि

उसकी भाषा तथा छन्दों पर भी लोक - भाषा और उसके छन्दों का प्रभाव है। साथ ही जैसा कि डा० नामवर सिंह ने संकेत किया है -- इस कविता में "सपाटबयानी" की प्रवृत्ति भी बहुत अधिक बढ़ी है।[1] केदार नाथ सिंह, सुरेन्द्र तिवारी, बच्चन, दिनकर, रघुवीर सहाय आदि की बहुत सी कविताएं इसका उदाहरण हैं। स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कविता में जो कुछ व्यक्तिवादी रचनाएं हैं, वास्तव में वे भी लोक की उस मानसिकता को ही उद्घाटित करती हैं जो व्यक्ति और लोक की स्थिति से है। हाँ, यह बात अवश्य है कि वर्तमान कविता में अपने बिम्ब, प्रतीक और उपमान परम्परित नहीं रहे हैं अपितु लोक - जीवन से और उसकी वर्तमान धारा से लिये हैं। अत: पुरानी कविता के आदी पाठकों को यह कविता अट-पटी अवश्य लग सकती है।

६- कवियों का एक वर्ग जो अपने को "अकवितावादी" कहता है तथा जो कविता तथा समाज में अराजकता का समर्थक है, वह वर्ग भी पाठकों में लोकप्रिय नहीं हो सका है। वास्तव में भारतीय लोक - जीवन अराजकता का कभी समर्थक नहीं रहा है और समस्त टूटन और बिखराव के उपरान्त भी उसमें अभी तक अराजकता नहीं आ सकी है। अत: इन कवियों ने लोक-जीवन के जो ऊहात्मक और अतिरंजित चित्र प्रस्तुत किये हैं वे लोक के आदर के पात्र नहीं बन सके हैं। इस प्रकार छायावाद से प्रारम्भ होने वाली वैयक्तिक कविता जो अकविता में नितान्त वैयक्तिक और अराजकता वादी होगई, स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कविता की सहज और वेगवान धारा में विलीन होगई। इसके अन्त के साथ ही स्वातन्त्र्योत्तर

---

[1] नामवर सिंह : कविता के नये प्रतिमान, पृ० १३४, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९६८।

हिन्दी कविता की दिशा और भी स्पष्ट हो जाती है। इन्हीं भावों से मुक्त होकर यदि स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कविता को देखा जाय तो यह स्पष्ट हो जाता है कि स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कविता की मुख्य धारा में व्यक्ति और समाज का विरोध निरन्तर कम हो रहा है। यह सही है कि इस प्रक्रिया में कविता के विभिन्न छोटे-छोटे आन्दोलनों की भी अपनी एक निश्चित भूमिका रही है।

७- स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी-कविता में लोक - जीवन के बाह्य और अन्तरंग दोनों का ही चित्रण हो रहा है। उसमें भूत, प्रेत, पिशाच, शकुन, अपशकुनों के विश्वास के साथ साथ, अनेक रूढ़ियों, परम्पराओं, मान्यताओं आदि को भी स्थान मिला है। उसपर लोक भाषा, लोक छन्दों का भी प्रभाव देखा जा सकता है। उसके अधिकांश मिथ, प्रतीक, बिम्ब और उपमान लोक-जीवन से लिये गये हैं। उसमें लोक के पारिवारिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, धार्मिक - सांस्कृतिक जीवन तथा जीवन के विभिन्न उपकरणों को भी स्थान मिला है। हाँ, एक बात है कि इस कविता में लोक के आर्थिक तथा राजनीतिक जीवन की अभिव्यक्ति सर्वाधिक हुई है। और इसका कारण है स्वतन्त्रता के उपरान्त हमें हमकी टूटी हुई परम्परा का मिलना। वास्तव में अंग्रेजों ने आने से पूर्व देश का अधिकाधिक शोषण किया था जिससे उनके गमन के साथ ही देश का राजनीतिक ढाँचा भी चरमरा कर टूट गया। परिणामतः भारतीय लोक-जीवन स्वतन्त्रता के उपरान्त की छिन्न - भिन्न अर्थ व्यवस्था तथा नव निर्मित राजनीतिक व्यवस्था से अपना ताल - मेल नहीं बिठा सका। साथ ही इनमें अनेक दोष जो अंग्रेजी काल में ही उत्पन्न हो गए थे, अभी तक बने रहे। इनसे लोक के पारिवारिक, सामाजिक, धार्मिक - सांस्कृतिक जीवन पर भी प्रभाव पड़ा है और उनमें भी बिखराव आया है। जिसे स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कविता ने चित्रित किया है। दूसरी ओर स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कविता ने जीवन

के आक्रमण के उपरान्त महानगरीय जीवन से अपना मोह तोड़ा है तथा उसका रुझान ग्रामीण जीवन की ओर अधिक हुआ है। इस प्रकार इस कविता में जहाँ लोक - जीवन के वर्तमान दुख-दर्दों का चित्रण हुआ है, वहाँ लोक - जीवन में व्याप्त मस्ती, प्रेम, सौहार्द का भी चित्रण हुआ है। प्रकृति ने भी इस कविता को आकर्षित किया है और इस प्रकार निराशा के गर्त में डूबती हुई नागरिक बोध वाली अतिवैयक्तिक कविता की दिशा बदल गई है। उसमें निराशा के साथ - साथ आस्था और विश्वास के स्वर भी मिल गए हैं।

८- स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कविता में लोक - जीवन की अभिव्यक्ति दो स्तरों पर हुई है --- १- वस्तु के स्तर पर, २- शिल्प के स्तर पर। उसकी काव्य - वस्तु जहाँ लोक-जीवन से गृहीत है वहाँ उसका शिल्प भी लोक-जीवन से प्रभावित है। उसके अधिकांश उपमान, बिम्ब, प्रतीक आदि लोक-जीवन से ही ग्रहण किये गये हैं। उसकी भाषा तथा छन्दों पर भी लोक - जीवन में प्रचलित भाषा तथा छन्दों का प्रभाव है। उसकी कथन-भंगिमा भी वैसी ही सपाट है जैसी लोक - जीवन में कहीं और कभी भी देखने को मिलती है। इस प्रकार यह कविता अपने युगीन लोक-जीवन के सर्वाधिक निकट कविता है। इसमें लोक - जीवन की स्पष्ट, सशक्त, सार्थक और पूरी ईमानदारी के साथ अभिव्यक्ति हुई है।

इसका अर्थ यह नहीं है कि स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कविता लोक - जीवन का दर्पण है, जो ज्यों का त्यों उसे चित्रित कर देता है। वास्तव में कविता व्यक्ति (कवि) के द्वारा समाज की या लोक की अभिव्यक्ति है। अतः वर्तमान कविता में उसका रूप ज्यों का त्यों नहीं आया है। उसमें कवि की अपनी वैचारिकता भी मिल गई है। इसके

परिणामस्वरूप लोक-जीवन का जो रूप वर्तमान कविता में आया है वह यथार्थ लोक-जीवन से कुछ भिन्न हो गया है। वास्तविकता यह है कि स्वतन्त्रता के उपरान्त "पण्डितों द्वारा बाँधी गई" कविता अब अपने बन्धनों को तोड़ चुकी है और लोक में चलने वाली स्वच्छंद और मुक्त धारा से प्राण तत्त्व ग्रहण कर रही है।

परिशिष्ट - १

उपजीव्य ग्रन्थ

१- अजित कुमार — अकेले कंठ की पुकार, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९५८ ।

२- अजित कुमार — अंकित होने दो, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण १९६२ ।

३- अजित कुमार (सं०) — कविताएँ १९६५, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९६६ ।

४- अम्बाशंकर नागर — चाँद, चाँदनी और कैक्टस, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७१ ।

५- अज्ञेय — अरी ओ करुणा प्रभामय, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, १९५९ ।

६- अज्ञेय — आँगन के पार द्वार, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, १९६१ ।

७- अज्ञेय — इन्द्र धनु रौंदे हुए ये, सरस्वती प्रेस, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, १९५७ ।

८- अज्ञेय (सं०) — तार सप्तक, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, तृतीय संस्करण १९७० ।

९- अज्ञेय (सं०) — तीसरा सप्तक, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, तृतीय संस्करण, १९६७ ।

१०- अज्ञेय (सं०) — दूसरा सप्तक, प्रगति प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९५१ ।

११- अज्ञेय — बावरा अहेरी, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, द्वितीय संस्करण १९७२ ।

१२- आनन्द प्रकाश दीक्षित (सं०) — शिव मंगल सिंह " सुमन ", राजपाल एण्ड संज़, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७३ ।

१३- उदयशंकर भट्ट — पूर्वापर, आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली, प्रथम संस्करण १९६३ ।

१४- उमाकान्त मालवीय — मेंहदी और महावर, साहित्य भवन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण १९६३ ।

१५- ओम प्रभाकर — पुष्पचरित, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, प्रथम संस्करण १९७३ ।

१६- कीर्ति चौधरी — खुले हुए आसमान के नीचे, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण १९६८ ।

१७- केदारनाथ अग्रवाल — फूल नहीं रंग बोलते हैं, परिमल प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, १९६५ ।

१८- केदारनाथ सिंह — अभी बिल्कुल अभी, नया साहित्य प्रकाशन, प्रथम संस्करण, १९६० ।

१९- कैलाश वाजपेयी — तीसरा अंधेरा, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण १९७२ ।

२०- कैलाश वाजपेयी — देहान्त से हट कर, अक्षर प्रकाशन प्रा० लि०, दिल्ली, प्रथम संस्करण १९७४ ।

२१- कैलाश वाजपेयी — संक्रान्त, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण १९६४ ।

२२- गजानन माधव मुक्तिबोध — चाँद का मुँह टेढ़ा है, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, १९७१ ।

२३- गिरिजा कुमार माथुर — धूप के धान, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, तृतीय संस्करण, १९६६ ।

२४- गिरिजा कुमार माथुर — शिलापंख चमकीले, साहित्य भवन प्रा० लि०, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण १९६१ ।

२५- गोपाल प्रसाद व्यास — आरोगर, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९६८ ।

२६- गोस्वामी तुलसीदास — श्रीरामचरितमानस (गुटका) गीता प्रेस, गोरखपुर, २०२६ वि० ।

२७- चन्द्रदेव सिंह (सं०) — पाँच जोड़ बाँसुरी, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण १९६६ ।

२८- जगदीश गुप्त — शब्ददंश, भारती भण्डार, प्रयाग, प्रथम संस्करण, २०१६ वि० ।

२९- जगन्नाथ दास "रत्नाकर" (सं०) — बिहारी रत्नाकर, गंगा पुस्तक माला कार्यालय, लखनऊ, प्रथम संस्करण, १९८३ वि०।

३०- जगन्नाथ प्रसाद मिलिन्द — भूमि की अनुभूति, साहित्य प्रकाशन मन्दिर, ग्वालियर, प्रथम संस्करण १९५२ ।

३१- जयशंकर प्रसाद — कामायनी, भारती भण्डार, इलाहाबाद, नवम् संस्करण, २०१३ वि० ।

३२- दिनेश नन्दिनी — रति, राजपाल एण्ड सं०, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७२ ।

३३- धर्मवीर भारती — कनुप्रिया, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, चतुर्थ संस्करण १९७५ ।

३४- धूमिल — संसद से सड़क तक, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली प्रथम संस्करण, १९७२ ।

३५- नरेन्द्र शर्मा — उत्तरजय, रामचन्द्र एण्ड कम्पनी, दिल्ली, द्वितीय संस्करण, १९६६ ।

३६- नरेन्द्र शर्मा — द्रौपदी, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, तृतीय संस्करण, १९६८ ।

३७- नरेश मेहता — महाप्रस्थान, लोक भारती, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, १९७५ ।

३८- नरेश मेहता — मेरा समर्पित एकान्त, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९६२ ।

३९- नरेश मेहता — संशय की एक रात, पुस्तकायन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, १९६७ ।

४०- प्रणव कुमार बंद्योपाध्याय — मृत शिशुओं के लिये प्रार्थना, पाण्डुलिपि प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७३ ।

४१- प्रभाकर माचवे — अनुक्षण, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण १९५९ ।

४२- प्रेमी (सं०) — पुष्पांजलि, हिन्दी साहित्य संगम, हाथरस, प्रथम संस्करण १९६४ ।

४३- बच्चन — कटती प्रतिमाओं की आवाज़, राजपाल एण्ड संस, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९६७ ।

४४- बच्चन — जाल समेटा, राजपाल एण्ड संस, दिल्ली, प्रथम संस्करण १९७३ ।

४५- बालकृष्ण राव — आधुनिक कवि ।१३।, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, प्रथम संस्करण, १९६७ ।

४६- भवानी प्रसाद मिश्र — अँधेरी कविताएँ, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, १९६८ ।

४७- भवानी प्रसाद मिश्र — गांधी पंचशती, सरला प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण १९६९ ।

४८- भवानी प्रसाद मिश्र — बुनी हुई रस्सी, सरला प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७१ ।

४९- माखन लाल चतुर्वेदी — बिजुरी काजल आँज रही, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, १९६४ ।

५०- मार्कण्डेय सिंह "चिन्तामणि" — शकुन्तला, साहित्यालोचन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, १९७२ ।

५१- मैथिलीशरण गुप्त — द्वापर, साहित्य सदन, चिरगाँव, झाँसी,
सं० २०२७ वि० ।

५२- मैथिलीशरण गुप्त — साकेत, साहित्य सदन, चिरगाँव, झाँसी,

५३- रघुवीरशरण "मित्र" — भूमिजा, भारतीय प्रकाशन, मेरठ, पंचम्
संस्करण, १९७४ ।

५४- रघुवीर शरण "मित्र" — मानवेन्द्र, भारतीय साहित्य प्रकाशन, मेरठ,
प्रथम संस्करण, १९६५ ।

५५- रघुवीर सहाय — सीढ़ियों पर धूप में, भारतीय ज्ञानपीठ,
काशी, प्रथम संस्करण, १९६० ।

५६- रमाकान्त "कान्त" (सं०) — ५५ की श्रेष्ठ कविताएँ, नवसाहित्य प्रकाशन,
नई दिल्ली, प्रथम संस्करण १९५६ ।

५७- रमेश कुमार शर्मा (सं०) — एक अपरिचित आकाश, राधाकृष्ण प्रकाशन,
दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७३ ।

५८- रमेश रंजक — गीत विहग उतरा, आत्माराम एण्ड संस,
दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९६९ ।

५९- रमेश रंजक — हरापन नहीं टूटेगा, अनार प्रकाशन प्रा० लि०,
दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९६५ ।

६०- रवीन्द्र "भ्रमर" — रवीन्द्र भ्रमर के गीत, साहित्य भवन,
इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, १९६३ ।

६१- राजनाथ शर्मा — रैदास शब्द (व्याख्या सहित), महालक्ष्मी
प्रकाशन, आगरा, १९७५ ।

६२- राजीव सक्सेना — आत्मनिर्वासन तथा अन्य कविताएँ, राजकमल
प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९६६ ।

६३- रामगोपाल "परदेशी" (सं०) — नई धरती के नये स्वर, युवक प्रकाशन, आगरा,
प्रथम संस्करण, १९६२ ।

६४- रामधारी सिंह 'दिनकर' — उर्वशी, उदयाचल, राजेन्द्र नगर, पटना, पंचम संस्करण, १९७३।

६५- रामधारी सिंह 'दिनकर' — कुरुक्षेत्र, उदयाचल, राजेन्द्र नगर, पटना, २० वाँ संस्करण, १९७२।

६६- रामधारी सिंह 'दिनकर' — परशुराम की प्रतीक्षा, उदयाचल, राजेन्द्र नगर, पटना, तृतीय संस्करण, १९६६।

६७- लीलाधर जगूड़ी — नाटक जारी है, अक्षर प्रकाशन प्रा० लि०, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७२।

६८- वासुदेव शरण अग्रवाल — पद्मावत (संजीवनी टीका) साहित्य सदन, चिरगाँव, झाँसी, द्वितीय संस्करण २०१८ वि०।

६९- विद्यासागर वर्मा — कौवे के पाँव, विद्यालय प्रकाशन, हरदोई, प्रथम संस्करण, १९७१।

७०- वीरेन्द्र कुमार जैन — शून्य पुरुष और वस्तुएँ, भारतीय ज्ञानपीठ काशी, १९७२ प्र० सं०।

७१- वीरेन्द्र श्रीवास्तव (सं०) — साम्प्रतिकी, बिहार ग्रन्थ कुटीर, पटना, प्रथम संस्करण १९६४।

७२- शकुन्त माथुर — चाँदनी चूनर, साहित्य भवन प्रा० लि०, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, १९६०।

७३- शमशेर बहादुर सिंह — कुछ और कविताएँ, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण १९६६।

७४- शिवदान सिंह चौहान (सं०) — ताज की छाया में, सहकारी प्रकाशन, आगरा, प्रथम संस्करण, १९५६।

७५- शिवमंगल सिंह "सुमन" — मिट्टी की बारात, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण ।

७६- शिशु रश्मि — नारों के अन्धे शहर में, हेमन्त प्रकाशन, अम्बाला कैन्ट, प्रथम संस्करण, १९६७ ।

७७- सर्वेश्वर दयाल सक्सेना — काठ की घण्टियाँ, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण १९५९ ।

७८- सव्यसाची — सुबह होने से पहले, युगान्तर प्रकाशन, हैम्पियर, मथुरा, १९७१ ।

७९- सुमित्रानन्दन पन्त — उत्तरा, भारती भण्डार, प्रयाग, द्वितीय संस्करण २०१२ वि० ।

८०- सुमित्रानंदन पन्त — ग्राम्या, भारती भण्डार, प्रयाग, षष्ठम् संस्करण, २०२१ वि० ।

८१- सुमित्रानंदन पन्त — पल्लविनी, भारती भण्डार, प्रयाग, द्वितीय संस्करण, २००१ वि० ।

८२- सुरेन्द्र तिवारी — सुलगते हुए, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७१ ।

८३- सूर्यकान्त त्रिपाठी "निराला" — अनामिका, भारती भण्डार, इलाहाबाद, द्वितीय संस्करण २००५ वि० ।

८४- सूर्यकान्त त्रिपाठी "निराला" — अपरा, भारती भण्डार, इलाहाबाद, षष्ठम् संस्करण, १९६५ ।

८५- सूर्यकान्त त्रिपाठी "निराला" — बाँकी, साहित्य सदन, चिरगाँव, झाँसी, २०२६ वि० ।

परिशिष्ट - २

उपस्कारक ग्रन्थ

हिन्दी
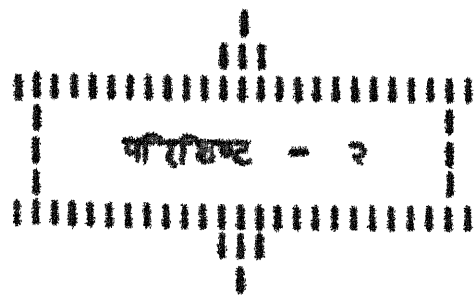
१- इन्द्रनाथ मदान — आधुनिक कविता का मूल्यांकन, हिन्दी भवन, जालन्धर, प्र० संस्करण १९६२ ।

२- कान्ति कुमार (डा०) — नयी कविता, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल, प्रथम संस्करण, १९७२ ।

३- कृष्ण बिहारी सहल (सं०) — लालबहादुर शास्त्री : व्यक्तित्व और विचार, चिन्मय प्रकाशन, जयपुर, प्रथम संस्करण, १९६७ ।

४- जगदीश गुप्त (डा०) — नयी कविता : स्वरूप और समस्याएँ, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, १९६९ ।

५- धीरेन्द्र वर्मा (सं०) — हिन्दी साहित्य कोश, ज्ञानमण्डल, वाराणसी, द्वितीय संस्करण २०२० वि० ।

६- नामवर सिंह — इतिहास और आलोचना, वसु साहित्य प्रकाशन, बनारस, प्रथम संस्करण, १९५६ ।

७- नामवर सिंह — कविता के नये प्रतिमान, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९६८ ।

८- प्रभुदयाल मीतल — ब्रज के धर्म संप्रदायों का इतिहास, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, प्रथम संस्करण २०२५ वि० ।

९- रवीन्द्र भ्रमर — हिन्दी भक्ति साहित्य में लोक-तत्त्व, भारती साहित्य मन्दिर, दिल्ली, प्रथम संस्करण १९६५ ।

१०– रामगोपाल सिंह चौहान (डा०) — स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी काव्य, विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा, प्रथम संस्करण, १९६५ ।

११– रामचन्द्र शुक्ल — चिन्तामणि, भाग – १, इण्डियन प्रेस (पब्लिकेशन्स) प्रा० लि०, प्रयाग, १९७१ ।

१२– रामचन्द्र शुक्ल — हिन्दी साहित्य का इतिहास, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, १३ वाँ संस्करण, २०१८ वि० ।

१३– रामदरश मिश्र — हिन्दी कविता : तीन दशक, ज्ञान भारती प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९६९

१४– रेनेवेलेक तथा ऑस्टिन वारेन — साहित्य सिद्धान्त, अनु० बी० एस० पालीवाल, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद।

१५– लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय (डा०) — द्वितीय महायुद्धोत्तर हिन्दी साहित्य का इतिहास, राजपाल एण्ड सं० दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७३ ।

१६– वासुदेव शरण अग्रवाल — पाणिनी कालीन भारतवर्ष, मोतीलाल बनारसी दास, बनारस, २०१२ वि० ।

१७– वासुदेवशरण अग्रवाल — भारत की मौलिक एकता, भारती भण्डार, प्रयाग, २०११ वि० ।

१८– वासुदेव शरण अग्रवाल — वैदिक साहित्य और संस्कृति, शारदा मन्दिर, काशी, १९५५ ।

१९– शान्ति स्वरूप गुप्त — पाश्चात्य काव्यशास्त्र, अशोक प्रकाशन, दिल्ली, तृतीय संस्करण, १९७० ।

२०- शिवशंकर मिश्र (पं०) — भारत का धार्मिक इतिहास, आर० डी० बाम्बी एण्ड कं०, कलकत्ता, प्रथम संस्करण, १९८० वि० ।

२१- डा० सत्येन्द्र — मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य का लोक तात्विक अध्ययन, विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा, प्रथम संस्करण, १९६० ।

२२- सत्येन्द्र (डा०) — लोक साहित्य विज्ञान, शिवलाल एण्ड कं०, आगरा, १९६२ ।

२३- छगुलाल (डा०) — सूर सागर में लोक-जीवन, हिन्दी साहित्य संसार, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९६७ ।

<u>संस्कृत</u>

२४- आनन्दवर्धनाचार्य — ध्वन्यालोक (हिन्दी व्याख्या सहित), चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, प्रथम संस्करण, २०२१ वि० ।

२५- कालिदास — अभिज्ञान शाकुन्तलम् (व्याख्या सहित), शान बुक डिपो, मेरठ, प्रथम संस्करण ।

२६- महर्षि वाल्मीकि — श्रीवाल्मीकीय रामायण (भाषाटीकोपेत) खेमराज श्री कृष्णदास वेंकटेश्वर प्रेस, मुम्बई, २००८ वि० ।

२७- — ऋग्वेद संहिता, अजमेरीय वैदिक यन्त्रालये मुद्रिता, १९५७ वि० ।

२८. महर्षि व्यास — महाभारत (हिन्दी अनुवाद), गीता प्रेस, गोरखपुर, चतुर्थ संस्करण, २०३० वि० ।

२९. महर्षि व्यास — श्रीमद्भगवद्गीता (गुटका), गीता प्रेस, गोरखपुर, २०३५ वि० ।

३०. — स्मृति संदर्भ, गुरुमण्डल प्रकाशन, कलकत्ता, प्रथम संस्करण १९५२ ।

अंग्रेज़ी

31. Bahadurmal — A Story of Indian Culture Vishwashvaranand Vedic Research Institute, Sadhu Ashram, Hoshiarpur (India), First Edition, 1956.

32. Charles Chadwick— Symbolism, Methuen & Co., Ltd. 11, New Fetter Lane, London Ec. 4. Reprinted 1973.

33. Dubois : Abbe J.A.— Hindu Manners, Customs and Ceremonies, Oxford University Press, Amen House, London, EC.4 Reprinted 1959.

34. Emory S. Bogardus — The Development of Social Thought, Peffer and Simons Pvt. Ltd. Bombay - 1, IV edition,

35. Joseph Jastrow — Freud : His dream and sex theories . (?)

36. Mackenzie : D.A. — The Migration of Symbols and their relation to belief and customs (?).

37. Oakley: Rev. E.S. & Tara Dutt Gairola — Himaliyan Folk-lore, Superintendent Printing and Stationery, U.P. Allahabad, 1935.

38. Richard Harter Fogle — The Imagery of Keats and Shelly, The University of North Carolina Press, Chapel Hill, U.S.A.

39. R.L.Brett — Fancy and Imagination, Methuen & Co., Ltd., 11, New Fetter Lane, London EC 4, Printed 1973.

40. — Jawahar Lal Nehru's speeches, Vol. I, Publication Division, Ministry of Information and Broadcasting, Govt. of India, Reprinted, 1963.

41. — Encyclopaedia Britannica, Vol. IX, Encyclopaedia Britannica Ltd., London, 1768.

पत्रिकाएं

१- आलोचना : अक्टूबर १९५२, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली ।

२- आलोचना : मार्च १९५३, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली ।

३- प्रकाशन समाचार १९५६ : राजकमल प्रकाशन, दिल्ली ।

४- माध्यम : जनवरी १९६५, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग ।

५- लेखक और राज्य (परिमल परिगोष्ठी) भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, मई १९५७ ।

६- सम्मेलन पत्रिका (लोक-संस्कृति अंक) सं० २०१० वि०, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, इलाहाबाद ।

—o—